

अश्वघोष-कृत

बुद्धचरित

सम्पादक और अनुवादक सूर्यनारायण चौधरी

अश्वघोष-कृत

बुद्धचरित

सर्ग १-१४ सानुवाद : सर्ग १५-१८ अनुवाद मात्र

सम्पादक और अनुवादक
सूर्यनारायण चौधरी, एम॰ ए॰

मोतीलाल बनारसीदास
पब्लिशिंग हाउस • दिल्ली
Email: mlbd@mlbd.in • Website: www.mlbd.in

पंचम पुनर्मुद्रण : दिल्ली, 2021

चतुर्थ संस्करण : दिल्ली, 1985
तृतीय संस्करण : वाराणसी, 1955

ISBN: 978-93-90064-19-9

मुद्रक एवं प्रकाशक
राजेंद्र प्रकाश जैन के *द्वारा*
मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशिंग हाउस
ए-44, नारायणा इंडस्ट्रियल एरिया, फेज-1,
नई दिल्ली-110 028 (भारत)
Email: mlbd@mlbd.in
Website: www.mlbd.in

विषय-सूची

निवेदन

जिस पवित्र इक्ष्वाकु-वंश में दाशरथी राम का जन्म हुआ था, उसी में शौद्धोदनि सिद्धार्थ भी पैदा हुए थे। राम प्राग्-ऐतिहासिक काल के हैं और सिद्धार्थ (= बुद्ध) आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले हुए थे। हजारों वर्षों से करोड़ों व्यक्ति प्रतिदिन राम और बुद्ध को श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हुए अपने को पवित्र करते आ रहे हैं। राम ने कौटुम्बिक जीवन और सुराज्य का आदर्श उपस्थित किया, जबकि वुद्ध ने कुटुम्ब एवं राज-पाटको छोड़कर सत्य और सन्मार्ग का स्वयं दर्शन किया और लोगों को भी उसका उपदेश दिया।

वुद्ध के परम भक्त साकेत-निवासी महाकवि अश्वघोष ने "बुद्धचरित" नामक वुद्ध का जीवनचरित् लिखा है। "बुद्धचरित" एक उत्तम काव्य है, कलाकार की कृति है। इससे भी बढ़कर इसमें सन्मार्ग से भटके हुए लोगों के लिए कल्याणकारी सन्देश है। कवि के शब्दों में ही "मनुष्यों के हित व सुख के लिए, न कि विद्वत्ता या काव्य-कौशल दिखाने के लिए यह काव्य रचा गया"। वास्तव मे संस्कृत या पालि में बुद्ध की ऐसी सुन्दर जीवनी दूसरी देखने में नहीं आती।

अवश्य ही हमने "बुद्धचरित" की उपेक्षा की है। यही कारण है कि "बुद्धचरित हमें अधूरा ही मिला और इसकी टीका एक भी उपलब्ध नहीं है। राष्ट्र-भाषा हिन्दी में इसका कोई अनुवाद न देखकर, मैंने यह अनुवाद करने की धृष्टता की हैं, जिसके लिए, आशा है, उदार विद्वान् पाठक मुझे क्षमा करेंगे।

अनुवाद करने में डा० जॉन्स्टन-कृत अंग्रेजी अनुवाद से मुझे बड़ी सहायता मिली है। पहले और चौदहवें सर्ग के अप्राप्त १०० श्लोकों के हिन्दी-अनुवादका आधार है डा० जॉन्स्टनका अंग्रेजी अनुवाद, जो कि तिब्बती अनुवादके आधारपर किया गया है और जो "बुद्धचरित" के द्वितीय भागमें पञ्जाब विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित हुआ है।

बुद्धचरित को उत्तरार्ध, जिसमें बुद्ध का परवर्ती जीवन-चरित—धर्मोपदेश एव महापरिनिर्वाण—चित्रित है, नष्ट हो गया। किंतु स्वतंत्र चीनी अनुवाद और अविकल तिब्बती अनुवाद में सम्पूर्ण बुद्धचरित सुरक्षित है। आक्सफोर्ड विश्व

विद्यालय के संस्कृत-अध्यापक डा० जॉन्स्टन ने तिब्बती अनुवाद के आधार पर चीनी-अनुवाद के प्रकाश में उत्तरार्ध का अँगरेजी-अनुवाद किया है। अब इस अँगरेजी-अनुवादके आधार पर किया गया हिन्दी-अनुवाद पाठकों के सामने उपस्थित करते हुए मुझे दुःख भी है और आनन्द भी। दुःख इसलिए कि तिब्बत के पड़ोस में रहकर भी, तिब्बत के साथ प्राचीन काल से ही हमारा घनिष्ठ सम्बन्ध—सांस्कृतिक और व्यापारिक—रहते हुए भी हम सीधे तिब्बती से अनुवाद न कर सके। आनन्द इसलिए कि उत्तर बुद्धचरित, जो हमारे यहाँ से लुप्त होकर सदियों तक तिब्बती रूपान्तरमें वर्तमान रहा, अब इतने घूम-फिर के बाद, निस्सन्देह ही बहुत-कुछ परिवर्तनों के साथ, संस्कृत की उत्तराधिकारिणी हिन्दी में वापस लाया गया और सम्पूर्ण बुद्धचरित हिन्दी में उपलब्ध हो गया।

डा० जॉन्स्टन के अनुसार तिब्बती-अनुवाद में बहुत-कुछ त्रुटियाँ हैं, अनुवाद जहाँ-तहाँ खण्डित है तथा अठारहवें और छब्बीसवें सर्ग के कुछ दार्शनिक अंशों का अनुवाद दुरूह है। चीनी अनुवादसे, जिसका अन्तिम भाग (सर्ग २२–२८) मूल के अधिक निकट है, सहायता लेने पर भी, कहीं-कहीं, खास कर कुछ दार्शनिक युक्तियों का अनुवाद करने में तथा इक्कीसवें सर्ग के कुछ नामों का तादात्म्य करने में उनकी कठिनाइयाँ हल नहीं हो सकीं। किन्तु प्रायः प्रत्येक श्लोक का भावार्थ, डा० जॉन्स्टन के अनुसार, स्पष्ट और सही है। उत्तरार्ध के प्रथम छः सर्गों (१५–२०) का विषय निदान-कथा[1] के अनुसार है, इक्कीसवाँ सर्ग बुद्ध की एक प्रकार की दिग्विजय है, और अन्तिम छः सर्गों (२२–२८) का विषय महापरिनिर्वाण सूत्र[2] के अनुसार है।

हिन्दी-अनुवाद अँगरेजी-अनुवाद के अत्यन्त निकट है और जहाँ-तहाँ कुछ हद तक स्वतन्त्र भी। दो-चार श्लोकों और दो-चार वाक्यांशों का, जिनका अंग्रेजी-अनुवाद अनिश्चित और सन्देहजनक है, हिन्दी-अनुवाद देने की अपेक्षा न देना ही अच्छा समझकर छोड़ दिया गया है। इतने घूम-फिरके बाद हिन्दी में अनूदित बुद्धचरित का उत्तरार्ध, जहाँ तक मैं समझता हूँ, कुछ ही स्थलों को छोड़कर अश्वघोष-कृत मूल से दूर नहीं है।

---

१ आनन्दजी द्वारा अनूदित जातक प्रथम खण्ड में 'निदान-कथा' का अनुवाद है।

२ महापरिनिर्वाण सूत्र सानुवाद भिक्तिमाजी ने सारनाथ से प्रकाशित किया है; इस सूत्र का अनुवाद राहुलजी-कृत बुद्धचर्या में भी आ गया है।

पारिभाषिक शब्दों के हिन्दी रूपान्तर करने में भदन्त जगदीश काश्यपजी से मुझे बड़ी सहायता मिली है। मेरे अनुवाद के कुछ अंश 'धर्मदूत', 'जीवनसहित्य', 'आरती', 'प्राचीन भारत' तथा 'विशाल भारत' में प्रकाशित हैं। एतदर्थं इन पत्रोंके सम्पादकों का मैं कृतज्ञ हूं। कलकत्ताके इण्डियन रिसर्च इन्स्टिट्यूट के प्रधान मन्त्री श्रीयुत सतीशचन्द्र शील ने अपने पुस्तकालय से 'एक्टा ओरियण्टेलिया' नामक पत्रिका (भाग १५, १९३७), जिस में बुद्धचरित उत्तरार्ध का अँगरेजी-अनुवाद प्रकाशित हुआ है, अनुवादकार्य के लिए प्रदान कर मुझे अनुगृहीत किया है।

सूर्यनारायण चौधरी

चतुर्थ संस्करण

१९४२ में बुद्धचरित का प्रथम भाग सर्ग १–१४ प्रकाशित हुआ था तथा १९४४ में द्वितीय भाग सर्ग १५–२८। प्रथम भाग का तृतीय संस्करण १९५५ में छपा तथा द्वितीय भाग का द्वितीय संस्करण १९५५ में। दो दशकों से भी अधिक समय तक यह पुस्तक अप्राप्य रही, जिससे अनेक पाठकों और शोध-कर्ताओं को निराशा और असुविधा हुई। हर्ष का विषय है कि वर्तमान प्रकाशक के द्वारा यह पुस्तक पुनः प्रकाशित की जा रही है। इस बार दोनों भागों की समस्त सामग्री सुव्यवस्थित रूप में एक ही खण्ड में समावेशित है।

किसी भी भारतीय भाषा में बुद्धचरित का यह प्रथम अनुवाद है। मैंने बड़े परिश्रम और सावधानी से अनुवाद किया है। पुस्तक की किसी भी त्रुटि की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट होने पर मैं उसे आगामी संस्करण में सुधारने की चेष्टा करूँगा।

मार्च १९८५

सूर्यनारायण चौधरी
संस्कृत-भवन, पूर्णिया

तृतीय संस्करण

मैं संस्कृत साहित्य और बौद्धधर्मका विद्वान् तो नहीं हूँ; किन्तु संस्कृत साहित्यके लिए मेरे हृदयमें अनन्य अनुराग है और बौद्धधर्मके लिए अत्यन्त आदर। इस अनुपम मनोहर काव्यके माध्यमसे वर्णित बुद्धके पावन चरितके लिए मेरे चित्तमें अगाध श्रद्धा है।

बुद्धचरितकी प्रशंसामें चीनी यात्री इत्सिगने जो उद्गार* व्यक्त किया है उसमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं है। विगत पन्द्रह वर्षोंमें मैंने बार-बार इस काव्य-चरितको पढ़ा है और अनुभव किया है कि इसमें सौन्दर्य, संगीत और पावनत्व है। इसे बार-बार पढ़कर भी पुनः-पुनः पढ़नेकी इच्छा बनी ही रहती है।

सम्पूर्ण पुस्तकका सावधानीसे अवलोकन कर मैंने अनुवाद और अन्य स्थलोंमें कुछ परिवर्तन और संशोधन किया है। यदि इस कार्यके लिए कुछ अधिक समय दे पाता तो इसमें कुछ और भी सुधार हो पाता। अनेक स्थलोंपर मैं इस द्विविधासे मुक्त नहीं हो सका कि अनुवाद को अविकल और शाब्दिक ही रहने दिया जाय या उसमें कुछ परिवर्तन कर उसे सरल और भावात्मक बनाया जाय।

"अश्वघोष और उसकी कृतियाँ" शीर्षक भूमिकामें कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया गया है। सौन्दरनन्दकी भूमिका बुद्धचरितकी भूमिकाकी अपेक्षा विस्तृत है और उसका पूरक भी। अतः विशेष जानकारीके लिए उसे भी देखना चाहिए।

पुस्तकके अन्तमें शब्दानुक्रमणी दी गई है। इसमें अप्रचलित अल्प-प्रचलित एवं व्याकरण-विरुद्ध शब्दोंके अतिरिक्त सांस्कृतिक बातोंपर प्रकाश डालनेवाले शब्दोंका समावेश है। विद्यार्थियोंके लिए उपयोगी लुङ् व लिट् लकारके अनेक प्रयोग एवं सन्नन्त तथा क्सु-प्रत्यान्त शब्द भी अनुक्रमणीमें समाविष्ट हैं। अश्वघोषके प्रयुक्त कुछ साधारण शब्द भी इस सूचीमें रखे गये

---

*आगे। "अश्वघोष और उसकी कृतियाँ शीर्षक" भूमिका में उद्धृत।

हैं, जो प्रथम सर्गके पुनरुद्धार-कार्यमें उपयुक्त हुए हैं या उसके लिए उपयोगी समझे गये हैं ।

प्रथम सर्गके आरम्भके अप्राप्त सात श्लोकोंमेंसे प्रथम श्लोकका पूरा तथा दूसरे श्लोकसे सातवें श्लोक तकका आंशिक मूलोद्धार जौन्स्टन-कृत है । पिछले छः श्लोकोंके अवशिष्ट अंशोंकी पूर्ति मैंने कर दी है। प्रथम सर्गके अप्राप्त श्लोक २५ से ४० ग तककी रचना मैंने अनुवादके आधारपर की है। मैंने इन श्लोकोंका मूलोद्धार तो नहीं किया है, किन्तु रिक्त स्थानोंकी पूर्तिमात्र कर दी है। सम्भव है कुछ अंशोंकी रचना बहुत-कुछ मूलके समान भी हुई हो।

इस संस्करणमें एक परिशिष्ट भी जोड़ा गया है, जिसमें कई उपयोगी टिप्पणियाँ और पाठान्तर हैं।

दिसम्बर
१९५४ ई०

सूर्यनारायण चौधरी

अश्वघोष और उसकी कृतियाँ

संस्कृतके अधिकांश कवियोंकी जीवनीके बारेमें हम बहुत कम जानते हैं। उन्हींमेंसे अश्वघोष भी एक है। इस कविका समय निरूपण करनेमें निम्न-लिखित बातें विचारणीय हैं :—

१—बुद्धचरितका चीनी अनुवाद पाँचवीं सदी के आरम्भ में हुआ था; अतः इसके पहले अश्वघोषने बुद्धचरित लिखा।

२—बुद्धचरितके अन्तिम सर्ग (२८।६३-६७) में अशोकका जो उल्लेख है उससे निश्चित है कि अश्वघोष अशोक (२७३-२३२ ई० पू०) के पीछे हुआ।

३—अश्वघोष और कालिदासकी शैलीसे प्रमाणित होता है कि अश्वघोष कालिदाससे शताब्दियों पूर्व हुआ था। साधारणतः कालिदास गुप्तकालका बताया जाता है।

४—चीनी परम्परागत कथाओंके अनुसार अश्वघोष कनिष्कका समकालीन और अभिधर्मकी व्याख्या 'विभाषा' का लेखक बताया जाता है। कनिष्कके राज्य-कालमें विभाषाकी रचना हुई थी, ऐसा कहा जाता है।

५—अश्वघोष-कृत शारिपुत्रप्रकरणकी पाण्डुलिपिके हस्त-लेख या लिपि को देखनेसे पता चलता है कि यह कनिष्क या हुविष्कके समयकी है—प्रो० ल्युडर्स (Lüders)।

६—"व्यवसायद्वितीयोऽथ······सोऽश्वत्थमूलं प्रययौ"—बु० च० बारह ११५। नामसङ्गीतिकी व्याख्यामें मातृचेट्का यह वाक्य सुरक्षित है—"व्यव-साय-द्वितीयेन प्राप्तं पदमनुत्तरम्।" मातृचेट् द्वारा किया गया 'व्यवसाय-द्वितीय' पदका प्रयोग अच्छा नहीं है, क्योंकि उत्तम पद (= बुद्धत्व) प्राप्त करनेमें साथीकी जरूरत नहीं है। संभवतः मातृचेट्ने अश्वघोषका अनुकरण किया है। मातृचेट्-कृत 'शतपञ्चाशतिक' की शैली को देखते हुए भी यह कहा जाता है कि वह अश्वघोषकी शैलीसे पीछेकी है। मातृचेट्ने कनिष्कको

एक पत्र लिखा था। अतः मातृचेट् कनिष्कका समकालीन था और अश्वघोष कनिष्कसे पहले हुआ था—डा० जौन्स्टन।

उपर्युक्त बातोंपर विचार कर हम कह सकते हैं कि अश्वघोष कनिष्कका समकालीन था या उससे कुछ ही पूर्व हुआ था। कठिनाई तो यह है कि कनिष्कका समय भी निश्चित नहीं। बहुतसे लोग उसका समय प्रथम शताब्दीका अन्तिम चरण बताते हैं और द्वितीय शताब्दीके दूसरे चरणके बाद उसका समय कोई नहीं बताता। डा० जौन्स्टनका कहना है कि ५० ई० पू० और १०० ई० के बीच उस कविका प्रादुर्भाव हुआ था। आज १९४२ ई० में हम कह सकते हैं कि अश्वघोष आजसे प्रायः दो सहस्र वर्ष पूर्व हुआ था।

अश्वघोष सुवर्णाक्षीका पुत्र और साकेत-निवासी था* । उसका जन्म ब्राह्मण-कुलमें हुआ था और ब्राह्मण-धर्मकी ही शिक्षा-दीक्षा उसे मिली थी। उसके ग्रन्थोंको पढ़कर हम कह सकते हैं कि उसने हिन्दू धर्म-ग्रन्थों और शास्त्रोंका अवश्य अध्ययन किया होगा। बौद्ध-धर्मके गुणोंसे आकृष्ट होकर वह बौद्ध हो गया। स्वयं बौद्ध होकर ही वह सन्तुष्ट नहीं रहा; बल्कि उसका उपदेशक और प्रचारक भी हुआ। इस कामके लिए उसने काव्य और सङ्गीत का सहारा लिया था। उसके ग्रन्थ बौद्ध-धर्मके सुन्दर उपदेशोंसे भरे हैं और उनमेंसे कइयोंका मुख्य विषय तो धर्म-दीक्षा ही है। कहा जाता है कि गायकों और गायिकाओंकी टोली बनाकर बाजेके साथ जीवनकी अनित्यताके मनोहर गीत गा-गाकर वह लोगोंको अपने धर्मकी ओर आकृष्ट किया करता था। चीनी तीर्थ-यात्री इत्सिङ्ग, जिसने ६७१ ई० से ६९५ ई० तक भारत-भ्रमण किया था, बतलाता है कि अश्वघोष बौद्ध धर्मका प्रबल समर्थक था और उस समयके बौद्ध मठोंमें उसकी रचनाओंका गान हुआ करता था। 'नागार्जुन', 'अश्वघोष' और 'देव' को एक श्रेणीमें रखते हुए उसने यह भी कहा है कि ऐसे पुरुष प्रत्येक पीढ़ीमें एक या दो ही होते हैं। हुएनसाङ्गके अनुसार अश्वघोष, देव, नागार्जुन और कुमारलब्ध (= कुमारलात) चार सूर्य हैं, जिन्होंने विश्व को प्रकाशित किया था।

---

*"आर्यसुवर्णाक्षीपुत्रस्य साकेतकस्य भिक्षोराचार्यस्य भदन्ताश्वघोषस्य महाकवेर्महावादिनः कृतिरियम्"—कवि-कृत सौन्दरनन्दका अन्तिम वाक्य।

बौद्ध भिक्षु होनेके सिवा वह वाल्मीकि और कालिदासकी कोटिका महाकवि था। काव्य-विकासके क्रममें वह वाल्मीकिके बाद और कालिदासके पहले आता है। काव्यमें जिस तरह वह वाल्मीकिका ऋणी और उत्तराधिकारी था वैसे ही कालिदास भी उसका ऋणी था। बौद्ध कवि होनेके ही कारण वह भारतमें सदियों तक अज्ञात-सा रहा। गत कई दशकोंमें ही उसकी अधिकांश कृतियाँ खोज निकाली गई हैं, जिनमेंसे बहुत-सी, हमारे दुर्भाग्य-वश, खण्डित ही मिलीं।

सूत्रालंकार :—

इसका मूल संस्कृत आज उपलब्ध नहीं है। ४०५ ई० में कुमारजीवने इसका चीनी भाषामें अनुवाद किया था। यह ग्रन्थ तत्कालीन पाली-जातकोंसे ली गई सुन्दर कथाओंका संग्रह है और बौद्ध धर्मके प्रचारका साधन है। इत्सिंगने भी सातवीं सदीके उत्तरार्द्धमें लिखे गये अपने यात्रा-विवरणमें अश्वघोष-प्रणीत सूत्रालङ्कारका उल्लेख किया है। आगे चलकर न मालूम कब मूल-ग्रन्थका लोप हो गया। हूबरने इसके चीनी भाषान्तरका फ्रेंच अनुवाद (पेरिस १९०८ में) किया है।

मध्य एशियामें ल्युडर्स-द्वारा प्राप्त कुमारलातकी खण्डित कल्पना-मण्डितिका दृष्टान्तपंक्ति १९२६ ई० में प्रकाशित हुई। तबसे उस पुस्तक और सूत्रालङ्कारके प्रणेतृत्व और तादात्म्यके बारेमें भिन्न-भिन्न मत प्रतिपादित हुए हैं। मतान्तरोंका प्रधान कारण है इन दोनों ग्रन्थोंकी कथाओंका एक-सा होना। यहाँ इन सभी मतान्तरोंका उल्लेख और विवेचन न कर मैं केवल निम्न-लिखित मत उद्धृत करता हूँ—"कल्पनामण्डितिका दृष्टान्तपंक्ति और सूत्रालङ्कार एक नहीं हैं। पहली दूसरेका अनुकरण है, जो सौत्रान्तिकोंके उपयोगके लिए किया गया था। कुमारजीव-द्वारा अनूदित सूत्रालङ्कारका प्रणेता अश्वघोष है और क० द० का प्रणेता कुमारलात है।"

महायानश्रद्धोत्पादः—

महायान सम्प्रदायका एक दार्शनिक ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ केवल दो चीनी संस्करणोंमें उपलब्ध है; इस ग्रन्थका प्रणेतृत्व विवादास्पद है। ह्युएनसांगकी जीवनीमें इसका प्रणेता प्रसिद्ध अश्वघोष बताया गया है। किसी का कहना है

कि कवि अश्वघोष दार्शनिक अश्वघोषसे भिन्न है या यह किसी तीसरेका ही बनाया हुआ है और अश्वघोषकी प्रसिद्धिके ही कारण उसपर इसका प्रणेतृत्व आरोपित किया गया है। कुछ जापानी विद्वानोंके अनुसार यह संस्कृत-ग्रन्थ नहीं, वरन् चीनी ग्रन्थ है। जापानके स्कूलों और मठोंमें इसका खूब प्रचार है।

वज्र-सूचीः—

यह पुस्तक वज्रकी सूईकी तरह वर्ण-व्यवस्थाके समर्थकोंको चुभती है। इसमें श्रुति, स्मृति और महाभारतके उद्धरणोंसे ही वर्ण-व्यवस्थाकी कठोर आलोचना की गई है। "दुःख-सुख, जीवन-प्रज्ञा, व्यवसाय-व्यापार, जन्म-मरण, भय-काममें सब श्रेणीके लोग बराबर हैं।" इस तरह इस पुस्तकमें सभी मानव-श्रेणियोंकी जो समानता प्रतिपादित की गई है, इससे इस पुस्तकके यूरोपीय अनुवादक और सम्पादक मुग्ध हैं। इसके चीनी अनुवादकके अनुसार मूल-ग्रन्थका लेखक धर्मकीर्ति है।

गण्डीस्तोत्र-गाथाः—

यह एक सुन्दर गेय कविता है; बुद्ध और संघकी स्तुति है। इसमें केवल २९ पद्य हैं। अधिकांश स्रग्धरा छन्द में हैं। एक यूरोपीय विद्वान्ने इसकी चीनी प्रतिलिपिके आधापर फिर इसे मूल संस्कृतमें लिखा है।

राष्ट्रपाल :—

स्वर्गीय सिलवाँ लेवीके अनुसार अश्वघोष शायद एक गेय नाटकका भी लेखक है। इसमें राष्ट्रपालकी कथा कही गई है।

शारिपुत्रप्रकरण आदि तीन नाटक :—

अत्यन्त प्राचीन समयमें ताल-पत्रपर लिखित तीन नाटकोंके अवशेष प्राप्त हुए हैं। एकके अन्तिम वाक्यसे इसका नाम, प्रणेताका नाम और अङ्क-संख्या स्पष्ट हैं। ग्रन्थका नाम शारिपुत्रप्रकरण या शारद्वतीपुत्रप्रकरण है, प्रणेता है सुवर्णाक्षीका पुत्र अश्वघोष और अङ्कोंकी संख्या नौ है। शा० प्र० में उन घटनाओंका वर्णन है, जिनके परिणामस्वरूप मौद्गल्यायन और शारिपुत्र बुद्धद्वारा बौद्ध बनाये जाते हैं। अश्वजित्से मिलनेके बाद शारिपुत्र अपने मित्र विदूषकसे बुद्धके उपदेशक होनेके अधिकारके बारेमें बहस करता है। विदूषक कहता है कि शारिपुत्र-सरीखे ब्राह्मणको क्षत्रियका उपदेश ग्रहण नहीं करना चाहिए।

'किन्तु जिस तरह जलसे ताप शान्त होता है उसी तरह नीच जातिके भी वैद्य-द्वारा दी गई दवा बीमारीके लिए हितकर ही होती है', यह कहकर शारिपुत्र अपने मित्रकी बात काट देता है। मौद्गल्यायन शारिपुत्रसे मिलता है और उससे उसकी प्रसन्नताका कारण जानता है। दोनों बुद्धके पास जाते हैं। वह उनका सत्कार करते हैं और उनसे भावी ज्ञान-आदिके बारे में भविष्यद्वाणी करते हैं। प्रकरणके अन्तमें शारिपुत्र और बुद्धके बीच दार्शनिक वार्तालाप होता है। दोनों शिष्योंकी प्रशंसा कर बुद्ध भरत-वाक्य उच्चारण करते हैं।

रूपक अर्थात् ड्रामाके दस भेद हैं, उनमेंसे एक प्रकरण है। शारिपुत्रप्रकरण अधिकांश बातोंमें नाट्य-शास्त्रके और कुछमें व्यवहारके अनुकूल है। इस प्रकरणमें नौ अङ्क हैं; नायक धीर और प्रशान्त विप्र है; नायिका कुलजा स्त्री या वेश्या है, पता नहीं; कवि-कल्पना-द्वारा सच्ची घटना में परिवर्तन किया गया है:—ये बातें शास्त्रसम्मत हैं। अङ्कोंके नाम नहीं हैं, भरत-वाक्यके पहले 'अतः परमपि प्रियमस्ति' नहीं है और नायकके मुखसे भरत-वाक्यका उच्चारण नहीं हुआ—ये बातें व्यवहार-सम्मत हैं। सर्वज्ञ बुद्धके रहते हुए किसी औरके मुखसे भरत-वाक्यका उच्चारण उचित भी नहीं होता। अन्तिम अङ्कसे विदूषकका निकल जाना प्रकरण-कारकी सुरुचिका परिचायक है, क्योंकि बुद्धके उपदेश ग्रहणकर लेनेके बाद शारिपुत्रको विदूषक-जैसे मनोरञ्जक पात्रकी जरूरत नहीं रह जाती। दोनों नायक, बुद्ध और उनके शिष्य संस्कृत गद्य-पद्य में बोलते हैं। इन शिष्योंमें कौण्डिन्य और एक श्रमणक भी है। विदूषक प्राकृतमें बोलता है।

जिस ग्रन्थमें शारिपुत्रप्रकरण है उसीमें दो और रूपकोंके अवशेष हैं। अन्दाज किया जाता है कि इनका भी प्रणेता अश्वघोष ही होगा। इसके लिए कोई प्रबल प्रमाण नहीं है। दूसरे रूपकके अवशेष और अश्वघोषकी अन्य कृतियोंमें सादृश्य पाया जाता है। यह सादृश्य केवल शैलीमें ही नहीं, प्रत्युत उपमा तकमें पाया जाता है :—

"खे वर्षत्यम्बुधारं ज्वलति च युगपत् संध्याम्बुद इव"—रूपक।

युगपज्ज्वलन् ज्वलनवच्च जलमवसृजंश्च मेघवत्।
तप्तकनकसदृशप्रभया स बभौ प्रदीप्त इव सन्ध्यया घनः॥

—सौन्दरनन्द, ३।२४॥

यह नाटक एक खास तरहका है। बुद्धि, कीर्ति और धृति इसके पात्रोंमें से हैं। ये रङ्गमञ्चपर आकर बातचीत करती हैं और पीछे बुद्ध भी पधारते हैं। सभी पात्र संस्कृतमें ही बोलते हैं। बुद्धि कीर्तिसे कहती है—"नित्यं स सुप्त इव यस्य न बुद्धिररित"। इस नाटकका अवशेष अति अल्प है, अतः इसके बारेमें अधिक नहीं कहा जा सकता। ऐसा नाटक दसवीं शताब्दीतक और कोई दूसरा नहीं मिलता। ग्यारहवीं शताब्दीमें कृष्ण मिश्रने इस तरहका प्रबोधचन्द्रोदय नामक एक नाटक लिखा था। बादमें ऐसे बहुतसे नाटक लिखे गये।

दूसरे नाटककी तरह तीसरेके नामका भी पता नहीं है। इसके पात्रोंमें मगधवती नामकी एक वेश्या, कौमुदगन्ध नामक एक विदूषक, शायद सोमदत्त नामक नायक, एक दुष्ट, धनञ्जय नामक शायद एक राजकुमार, एक दासी, शारिपुत्र और मौद्गल्यायन हैं। वेश्या, दासी और दुष्ट प्राकृतमें बोलते हैं और शेष संस्कृत में। एक जीर्ण उद्यान और वेश्याका घर नाटकके स्थान हैं, और पात्र-गण प्रवहण (= गाड़ी)में चढ़ते हुए बताये जाते हैं—इन बातोंमें यह नाटक मृच्छकटिकसे मिलता-जुलता है। दूसरे नाटककी भाँति इसका भी अवशेष बहुत कम है, इसलिए इसके बारेमें भी अधिक नहीं कहा जा सकता; किन्तु यह नाटक भी बौद्ध-धर्म-विषयक है, इसमें सन्देह नहीं।

बुद्धचरित :—

यह एक महाकाव्य है, जिसमें बुद्धके सिद्धान्त और जीवन-वृत्तान्त हैं। संस्कृत-ग्रन्थमें केवल १७ सर्ग हैं जिनमें अन्तिम चार १९ वीं शताब्दीके आरम्भमें अमृतानन्दद्वारा जोड़े गये हैं। पूरा ग्रन्थ नहीं मिलनेके कारण ही उसने ऐसा किया, यह वह स्वयं स्वीकार करता है। धर्मरक्ष, धर्मक्षेम या धर्माक्षर नामक एक भारतीय विद्वान्ने (४१४-२१ ई०) इस काव्यका चीनी अनुवाद किया था, जिसमें २८ सर्ग हैं और कथा बुद्धके निर्वाणतक चली गई है। इत्सिंगके वर्णनसे भी पता चलता है कि उसे इस काव्यका यह बड़ा आकार मालूम था। सातवीं या आठवीं शताब्दीमें किये गये तिब्बती अनुवादमें भी २८ सर्ग हैं। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री-द्वारा प्राप्त ग्रन्थ चौदहवें सर्गके मध्य तक ही जाता है। निस्सन्देह संस्कृत-बुद्धचरित अधूरा है। कहा जाता है कि

तिब्बती अनुवाद इतना अविकल है कि उसके आधारपर संस्कृतमें बुद्धचरितके अप्राप्त अंशोंका पुनरुद्धार हो सकता है।

बुद्ध चरितकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा करता हुआ इत्सिंग कहता है—"भारतके पाँचों प्रान्तों और दक्षिण सागरके देशों (= द्वीपों) में सर्वत्र इसका गान होता है। कविने कुछ ही शब्दोंमें अनेक अर्थ और भाव भर दिये हैं, जिससे पाठकका हृदय इतना आनन्दित हो जाता है कि वह इस काव्यको पढ़नेसे थकता ही नहीं।" निस्सन्देह यह एक कलाकारकी कृति है। विषयका प्रतिपादन सुन्दर और सुव्यवस्थित ढङ्गसे हुआ है। दृश्यवर्णन सजीव और प्रभावोत्पादक हैं। पाणिनिके व्याकरणसे कहीं-कहीं फर्क पड़ता है। कविता अनावश्यक अलङ्कारोंसे लदी नहीं है। चमत्कारपूर्ण या आश्चर्यजनक घटनाओंके वर्णनमें कवि नियन्त्रित जान पड़ता है।

प्रणय-दृश्यका चित्रण महाकाव्यका एक आवश्यक अङ्ग माना जाता है। राजकुमारको लुभानेकी कोशिश करनेवाली सुन्दरियोंके निष्फल प्रयत्न दिखाकर ही कवि इस आवश्यकताकी पूर्ति करता है। महलसे निकलते राजकुमारको देखनेके लिए इकट्ठी हुई स्त्रियोंका सजीव चित्रण और महाभिनिष्क्रमणके समय सुप्त सुन्दरियोंका दृश्य कविके कामशास्त्र-विषयक ज्ञानका परिचायक है। चौथे सर्गमें कुलपुरोहितने राजकुमारको नीतिशास्त्रका जो उपदेश दिया है उससे कविके तत्सम्बन्धी ज्ञानका पता लगता है। युद्ध-वर्णन भी महाकाव्यका एक जरूरी अंग है। कविने मार और बुद्धका युद्ध दिखाकर काव्य-कौशलका परिचय दिया है।

अन्तिम पद्यमें ग्रन्थका प्रयोजन बताते हुए कविने कहा है कि काव्य-कौशल या पाण्डित्य दिखानेके लिए नहीं, किन्तु जगत्के सुख और उपकारके लिए यह ग्रन्थ रचा गया है। निस्सन्देह इस ग्रन्थमें धनके पीछे उन्मत्त जगत् के लिए ओषधि है, विषय-सेवनके चिन्तनसे आकुल लोगोंके लिए सदुपदेश है और तृष्णासे दग्ध-संसारके लिए संतोष-जलका झरना है।

सौन्दरनन्द :—

यह एक अठारह सर्गोंका काव्य है। इसकी दो ही प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ मिली हैं। दोनों दूषित तथा बुरी दशामें हैं और दोनों नेपाल महाराज

के पुस्तकालयमें सुरक्षित हैं। इनके आधारपर शुद्ध और कहीं-कहीं पूरा पाठ निश्चित करना असम्भव-सा है। सौन्दरनन्द बौद्ध धर्मके बहुमूल्य उपदेशोंसे भरा है। यह हीनयान सम्प्रदायका ग्रन्थ है, किन्तु कहीं-कहीं इसमें महायान-सम्प्रदायके सिद्धान्तोंका भी उल्लेख है। बुद्धके जीवन-सम्बन्धी जो कई दृश्य और घटनाएँ बुद्ध-चरितमें संक्षिप्त हैं या बिलकुल नहीं हैं वे ही सौन्दरनन्दमें विस्तारपूर्वक वर्णित हैं। इस दृष्टिकोणसे इसे बुद्धचरितका पूरक कहना बुरा न होगा।

सौन्दरनन्दमें सुन्दरी और नन्दकी ही कथा प्रधान है। सुन्दरी नन्दकी स्त्री थी और नन्द बुद्धका भाई था। नन्द सुन्दरीमें बड़ा आसक्त था। बुद्धने अनिच्छुक नन्दको अपने धर्ममें दीक्षित किया। पत्नीसे वियुक्त होकर नन्द बड़ा दुःखी हुआ, बहुत रोया और सुन्दरीके पास घर लौट जाना चाहा। भिक्षुओंने उपदेश-भरे शब्दोंमें उसे समझानेकी खूब कोशिश की, किन्तु सब व्यर्थ था। तब बुद्ध उसे लेकर हिमालयकी ओर गये। वहाँ एक कानी शाखामृगी दिखाते हुए उन्होंने पूछा—"हे नन्द, इस कानी बनरी और अपनी प्रियतमामेंसे तुम किसे अधिक रूपवती और विलासवती समझते हो?" मुसकुराते हुए नन्द ने कहा—"हे भगवन्, कहाँ वह उत्तम स्त्री आपकी वधू और कहाँ यह पेड़को पीड़ा पहुँचानेवाली मृगी!" फिर इन्द्रलोकमें अप्सराओंको दिखाकर बुद्धने नन्दसे अप्सराओं और उसकी प्रियतमाके बीचका अन्तर पूछा। उसने उत्तर दिया—"हे नाथ, उस कानी मृगी और आपकी वधूमें जो अन्तर है वही है इन अप्सराओं और आपकी बेचारी वधूमें।" अब अप्सारोंपर मुग्ध होकर नन्द ने उन्हें पाना चाहा। बुद्धने बताया कि रूप, सेवा, बल या दानसे वे नहीं पाई जा सकतीं; उन्हें पानेका एकमात्र शुल्क या सफल साधन उत्तम तप है। तब वह तपस्वी हो गया और वीतरागकी भाँति आनन्द और विषादसे मुक्त हो गया। बुद्धके शिष्य आनन्दने नन्दको बताया कि स्वर्गके आनन्दोंका उपभोग क्षणिक है और स्वर्ग-निवास प्रवास-मात्र है, क्योंकि पुण्य क्षीण होनेसे लोग वहाँसे लौट आते हैं। आनन्दके वचनकी यथार्थता समझकर नन्द अप्सराओंसे विमुख हो गया। बुद्धके पास जाकर अपनी अवस्था बताते हुए उसने कहा—"(अब) मैं सभी दुःखोंके नाशक आपके परम धर्ममें ही आनन्द

राता हूँ । अतः संक्षेप और विस्तारसे इसकी व्याख्या कीजिए, जिसे सुनकर मैं परम-पद पाऊँ।" उसने बुद्धके उपदेश सुने, तदनुसार प्रयत्न किया और वह अर्हत् हो गया। कृतार्थ हो नन्दने बुद्धके दर्शन किये। गुरु और शिष्य एक दूसरेको देखकर प्रसन्न हुए। दोनोंने एक दूसरेकी हृदयसे तारीफ की। कृतज्ञ शिष्यने गुरुसे प्रतीकारका कुछ उपाय पूछा। गुरुने परोपकार करनेका आदेश दिया। शिष्यको सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा—"वही जन उत्तम से उत्तम माना जाता है जो उत्तम नैष्ठिक धर्म पाकर अपने परिश्रमका खयाल न करता हुआ दूसरों को भी शम (=शान्ति) का उपदेश देता है। अतः, हे स्थिरात्मन्, रात्रिकालमें भटकते हुए तमोवृत जीवोंके बीच इस धर्म-प्रदीपको धारण करो। घरमें वधू भी तुम्हारा ही अनुकरण करती हुई स्त्रियोंको विरागका उपदेश देगी।"

अन्तमें इस काव्यका प्रयोजन बताते हुए कविने कहा है—"प्रायः लोगों को विषय-रत और मोक्ष-विमुख देखकर मैंने काव्यके बहाने सत्यका उपदेश दिया है। मोक्ष ही सबसे ऊपर है। इस (ग्रन्थ) में मोक्षके अतिरिक्त जो कुछ कहा गया है वह इसे काव्य-धर्मके अनुसार सरस बनानेके ही लिए (कहा गया है), जैसे कड़वी दवाको रुचिकर बनानेके लिए उसमें मधु मिलाया जाता है।"

सङ्केत-सूची

अ० को० = अभिधर्म-कोष (राहुल सांकृत्यायन)
बु० वा० = बुद्धवाणी (वियोगी हरि)
सौ० = सौन्दरनन्द (सूर्यनारायण चौधरी)
क = श्लोकका प्रथम पाद
ख = ,, द्वितीय पाद
ग = ,, तृतीय पाद
घ = ,, चतुर्थ पाद

बुद्धचरित

प्रथम सर्ग

भगवान्‌का जन्म

[ऐक्ष्वाक इक्ष्वाकुसमप्रभावः शाक्येष्वशक्येषु विशुद्धवृत्तः।
प्रियः शरच्चन्द्र इव प्रजानां शुद्धोदनो नाम बभूव राजा] ॥ १ ॥

इक्ष्वाकु-वंशमें शुद्धोदन नामक राजा हुआ। वह अजेय शाक्योंका अधिपति था। इक्ष्वाकुके समान प्रभावशाली था। उसका आचरण पवित्र था। अपनी प्रजाओंके लिए वह शरच्चन्द्रके समान प्रिय था ॥ १ ॥

[तस्येन्द्रकल्पस्य बभूव पत्नी] दीप्त्या नरेन्द्रस्य समप्रभावा।
[पद्मेव लक्ष्मीः पृथिवीव धीरा मायेति नाम्नानुपमेव माया] ॥ २ ॥

उस इन्द्र-तुल्य राजाके शची-सदृश रानी थी, जिसकी दीप्ति राजाकी शक्तिके समान थी। वह पद्माके समान सुन्दरी और पृथ्वीके सदृश धीर थी। अनुपम मायाके समान होनेके कारण उसका नाम महामाया हुआ ॥ २ ॥

१—प्रथम सात मूल श्लोक अप्राप्त हैं। इन श्लोकोंके जो अंश [ ] कोष्ठके अन्तर्गत हैं वे जौन्स्टन-कृत मूलोद्धार हैं और शेषकी रचना अनुवादके आधारपर हमने की है। १ 'ग' के अन्तमें जौन्स्टनके 'प्रजाभ्यः' के स्थानमें हमने 'प्रजानां' कर दिया है।

सार्धं तयासौ विजहार राजा नाचिन्तयद्वैश्रवणस्य लक्ष्मीं ।
[ततश्च विद्येव समाधियुक्ता गर्भं दधे पापविवर्जिता सा] ॥ ३ ॥

अपनी रानीके साथ विहार करते हुए उस नरपतिने मानो वैश्रवण (कुबेर) के परम ऐश्वर्यका उपभोग किया। तब वह निष्पाप (रानी) गर्भवती हुई, जैसे समाधि-युक्त विद्या फलवती होती है ॥ ३ ॥

प्राग्गर्भधानान्मनुजेन्द्रपत्नी सितं ददर्श द्विपराजमेकं ।
स्वप्ने विशन्तं वपुरात्मनः सा [न तन्निमित्तं समवाप तापं] ॥ ४ ॥

गर्भधारण करनेसे पूर्व उसने स्वप्नमें एक श्वेत गज-राजको अपने शरीरमें प्रवेश करते देखा; किन्तु इससे उसे कुछ कष्ट नहीं हुआ ॥ ४ ॥

[सा तस्य देवप्रतिमस्य देवी गर्भेण वंशश्रियमुद्वहन्ती]।
श्रमं न लेभे न शुचं न मायां गन्तुं वनं सा निभृतं चकाङ्क्ष ॥ ५ ॥

उस देव-तुल्य राजाकी रानी मायाने अपने गर्भमें अपने वंशकी श्रीको धारण किया। श्रम, शोक और मायासे मुक्त होकर और विशुद्ध होकर, उसने पावन वन (जाने) की इच्छा की ॥ ५ ॥

[सा लुम्बिनीं नाम वनान्तभूमिं चित्रद्रुमां चैत्ररथाभिरामां]।
ध्यानानुकूलां विजनामियेष तस्यां निवासाय नृपं बभाषे ॥ ६ ॥

ध्यानके योग्य एकान्त वनकी इच्छासे, उसने विविध वृक्षोंसे युक्त चैत्ररथ उपवनके समान सुन्दर लुम्बिनी वनमें चलकर रहनेके लिए राजासे कहा ॥ ६ ॥

[आर्याशयां तां] प्रवणां च धर्मे [विज्ञाय कौतूहलहर्षपूर्णः ।
शिवात् पुरात् भूमिपतिर्जगाम तत्प्रीतये नापि विहारहेतोः] ॥ ७ ॥

भूपतिने कुतूहल और आनन्दके साथ उसकी धार्मिकतासे उसका उत्तम आशय जानकर, उसे प्रसन्न करनेके लिए, न कि विहार करनेके लिए, उस सुन्दर नगरको छोड़ा ॥ ७ ॥

३—क—या 'प्रियासहायो विजहार राजा'

क—ख या 'सार्धं तयासौ नृपतिश्च रेमे भेजे यथा वैश्रवणस्य लक्ष्मीं ।'

७—ग—पा० 'भूमिपतिः प्रतस्थे'।

तस्मिन्वने श्रीमति राजपत्नी प्रसूतिकालं समवेक्षमाणा ।
शय्यां वितानोपहितां प्रपेदे नारीसहस्रैरभिनन्द्यमाना ॥ ८ ॥

उस सुन्दर वनमें प्रसव-काल समीप देखकर रानीने वितान-युक्त शय्याका आश्रय लिया । उस समय हजारों स्त्रियोंने उसका अभिनन्दन किया ॥ ८ ॥

ततः प्रसन्नश्च बभूव पुष्यस्तस्याश्च देव्या व्रतसंस्कृतायाः ।
पार्श्वात्सुतो लोकहिताय जज्ञे निर्वेदनं चैव निरामयं च ॥ ९ ॥

तब पुष्य नक्षत्र प्रसन्न हुआ और व्रतसे पवित्र हुई रानीके पार्श्वसे लोक-हितके लिए पुत्र उत्पन्न हुआ; रानीको न पीडा हुई और न रोग ॥ ९ ॥

ऊरोर्यथौर्वस्य पृथोश्च हस्तान्मान्धातुरिन्द्रप्रतिमस्य मूर्ध्नः ।
कक्षीवतश्चैव भुजांसदेशात्तथाविधं तस्य बभूव जन्म ॥१०॥

जैसे और्वका जन्म जाँघसे, पृथुका हाथसे, इन्द्र-तुल्य मान्धाताका मस्तकसे, कक्षीवान्का काँखसे, वैसे ही उसका जन्म (पार्श्वसे) हुआ ॥ १० ॥

क्रमेण गर्भादभिनिःसृतः सन् बभौ च्युतः खादिव योन्यजातः ।
कल्पेष्वनेकेषु च भावितात्मा यः संप्रजानन्सुषुवे न मूढः ॥११॥

काल-क्रमसे गर्भसे निकलनेपर, वह आकाशसे गिरे हुएके समान शोभित हुआ; (क्योंकि) वह जन्म-मार्गसे उत्पन्न नहीं हुआ था । अनेक कल्पोंमें उसने अपनेको पवित्र कर लिया था; अतः वह जागरूक होकर (स्मृति-संप्रजन्यके साथ) जन्मा, मूढ़ (मूर्ख, बेसुध) होकर नहीं ॥ ११ ॥

दीप्त्या च धैर्येण च यो रराज बालो रविर्भूमिमिवावतीर्णः ।
तथातिदीप्तोऽपि निरीक्ष्यमाणो जहार चक्षूंषि यथा शशाङ्कः ॥१२॥

दीप्ति और धीरतामें वह भूतलपर अवतीर्ण बाल-सूर्यके समान शोभित हुआ । उस प्रकार अत्यन्त दीप्तिमान् होनेपर भी, देखे जानेपर, वह चन्द्रमाके समान आँखें हर लेता था ॥ १२ ॥

स हि स्वगात्रप्रभया ज्वलन्त्या दीपप्रभां भास्करवन्मुमोष ।
महार्हजाम्बूनदचारुवर्णो विद्योतयामास दिशश्च सर्वाः ॥१३॥

अपने शरीरकी जलती प्रभासे उसने भास्करके समान दीप-प्रभाको हर लिया । बहुमूल्य-सुवर्ण-सदृश सुन्दर वर्णवाले (बालक) ने सब दिशाओंको प्रकाशित किया ॥ १३ ॥

अनाकुलान्युब्जसमुद्धृतानि निष्पेषवद्व्यायतविक्रमाणि ।
तथैव धीराणि पदानि सप्त सप्तर्षितारासदृशो जगाम ॥१४॥

सप्तर्षि-ताराके समान वह सात पग चला, उसने ये लम्बे और अविचल पग धैर्यपूर्वक सीधे उठाकर दृढ़ताके साथ रखे ॥ १४ ॥

बोधाय जातोऽस्मि जगद्धितार्थमन्त्या भवोत्पत्तिरियं ममेति ।
चतुर्दिशं सिंहगतिर्विलोक्य वाणीं च भव्यार्थकरीमुवाच ॥१५॥

और उस सिंह-गतिने चारो ओर देखकर भविष्यद्वाणी की—"जगत्के हितके लिए ज्ञान अर्जन करनेके लिए मैं जन्मा हूँ, संसारमें मेरी यह अन्तिम उत्पत्ति है" ॥ १५ ॥

खात्प्रसुते चन्द्रमरीचिशुभ्रे द्वे वारिधारे शिशिरोष्णवीर्ये ।
शरीरसंस्पर्शसुखान्तराय निपेततुर्मूर्धनि तस्य सौम्ये ॥१६॥

चन्द्र-किरण-सदृश दो जल-धाराएँ, एक शीतल और दूसरी गर्म आकाशसे स्रवित हुईं और शरीर स्पर्शकर सुख देनेके लिए उसके सौम्य मस्तकपर गिरीं ॥ १६ ॥

श्रीमद्विताने कनकोज्ज्वलाङ्गे वैडूर्यपादे शयने शयानम् ।
यद्गौरवात्काञ्चनपद्महस्ता यक्षाधिपाः संपरिवार्य तस्थुः ॥१७॥

सुन्दर वितानसे युक्त, सुवर्णसे उज्ज्वल, वैदूर्य मणिके पादवाले शयनपर वह पड़ा हुआ था । उसके गौरवके कारण यक्षपति-गण अपने हाथोंमें सुवर्ण-कमल लिए हुए उसे चारों ओर घेरकर खड़े हुए ॥ १७ ॥

(अदृश्यरूपाश्च) दिवौकसः खे यस्य प्रभावात्प्रणतैः शिरोभिः ।
अधारयन् पाण्डरमातपत्रं बोधाय जेपुः परमाशिषश्च ॥१८॥

अदृश्य देवताओंने उसके प्रभावसे शिर झुकाकर आकाशमें श्वेत आतपत्र धारण किया और उसकी बुद्धत्व-प्राप्तिके लिए उत्तम आशीर्वाद दिये ॥ १८ ॥

महोरगा धर्मविशेषतर्षाद्बुद्धेष्वतीतेषु कृताधिकाराः ।
यमव्यजन् भक्तिविशिष्टनेत्रा मन्दारपुष्पैः समवाकिरंश्च ॥१९॥

जिन्होंने अतीतके बुद्धोंकी सेवा की थी, उन बड़े-बड़े सर्पोंने धर्मविशेषकी प्याससे उसके ऊपर व्यजन डुलाये और भक्तिके कारण अपनी विलक्षण आँखोंसे (देखते हुए) मन्दार फूल बरसाये ॥१९॥

तथागतोत्पादगुणेन तुष्टाः शुद्धाधिवासाश्च विशुद्धसत्त्वाः ।
देवा ननन्दुर्विगतेऽपि रागे मग्नस्य दुःखे जगतो हिताय ॥२०॥

तथागतके जन्मसे संतुष्ट होकर, विशुद्ध स्वभाववाले शुद्धाधिवास देव, स्वयं राग-रहित होनेपर भी, दुःखमग्न जगत्‌का (भावी) हित सोचकर, प्रसन्न हुए॥२०॥

यस्य प्रसूतौ गिरिराजकीला वाताहता नौरिव भूश्चचाल ।
सचन्दना चोत्पलपद्मगर्भा पपात वृष्टिर्गगनादनभ्रात् ॥२१॥

उसके जन्ममें यह पृथ्वी, जो गिरिराज-रूप कीलसे स्थिर है, वायुसे आहत नावकी भाँति काँपी । मेघ-रहित आकाशसे चन्दन-सुवासित वृष्टि हुई, जिसमें लाल नीले कमल गिरे ॥२१॥

वाता ववुः स्पर्शसुखा मनोज्ञा दिव्यानि वासांस्यवपातयन्तः ।
सूर्यः स एवाभ्यधिकं चकाशे जज्वाल सौम्यार्चिरनीरितोऽग्निः॥२२॥

स्पर्शसे सुख देनेवाली मनोहर वायु दिव्य वस्त्रोंकी वृष्टि करती हुई बहने लगी । वही सूर्य अत्यधिक चमका । विना सुलगाये ही आग सौम्य शिखाओंके साथ प्रज्वलित हुई ॥२२॥

प्रागुत्तरे चावसथप्रदेशे कूपः स्वयं प्रादुरभूत्सिताम्बुः ।
अन्तःपुराण्यागतविस्मयानि यस्मिन् क्रियास्तीर्थ इव प्रचक्रुः ॥२३॥

आवास-भूमिकी उत्तर-पूर्व दिशामें स्वच्छ जलके कूपका आप ही आप प्रादुर्भाव हुआ, जहाँ विस्मित अन्तःपुर-वासियोंने उसी प्रकार क्रियाएँ कीं, जिस प्रकार तीर्थमें ॥२३॥

धर्मार्थिभिर्भूतगणैश्च दिव्यैस्तद्दर्शनार्थं वनमापुपूरे ।
कौतूहलेनैव च पादपेभ्यः पुष्पाण्यकालेऽ(प्यवपातयद्भिः) ॥२४॥

उसके दर्शनके लिए आये हुए धर्माभिलाषी दिव्य प्राणियोंसे वह वन भर गया । कुतूहल-वश उन्होंने पेड़ोंसे अकालमें भी (फूले) फूल गिराये ॥२४॥

भूतैरसौम्यैः (परित्यक्तहिंसै-) र्नाकारि पीडा स्वगणे परे वा ।
लोके हि सर्वाश्च विना प्रयासं रुजो नराणां शमयांबभूवुः ॥२५॥

२५—मूलके अप्राप्त श्लोक २५–४० ग की पद्य-बद्ध रचना अनुवादके आधारपर हमने की है ।

उस समय विघ्नकारी प्राणी एकत्र हुए और उन्होंने एक दूसरेको क्लेश नहीं दिया। मानव-जातिके जो कुछ रोग थे सब अनायास ही दूर हो गये ॥२५॥

फलं प्रणेदुः मृगपक्षिणश्च शान्ताम्बुवाहाः सरितो बभूवुः।
दिशः प्रसेदुर्विमले निरभ्रे विहायसे दुन्दुभयो निनेदुः ॥२६॥

मृग और पक्षी ऊँचे स्वरसे बोले नहीं और नदियाँ नीरव जलके साथ बहीं। दिशाएँ स्वच्छ हो गईं और आकाश निरभ्र होकर चमका। गगनमें देव-दुन्दुभियाँ बजीं ॥२६॥

लोकस्य मोक्षाय गुरौ प्रसूते शमं प्रपेदे जगदव्यवस्थं।
प्राप्येव नाथं खलु नीतिमन्तं एको न मारो मुदमाप लोके ॥२७॥

जगत्के मोक्षके लिए गुरुका जन्म होनेपर संसार अत्यन्त शान्त हो गया, जैसे कुव्यवस्थाके बीच इसे शासक मिल गया हो। केवल कामदेवको आनन्द नहीं हुआ ॥२७॥

दिव्याद्भुतं जन्म निरीक्ष्य तस्य धीरोऽपि राजा बहुक्षोभमेतः।
स्नेहादसौ भीतिप्रमोदजन्ये द्वे वारिधारे मुमुचे नरेन्द्रः ॥२८॥

अपने पुत्रका अद्भुत जन्म देखकर राजा धीर होनेपर भी बहुत क्षुब्ध हुआ और स्नेहके कारण आनन्द तथा भयसे उत्पन्न हुई दो अश्रु-धाराएँ (उसकी आँखोंसे) बहीं ॥२८॥

अमानुषीं तस्य निशम्य शक्तिं माता प्रकृत्या (करुणार्द्रचित्ता)।
प्रीता च भीता च बभूव देवी शीतोष्णमिश्रेव जलस्य धारा ॥२९॥

ऊष्ण और शीतल जलके मिश्रणसे बनी धाराके समान रानी आनन्द और भयसे भर गई; क्योंकि एक ओर उसके पुत्रकी शक्ति (प्रभाव) अमानुषी थी और दूसरी ओर उसमें माताकी स्वाभाविक दुर्बलता थी ॥२९॥

निरीक्षमाणा भयहेतुमेव ध्यातुं न शेकुः वनिताः प्रवृद्धाः।
पूताश्च ता मङ्गलकर्म चक्रुः शिवं ययाचुः शिशवे सुरौघान् ॥३०॥

२९—क—पा 'दृष्ट्वा विशालं तनय-प्रभावं'
ग—पा 'प्रीत्या च भीत्या च बभूव युक्ता'

केवल भयके ही कारणोंको देखती हुई विशुद्ध बूढ़ी स्त्रियाँ ध्यान नहीं कर सकीं। अपनेको पवित्रकर तथा भाग्यनिर्माणकी क्रियाएँ कर, उन्होंने देवताओंसे सौभाग्यके लिए प्रार्थना की ॥३०॥

विप्राश्च ख्याताः श्रुतशीलवाग्भिः श्रुत्वा निमित्तानि विचार्य सम्यक्।
मुखैः प्रफुल्लैश्चकितैश्च दीप्तैः भीतप्रसन्नं नृपमेत्य प्रोचुः ॥३१॥

आचरण विद्या और वाग्मिताके लिए प्रसिद्ध ब्राह्मणोंने जब ये लक्षण सुने और उनपर विचार किया, तब उज्ज्वल, साश्चर्य और प्रसन्न मुखोंसे उन्होंने राजासे, जो भीत भी था और प्रसन्न भी, कहाः—॥३१॥

शमेप्सवो ये भुवि सन्ति सत्त्वाः पुत्रं विनेच्छन्ति गुणं न कञ्चित्।
त्वत्पुत्र एषोऽस्ति कुलप्रदीपः नृत्योत्सवं त्वद्य विधेहि राजन् ॥३२॥

"भूतलपर मनुष्य अपनी शान्तिके लिए पुत्रको छोड़कर कोई दूसरा गुण नहीं चाहते हैं। आपका यह प्रदीप आपके वंशका प्रदीप है, अतः आज आनन्द और उत्सव कीजिए ॥३२॥

विहाय चिन्तां भव शान्तचित्तो मोदस्व वंशस्तव वृद्धिभागी।
लोकस्य नेता तव पुत्रभूतः दुःखार्दितानां भुवि एष त्राता ॥३३॥

इसलिए पूरे धैर्यके साथ चिन्ता तजिए और प्रसन्न होइये; आपका वंश निश्चय ही उन्नत होगा। जो आपका पुत्र होकर उत्पन्न हुआ है, वह दुःखमें डूबे जगत्का उद्धार करेगा ॥३३॥

दीपप्रभोऽयं कनकोज्ज्वलाङ्गः सुलक्षणैर्यैस्तु समन्वितोऽस्ति।
निधिर्गुणानां समये स गंता बुद्धर्षिभावं परमां श्रियं वा ॥३४॥

सुवर्णके समान उज्ज्वल और प्रदीपके समान चमकीले इस गुणवान्के लक्षणोंके अनुसार, वह निश्चय ही बुद्धर्षि होगा या पृथ्वीपर मनुष्योंके बीच चक्रवर्ती सम्राट् ॥३४॥

३१—ख—वा 'श्रुत्वा निमित्तानि विचिन्त्य तानि'

३२—ख—पा० 'कञ्चित्'के स्थानमें 'तेऽन्यं'।

३३—ख—पा० 'वृद्धिगामी'।

३४—क—पा० 'दीपप्रदीप्तः' ख—पा० 'विभूषितोऽस्ति'।

इच्छेदसौ वै पृथिवीश्रियं चेत् न्यायेन जित्वा पृथिवीं समग्रां।
भूपेषु राजेत यथा प्रकाशः ग्रहेषु सर्वेषु रवेर्विभाति ॥३५॥

यदि वह पार्थिव साम्राज्यकी इच्छा करे, तो अपने प्रभाव और धर्मके द्वारा पृथ्वीपर सब राजाओंके ऊपर वह उसी प्रकार स्थित होगा, जिस प्रकार सब ग्रहोंके ऊपर सूर्यका प्रकाश ॥ ३५ ॥

मोक्षाय चेद्वा वनमेव गच्छेत् तत्त्वेन सम्यक् स विजित्य सर्वान्।
मतान् पृथिव्यां बहुमानमेतः राजेत शैलेषु यथा सुमेरुः ॥३६॥

यदि वह मोक्षकी इच्छा करे और वनको जाय, तो अपने ज्ञान और सत्यके द्वारा सब सम्प्रदायोंको जीतकर वह पृथ्वीपर उसी प्रकार स्थित होगा, जिस प्रकार पर्वतोंके मध्य गिरि-राज मेरु ॥ ३६ ॥

यथा हिरण्यं शुचि धातुमध्ये मेरुर्गिरीणां सरसां समुद्रः।
तारासु चन्द्रस्तपतां च सूर्यः पुत्रस्तथा ते द्विपदेषु वर्यः ॥३७॥

जैसे धातुओंमें विशुद्ध सुवर्ण, पर्वतोंमें मेरु, जलाशयोंमें सागर, ग्रहोंमें चन्द्र और अग्नियोंमें सूर्य श्रेष्ठ है, वैसे ही मनुष्योंमें आपका पुत्र ॥ ३७ ॥

तस्याक्षिणी निर्निमिषे विशाले स्निग्धे च दीप्ते विमले तथैव।
निष्कम्पकृष्णायतशुद्धपक्ष्मे द्रष्टुं समर्थे खलु सर्वभावान् ॥३८॥

उसकी आँखें निर्निमेष होकर देखती हैं, वे निर्मल और विशाल हैं चमकीली और स्निग्ध भी, स्थिर और खूब लम्बी काली पपनियोंवाली। उसकी आँखें सब कुछ देख सकती हैं" ॥ ३८ ॥

कस्मान्नु हेतोः कथितान्भवद्भिः वरान्गुणान् धारयते कुमारः।
प्रापुर्न पूर्वं मुनयो नृपाश्च राजेति पृष्टा जगदुस् द्विजास्तं ॥३९॥

तब राजाने द्विजोंसे कहाः—"क्या कारण है कि उत्कृष्ट गुण, जैसा आप कहते हैं, उसमें देखे जाते हैं, जब कि ये पहले के महात्मा राजाओंमें नहीं देखे गये?" तब ब्राह्मणोंने उन्हें कहाः—॥३९॥

३६—घ—पा० 'यथा हिमाद्रिः'।

३७—ग—पा 'तारासु चन्द्रो दहतां च भानुः'।

३८—घ—भाव = पदार्थ; दे०—बु० च० ११।४१; १२।२७

ख्यातानि कर्माणि यशो मतिश्च पूर्वं न भूतानि भवन्ति पश्चात् ।
गुणा हि सर्वाः प्रभवन्ति हेतोः [निदर्शनान्यत्र] च नो निबोध ॥४०॥

"राजाओंकी बुद्धि, विख्यात कर्म और यशके सम्बन्धमें पहले और पीछेका प्रश्न नहीं है। यह वस्तु-स्वभाव है कि प्रत्येक कार्य कारणसे होता है, अतः हमारे दृष्टान्त आप सुनें ॥ ४० ॥

यद्राजशास्त्रं भृगुरङ्गिरा वा न चक्रतुर्वंशकरावृषी तौ ।
तयोः सुतौ सौम्य ससर्जतुस्तत्कालेन शुक्रश्च बृहस्पतिश्च ॥४१॥

हे सौम्य, वंश चलानेवाले भृगु और अङ्गिरा नामक ऋषियोंने जिस राज-शास्त्रको नहीं बनाया उसे उनके पुत्रोंने—शुक्र और बृहस्पतिने—समय बीतनेपर सृजन किया ॥ ४१ ॥

सारस्वतश्चापि जगाद नष्टं वेदं पुनर्यं ददृशुर्न पूर्वे ।
व्यासस्तथैनं बहुधा चकार न यं वसिष्ठः कृतवानशक्तिः ॥४२॥

(सरस्वतीके पुत्र) सारस्वतने नष्ट हुए वेदको कहा (= व्यक्त किया) जिसे पूर्वके लोगोंने देखा नहीं, और व्यासने इसे कई विभागोंमें (विभक्त) किया जिसे शक्तिहीन वसिष्ठने नहीं किया ॥ ४२ ॥

वाल्मीकिरादौ च ससर्ज पद्यं जग्रन्थ यन्न च्यवनो महर्षिः ।
चिकित्सितं यच्च चकार नात्रिः पश्चात्तदात्रेय ऋषिर्जगाद ॥४३॥

पहले पहल वाल्मीकिने पद्य सृजन किया, जिसे महर्षि च्यवनने नहीं बनाया, और जिस चिकित्सा-शास्त्रको अत्रिने (सृजन) नहीं किया उसे बादको आत्रेय ऋषिने कहा ॥ ४३ ॥

यच्च द्विजत्वं कुशिको न लेभे तद्गाधिनः सूनुरवाप राजन् ।
वेलां समुद्रे सगरश्च दध्रे नेक्ष्वाकवो यां प्रथमं बबन्धुः ॥४४॥

हे राजन् ! जिस द्विजत्वको (विश्वामित्रके पितामह) कुशिकने नहीं पाया उसे गाधीके पुत्र (विश्वामित्र)ने प्राप्त किया, और सगरने सागरकी वेला निश्चित की, जिसे शुरूमें इक्ष्वाकुओंने नहीं बाँधा ॥ ४४ ॥

४०—ग—पा० 'धर्मा हि'।
४०—श्लोक २५ से ४० ग तककी रचना हमारी है। ४० घ के [ ] कोष्ठमें दो शब्द जौन्स्टनने रखे हैं।

आचार्यकं योगविधौ द्विजानामप्राप्तमन्यैर्जनको जगाम।
ख्यातानि कर्माणि च यानि शौरेः शूरादयस्तेष्वबला बभूवुः ॥४५॥

योग-विधिमें द्विजोंका आचार्य होनेका जो पद दूसरोंको प्राप्त नहीं हुआ उसे जनकने पाया। शौरिने जो विख्यात कर्म किये उन्हें करनेमें शूर आदि असमर्थ हुए ॥ ४५ ॥

तस्मात्प्रमाणं न वयो न वंशः कश्चित्क्वचिच्छ्रैष्ठ्यमुपैति लोके।
राज्ञामृषीणां च हि तानि तानि कृतानि पुत्रैरकृतानि पूर्वैः ॥४६॥

इसलिए प्रमाण न वयस है न वंश। संसारमें कोई भी कहीं भी श्रेष्ठता प्राप्त कर सकता है; क्योंकि राजाओं और ऋषियोंके पुत्रोंने वे वे काम किये जिन्हें उनके पूर्वजोंने नहीं किया।" ॥ ४६ ॥

एवं नृपः प्रत्ययितैर्द्विजैस्तैराश्वासितश्चाप्यभिनन्दितश्च।
शङ्कामनिष्टां विजहौ मनस्तः प्रहर्षमेवाधिकमारुरोह ॥४७॥

उन विश्वस्त द्विजोंसे इस प्रकार आश्वासन और अभिनन्दन पाकर, राजाने अपने मनसे अनिष्ट शंकाका त्याग किया और वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ ॥४७॥

प्रीतश्च तेभ्यो द्विजसत्तमेभ्यः सत्कारपूर्वं प्रददौ धनानि।
भूयादयं भूमिपतिर्यथोक्तो यायाज्जरामेत्य वनानि चेति ॥४८॥

और प्रसन्न होकर उसने उन श्रेष्ठ द्विजोंको धन दिये, (जिससे) वह, उनके कथनानुसार राजा हो और बुढ़ापेमें ही वनको जाय ॥४८॥

अथो निमित्तैश्च तपोबलाच्च तज्जन्म जन्मान्तकरस्य बुद्ध्वा।
शाक्येश्वरस्यालयमाजगाम सद्धर्मतर्षादसितो महर्षिः ॥४९॥

तब निमित्तोंसे और तपोबलसे जन्मान्त-कर (जन्म-विनाशक) का वह जन्म जानकर महर्षि असित उत्तम धर्मकी प्याससे शाक्य-अधिपतिके घर आया ॥ ४९ ॥

तं ब्रह्मविद्ब्रह्मविदं ज्वलन्तं ब्राह्म्या श्रिया चैव तपःश्रिया च।
राज्ञो गुरुर्गौरवसत्क्रियाभ्यां प्रवेशयामास नरेन्द्रसद्म ॥५०॥

ब्राह्म तेज और तपःश्रीसे जलते हुए उस श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानीको राजगुरुने गौरव और सत्कारके साथ राजभवनमें प्रवेश कराया ॥ ५० ॥

स पार्थिवान्तःपुरसन्निकर्षं कुमारजन्मागतहर्षवेगः।
विवेश धीरो वनसंज्ञयेव तपःप्रकर्षाच्च जराश्रयाच्च ॥५१॥

कुमारके जन्मसे आनन्दित होकर वह राजाके अन्तःपुरके समीप गया। अतिशय तपस्या तथा वृद्धावस्थाके कारण वह वहाँ इतना धीर था कि अपनेको वनमें ही समझ रहा हो ॥ ५१ ॥

ततो नृपस्तं मुनिमासनस्थं पाद्यार्घ्यपूर्वं प्रतिपूज्य सम्यक्।
निमन्त्रयामास यथोपचारं पुरा वसिष्ठं स इवान्तिदेवः ॥५२॥

तब मुनिके बैठनेपर, पाद्य और अर्घ्यके साथ उसकी सम्यक् पूजा कर, राजाने उससे वैसे ही सविनय निवेदन किया, जैसे प्राचीन समयमें अन्तिदेवने वसिष्ठसे ॥ ५२ ॥

धन्योऽस्म्यनुग्राह्यमिदं कुलं मे यन्मां दिदृक्षुर्भगवानुपेतः।
आज्ञाप्यतां किं करवाणि सौम्य शिष्योऽस्मि विश्रम्भितुमर्हसीति ॥५३॥

"मैं धन्य हूँ और मेरा यह कुल अनुगृहीत है जो आप मुझे देखनेकी इच्छासे आये हैं। हे सौम्य, आज्ञा कीजिए कि मैं क्या करूँ। आपका शिष्य हूँ, मेरे ऊपर विश्वास कीजिए" ॥ ५३ ॥

एवं नृपेणोपनिमन्त्रितः सन्सर्वेण भावेन मुनिर्यथावत्।
स विस्मयोत्फुल्लविशालदृष्टिर्गम्भीरधीराणि वचांस्युवाच ॥५४॥

जब राजाने इस उचित रीतिसे समस्त सद्भावके साथ मुनिसे निवेदन किया, तब उसकी आँखें विस्मयसे विकसित तथा विशाल हो गईं और उसने ये गम्भीर और धीर वचन कहे ॥ ५४ ॥

महात्मनि त्वय्युपपन्नमेतत्प्रियातिथौ त्यागिनि धर्मकामे।
सत्त्वान्वयज्ञानवयोऽनुरूपा स्निग्धा यदेवं मयि ते मतिः स्यात् ॥५५॥

"आप महात्मा, अतिथि-प्रिय, त्यागी और धर्मार्थीके ही यह योग्य है कि अपने स्वभाव, वंश, ज्ञान और वयसके अनुरूप आपकी बुद्धि मेरे प्रति ऐसी स्नेहमयी हो ॥५५॥

एतच्च तद्येन नृपर्षयस्ते धर्मेण सूक्ष्मेण धनान्यवाप्य।
नित्यं त्यजन्तो विधिवद्बभूवुस्तपोभिराढ्या विभवैर्दरिद्राः ॥५६॥

और, यह वही मार्ग है जिसके द्वारा वे राजर्षि सूक्ष्म धर्मसे धन प्राप्त कर, नित्य विधिवत् दान करते हुए, तपके धनी और धनके दरिद्र हो गये ॥५६॥

प्रयोजनं यत्तु ममोपयाने तन्मे शृणु प्रीतिमुपेहि च त्वम्।
दिव्या मयादित्यपथे श्रुता वाग्बोधाय जातस्तनयस्तवेति ॥५७॥

किंतु मेरे आनेका जो प्रयोजन है उसे आप सुनिये और आनन्द पाइये। सूर्यके मार्गमें (आकाश-मार्गमें) मैंने (आपके प्रति कही गई) यह दिव्य-वाणी सुनी—"तुझे पुत्र उत्पन्न हुआ है, जो बुद्धत्व प्राप्त करेगा" ॥५७॥

श्रुत्वा वचस्तच्च मनश्च युक्त्वा ज्ञात्वा निमित्तैश्च ततोऽस्म्युपेतः।
दिदृक्षया शाक्यकुलध्वजस्य शक्रध्वजस्येव समुच्छ्रितस्य ॥५८॥

यह वचन सुनकर, मैंने मनोयोग किया और निमित्तों से बात जान ली। तब इन्द्रकी पताकाके समान शाक्य-कुलकी उन्नत पताकाको देखनेकी इच्छासे यहाँ आया हूँ" ॥५८॥

इत्येतदेवं वचनं निशम्य प्रहर्षसंभ्रान्तगतिर्नरेन्द्रः।
आदाय धात्र्यङ्कगतं कुमारं संदर्शयामास तपोधनाय ॥५९॥

इस प्रकार यह वचन सुनकर हर्षके कारण शीघ्रतासे राजाने धाईकी गोदसे कुमारको लेकर तपस्वीको दिखाया ॥५९॥

चक्राङ्कपादं स ततो महर्षिर्जालावनद्धाङ्गुलिपाणिपादम्।
सोर्णभ्रुवं वारणवस्तिकोशं सविस्मयं राजसुतं ददर्श ॥६०॥

तब उस महर्षिने राजाके पुत्रको विस्मयके साथ देखा, उसके पाँवोंमें चक्रके चिह्न थे, अँगुलियाँ और हाथ-पाँव (रेखा-) जालोंसे भरे थे, भौंहें (घने) बालोंसे युक्त थीं, मूत्राशय और (अण्ड-)कोश वैसे ही (भीतर धँसे) थे जैसे हाथीके ॥६०॥

धात्र्यङ्कसंविष्टमवेक्ष्य चैनं देव्यङ्कसंविष्टमिवाग्निसूनुम्।
बभूव पक्ष्मान्तविचञ्चिताश्रुर्निश्वस्य चैव त्रिदिवोन्मुखोऽभूत् ॥६१॥

देवीकी गोदमें सोये हुए अग्नि-पुत्रकी भाँति धाईकी गोद में सोये हुए इस बालकको देखकर महर्षिकी पपनियोंपर आँसू आ गये और साँसें लेकर उसने आकाशकी ओर मुख उठाया ॥६१॥

दृष्ट्वासितं त्वश्रुपरिप्लुताक्षं स्नेहात्तनूजस्य नृपश्चकम्पे।
सगद्गदं बाष्पकषायकण्ठः पप्रच्छ स प्राञ्जलिरानताङ्गः ॥६२॥

असितकी आँखें आँसूसे डबडबाई देखकर पुत्रके स्नेहसे राजा काँप उठा, उसका कण्ठ वाष्प (के अवरोध)से दुखने लगा और झुककर हाथ जोड़े हुए, उसने भग्न वाणीमें पूछा:—॥६२॥

अल्पान्तरं यस्य वपुः सुरेभ्यो बह्वद्भुतं यस्य च जन्म दीप्तम्।
यस्योत्तमं भाविनमात्थ चार्थं तं प्रेक्ष्य कस्मात्तव धीर बाष्पः ॥६३॥

"जिसके शरीरमें देवताओं (के शरीर)से अल्प अन्तर है, जिसका उज्ज्वल जन्म बहुत अद्भुत है, जिसका भविष्य आप उत्तम कहते हैं, हे धीर, उसे देखकर आपको आँसू क्यों ? ॥६३॥

अपि स्थिरायुर्भगवन् कुमारः कच्चिन्न शोकाय मम प्रसूतः।
लब्धा कथंचित्सलिलाञ्जलिर्मे न खल्विमं पातुमुपैति कालः ॥६४॥

हे भगवन्, कुमार चिरायु तो है ? वह मेरे शोकके लिए तो नहीं जन्मा है ? किसी किसी तरह मुझे जो जलाञ्जलि प्राप्त होनेवाली है उसे पीनेके लिए काल तो नहीं आ रहा है (अर्थात् मेरे मरनेपर मुझे जलाञ्जलि देनेके लिए कुमार जीवित तो रहेगा) ? ॥६४॥

अप्यक्षयं मे यशसो निधानं कच्चिद्ध्रुवो मे कुलहस्तसारः।
अपि प्रयास्यामि सुखं परत्र सुप्तोऽपि पुत्रेऽनिमिषैकचक्षुः ॥६५॥

मेरा यश-निधान अक्षय तो है ? मेरे वंश (-ज)के हाथमें राज्य ध्रुव तो है ? सोये रहनेपर भी पुत्रके प्रति एक आँख खुली रखनेवाला मैं सुखपूर्वक परलोक तो जाऊँगा ? ॥६५॥

कच्चिन्न मे जातमफुल्लमेव कुलप्रवालं परिशोषभागि।
क्षिप्रं विभो ब्रूहि न मेऽस्ति शान्तिः स्नेहं सुते वेत्सि हि बान्धवानाम्॥६६॥

क्या मेरा यह वंशाङ्कुर, जो अभी जन्मा है, विना फूले ही सूखनेको है ? हे विभु, शीघ्र कहिये, मुझे शान्ति नहीं है; क्योंकि पुत्रके लिए पिताका स्नेह तो आप जानते ही हैं।"॥६६॥

इत्यागतावेगमनिष्टबुद्ध्या बुद्ध्वा नरेन्द्रं स मुनिर्बभाषे।
मा भून्मतिस्ते नृप काचिदन्या निःसंशयं तद्यदवोचमस्मि ॥६७॥

अनिष्टकी आशंकासे राजा आवेशमें आ गया है, ऐसा समझकर मुनिने कहा—"आप कुछ और न समझें। मैंने जो कहा है उसमें संशय नहीं है ॥६७॥

नास्यान्यथात्वं प्रति विक्रिया मे स्वां वञ्चनां तु प्रति विक्लवोऽस्मि।
कालो हि मे यातुमयं च जातो जातिक्षयस्यासुलभस्य बोद्धा ॥६८॥

इसके अनिष्टसे मुझे विकार नहीं हुआ है; मैं वञ्चित हो रहा हूँ, इसीलिए मैं विकल हूँ। मेरे (परलोक) जानेका यह समय आगया है, जब कि यह उत्पन्न हुआ है जो जन्म-विनाशके दुर्लभ उपायोंको जानेगा ॥६८॥

विहाय राज्यं विषयेष्वनास्थस्तीव्रैः प्रयत्नैरधिगम्य तत्त्वम्।
जगत्ययं मोहतमो निहन्तुं ज्वलिष्यति ज्ञानमयो हि सूर्यः ॥६९॥

विषयोंसे विरक्त हो, राज्य छोड़, तीव्र प्रयत्नोंसे तत्त्वको प्राप्त कर, यह ज्ञानमय सूर्य जगत्में मोहरूप तमको नष्ट करनेके लिए प्रज्वलित होगा ॥६९॥

दुःखार्णवाद्व्याधिविकीर्णफेनाज्जरातरङ्गान्मरणोग्रवेगात्।
उत्तारयिष्यत्ययमुह्यमानमार्तं जगज्ज्ञानमहाप्लवेन ॥७०॥

दुःखरूप सागरसे—व्याधि ही जिसका फैला हुआ फेन है, वृद्धावस्था ही जिसकी तरंग है और मरण ही जिसका प्रचण्ड वेग है—बहते हुए आर्त जगत्को यह ज्ञानरूप महानौकाके द्वारा उबारेगा ॥७०॥

प्रज्ञाम्बुवेगां स्थिरशीलवप्रां समाधिशीतां व्रतचक्रवाकाम्।
अस्योत्तमां धर्मनदीं प्रवृत्तां तृष्णार्दितः पास्यति जीवलोकः ॥७१॥

प्रज्ञा ही जिसका जल-प्रवाह है, स्थिर शील ही जिसके तट हैं, समाधि ही जिसकी शीतलता है और व्रत ही जिसके चक्रवाक हैं, उस उत्तम धर्म नदीका वह प्रवतन करेगा और तृष्णासे पीड़ित प्राणि-जगत् (= जीवलोक) उस (के जल)को पीयेगा ॥७१॥

दुःखार्दितेभ्यो विषयावृतेभ्यः संसारकान्तारपथस्थितेभ्यः।
आख्यास्यति ह्येष विमोक्षमार्गं मार्गप्रनष्टेभ्य इवाध्वगेभ्यः ॥७२॥

मार्गसे भटके हुए यात्रियोंके समान संसाररूप वनके पथमें पड़े हुए लोगों को, जो दुःखसे पीड़ित और विषयोंसे लिप्त हैं, यह मोक्षमार्ग बतावेगा ॥७२॥

विदह्यमानाय जनाय लोके रागाग्निनायं विषयेन्धनेन ।
प्रह्लादमाधास्यति धर्मवृष्ट्या वृष्ट्या महामेघ इवातपान्ते ॥७३॥

संसारमें विषयरूप इन्धनवाली रागाग्निसे जलते हुए लोगोंको यह धर्मवृष्टिसे वैसे ही आनन्दित करेगा, जैसे आतप (गर्मी)के अन्तमें (जल-) वृष्टिसे महामेघ ॥७३॥

तृष्णार्गलं मोहतमःकपाटं द्वारं प्रजानामपयानहेतोः ।
विपाटयिष्यत्ययमुत्तमेन सद्धर्मताडेन दुरासदेन ॥७४॥

प्राणियोंके निकलनेके लिए यह उस द्वार को, तृष्णा ही जिसका अर्गल है और मोहरूप अन्धकार ही जिसके किवाड़ हैं, सद्धर्मके अप्रतिहत उत्तम प्रहारसे तोड़ डालेगा ।

स्वैर्मोहपाशैः परिवेष्टितस्य दुःखाभिभूतस्य निराश्रयस्य ।
लोकस्य संबुध्य च धर्मराजः करिष्यते बन्धनमोक्षमेषः ॥७५॥

बुद्धत्व प्राप्त कर, यह धर्मराज, अपने ही मोह-पाशोंसे परिवेष्टित, दुःखसे अभिभूत, और निराश्रय जगत्‌का बन्धन खोलेगा ॥७५॥

तन्मा कृथाः शोकमिमं प्रति त्वमस्मिन्स शोच्योऽस्ति मनुष्यलोके ।
मोहेन वा कामसुखैर्मदाद्वा यो नैष्ठिकं श्रोष्यति नास्य धर्मम् ॥७६॥

अतः आप इसके लिए शोक न करें; इस मनुष्य-लोकमें उसके लिए शोक करना चाहिए जो काम-सुखसे होनेवाले मोहसे, या मदसे इसका नैष्ठिक धर्म नहीं सुनेगा ॥७६॥

भ्रष्टस्य तस्माच्च गुणादतो मे ध्यानानि लब्ध्वाप्यकृतार्थतैव ।
धर्मस्य तस्याश्रवणादहं हि मन्ये विपत्तिं त्रिदिवेऽपि वासम् ॥७७॥

इस पुण्यसे भ्रष्ट होकर ध्यान प्राप्त करनेपर भी मैं अकृतार्थ ही हूँ; क्योंकि उसका धर्म नहीं सुननेके कारण स्वर्ग-निवासको भी मैं विपत्ति ही मानता हूँ" ॥७७॥

इति श्रुतार्थः ससुहृत्सदारस्त्यक्त्वा विषादं मुमुदे नरेन्द्रः ।
एवंविधोऽयं तनयो ममेति मेने स हि स्वामपि सारवत्ताम् ॥७८॥

यह व्याख्या सुननेपर स्त्री और बन्धुओंके साथ विषाद छोड़कर राजा प्रमुदित हुआ । "मेरा पुत्र ऐसा है" इससे उसने अपना सौभाग्य समझा ॥७८॥

आर्षेण मार्गेण तु यास्यतीति चिन्ताविधेयं हृदयं चकार।
न खल्वसौ न प्रियधर्मपक्षः संताननाशात्तु भयं ददर्श ॥७९॥

"ऋषिके मार्गपर यह चलेगा" इससे उसका हृदय चिन्तित हुआ। निश्चय ही वह ऐसा नहीं था कि उसे धर्मका पक्ष प्रिय नहीं, किंतु वंश-नाशसे होनेवाला भय उसने देखा ॥७९॥

अथ मुनिरसितो निवेद्य तत्त्वं सुतनियतं सुतविक्लवाय राज्ञे।
सबहुमतमुदीक्ष्यमाणरूपः पवनपथेन यथागतं जगाम ॥८०॥

तब पुत्रके लिए विकल राजासे पुत्रके सम्बन्धमें तत्त्वको निवेदनकर, असित मुनि वायु-मार्गसे वैसे ही चला गया जैसे आया था और लोग सम्मानपूर्वक उसका रूप देखते रहे ॥८०॥

कृतमितिरनुजासुतं च दृष्ट्वा मुनिवचनश्रवणे च तन्मतौ च।
बहुविधमनुकम्पया स साधुः प्रियसुतवद्विनियोजयांचकार ॥८१॥

सच्चा ज्ञान प्राप्त किये हुए उस मुनि (असित) ने अपनी बहिनके पुत्रको देखा और अनुकम्पा-वश प्रिय पुत्रके समान उसे मुनि (बुद्ध) का वचन सुननेके लिए तथा उसके विचारानुसार चलनेके लिए नियुक्त किया ॥८१॥

नरपतिरपि पुत्रजन्मतुष्टो विषयगतानि विमुच्य बन्धनानि।
कुलसदृशमचीकरद्यथावत्प्रियतनयस्तनयस्य जातकर्म ॥८२॥

पुत्र-जन्मसे संतुष्ट होकर राजाने भी देशके सभी बन्धनों (= कैदियों) को छोड़ दिया और उस पुत्र-स्नेहीने पुत्रका जात-कर्म कुलके अनुकूल ही उचित रीतिसे कराया ॥८२॥

दशसु परिणतेष्वहःसु चैव प्रयतमनाः परया मुदा परीतः।
अकुरुत जपहोममङ्गलाद्याः परमभवाय सुतस्य देवतेज्याः ॥८३॥

दस दिन पूरे होनेपर परम प्रसन्न होकर, उस संयमीने पुत्रके परम कल्याणके लिए जप, होम और मंगल-कर्म आदिके साथ देवयज्ञ किये ॥८३॥

अपि च शतसहस्रपूर्णसंख्याः स्थिरबलवत्तनयाः सहेमशृङ्गीः।
अनुपगतजराः पयस्विनीर्गाः स्वयमददात्सुतवृद्धये द्विजेभ्यः ॥८४॥

और भी, एक लाख पयस्विनी गाएँ जो वृद्धा नहीं हुई थीं, जिनके सींग सोनेसे मढ़े थे, और जिनके बछड़े दृढ़ बलवान् थे, पुत्रकी बढ़तीके लिए स्वयं द्विजोंको दीं ॥८४॥

बहुविधविषयास्ततो यतात्मा स्वहृदयतोषकरीः क्रिया विधाय ।
गुणवति नियते शिवे मुहूर्ते मतिमकरोन्मुदितः पुरप्रवेशे ॥८५॥

उस संयतात्माने अपने हृदयको संतोष देनेवाली भाँति-भाँतिकी क्रियाएँ कीं और गुण-युक्त मंगल मुहूर्त नियत होनेपर, प्रसन्न होकर उसने नगरमें प्रवेश करनेका विचार किया ॥८५॥

द्विरदरदमयीमथो महार्हां सितसितपुष्पभृतां मणिप्रदीपाम् ।
अभजत शिविकां शिवाय देवी तनयवती प्रणिपत्य देवताभ्यः ॥८६॥

उस पुत्रवती देवीने मंगलके लिए देवताओंको प्रणाम किया और वह हाथी-दाँतकी बनी बहुमूल्य पालकीपर, जो उजले-उजले फूलोंसे भरी थी और जिसमें मणि-प्रदीप जल रहे थे, चढ़ी ॥८६॥

पुरमथ पुरतः प्रवेश्य पत्नीं स्थविरजनानुगतामपत्यनाथाम् ।
नृपतिरपि जगाम पौरसंघैर्दिवममरैर्मघवानिवार्च्यमानः ॥८७॥

वृद्धाओं और पुत्रके साथ पत्नीको आगेसे पुरमें प्रवेश कराकर, राजा भी वहाँ गया । पुरवासियोंने उसकी उसी तरह पूजा की, जैसे स्वर्गमें (प्रवेश करनेपर) इन्द्रकी देवताओंने ॥८७॥

भवनमथ विगाह्य शाक्यराजो भव इव षण्मुखजन्मना प्रतीतः ।
इदमिदमिति हर्षपूर्णवक्त्रो बहुविधपुष्टियशस्करं व्यधत्त ॥८८॥

महलमें प्रवेश करनेपर, शाक्य-राज वैसे ही आनन्दित हुआ, जैसे कार्तिकेयके जन्म से शिव । प्रसन्नमुख होकर "यह करो, यह करो" कहते हुए राजाने वह सब कराये, जिनसे तरह-तरहकी बढ़ती और यश होता है ॥८८॥

इति नरपतिपुत्रजन्मवृद्ध्या सजनपदं कपिलाह्वयं पुरं तत् ।
धनदपुरमिवाप्सरोऽवकीर्णं मुदितमभून्नलकूबरप्रसूतौ ॥८९॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्ये भगवत्प्रसूतिर्नाम प्रथमः सर्गः ॥

राज-कुमारके समृद्धिकारी जन्मसे कपिलके नामका वह नगर जनपदके साथ इस प्रकार प्रमुदित हुआ, जैसे नलकूबरके जन्ममें अप्सराओंसे भरा कुबेरका नगर ॥८९॥

बुद्धचरित महाकाव्यका "भगवान्‌का जन्म" नामक
प्रथम सर्ग समाप्त ।

द्वितीय सर्ग

अन्तःपुर–विहार

आ जन्मनो जन्मजरान्तकस्य तस्यात्मजस्यात्मजितः स राजा ।
अहन्यहन्यर्थगजाश्वमित्रैर्वृद्धिं ययौ सिन्धुरिवाम्बुवेगैः ॥ १ ॥

जन्म और जराके विनाशक उस आत्म-विजयी पुत्रके जन्म (–समय) से वह राजा दिन-दिन धनसे, हाथी-घोड़ोंसे और मित्रोंसे उसी तरह बढ़ने लगा; जैसे जल-प्रवाहोंसे नदी ॥ १ ॥

धनस्य रत्नस्य च तस्य तस्य कृताकृतस्यैव च काञ्चनस्य ।
तदा हि नैकान्स निधीनवाप मनोरथस्याप्यतिभारभूतान् ॥ २ ॥

क्योंकि तब धन, विविध रत्न, तथा बने और नहीं बने सोनेकी अनेक निधियाँ उसने पाईं, जो मनोरथके लिए भी भार-स्वरूप थीं ॥ २ ॥

ये पद्मकल्पैरपि च द्विपेन्द्रैर्न मण्डलं शक्यमिहाभिनेतुम् ।
मदोत्कटा हैमवता गजास्ते विनापि यत्नादुपतस्थुरेनम् ॥ ३ ॥

हिमालयके मतवाले हाथी, जो पद्म-सदृश गजेन्द्रों द्वारा भी यहाँ नहीं लाये जा सकते थे, अनायास ही उसकी सेवामें उपस्थित हुए ॥ ३ ॥

नानाङ्कचिह्नैर्नवहेमभाण्डैर्विभूषितैर्लम्बसटैस्तथान्यैः ।
संचुक्षुभे चास्य पुरं तुरङ्गैर्बलेन मैत्र्या च धनेन चाप्तैः ॥ ४ ॥

और, नाना चिह्नों नव-सुवर्ण-भाण्डों और भूषणोंसे युक्त तथा लम्बे केसर-वाले घोड़ोंसे, जो (सैन्य-) बल, मित्रता एवं धन द्वारा प्राप्त हुए थे, उसका नगर क्षुब्ध हुआ ॥ ४ ॥

पुष्टाश्च तुष्टाश्च तदास्य राज्ये साध्व्योऽरजस्का गुणवत्पयस्काः ।
उदग्रवत्सैः सहिता बभूवुर्बह्व्यो बहुक्षीरदुहश्च गावः ॥५॥

४—भाण्ड = अश्व-आभरण, घोड़ेका अलंकार ।

उसके राज्यमें गाएँ बहुत थीं । वे पुष्ट व सन्तुष्ट, साध्वी और निर्मल, उत्तम तथा बहुत दूध देनेवाली और उन्नत बछड़ोंसे युक्त थीं ॥५॥

मध्यस्थतां तस्य रिपुर्जगाम मध्यस्थभावः प्रययौ सुहृत्त्वम् ।
विशेषतो दार्ढ्यमियाय मित्रं द्वावस्य पक्षावपरस्तु नास ॥६॥

उसका शत्रु मध्यस्थ (= निष्पक्ष), मध्यस्थ मित्र, और मित्र विशेषतः दृढ़ हो गया । उसके दो ही पक्ष रहे, तीसरा पक्ष (शत्रु) नहीं रहा ॥६॥

तथास्य मंदानिलमेघशब्दः सौदामिनीकुंडलमंडिताभ्रः ।
विनाश्मवर्षाशनिपातदोषैः काले च देशे प्रववर्ष देवः ॥७॥

और उसके लिए (वृष्टि-) देवने, जिसके बादल विद्युन्मण्डलसे मण्डित थे, मन्द अनिल और मेघ-गर्जनके साथ, अश्म-वर्षा और वज्रपातके दोषोंके विना ही (उचित) समय और स्थानपर वृष्टि की ॥७॥

रुरोह सस्यं फलवद्यथर्तु तदाकृतेनापि कृषिश्रमेण ।
ता एव चास्यौषधयो रसेन सारेण चैवाभ्यधिका बभूवुः ॥८॥

(अति) कृषि-श्रम किये विना ही फल-युक्त सस्य उचित ऋतुमें बढ़ा । और, उसके लिये वे ही ओषधियाँ रस एवं सारसे खूब भर गईं ॥८॥

शरीरसंदेहकरेऽपि काले संग्रामसंमर्द इव प्रवृत्ते ।
स्वस्थाः सुखं चैव निरामयं च प्रजज्ञिरे कालवशेन नार्यः ॥९॥

यद्यपि (प्रसव-) काल शरीरके लिए उतना ही संदेह-जनक (विपत्तिपूर्ण) है जितना कि युद्ध-संघर्ष, तथापि स्त्रियोंने स्वस्थ रहते हुए, सुखपूर्वक और विना किसी रोगके समयपर प्रसव किया ॥९॥

पृथग्व्रतिभ्यो विभवेऽपि गर्ह्ये न प्रार्थयन्ति स्म नराः परेभ्यः ।
अभ्यर्थितः सूक्ष्मधनोऽपि चार्यस्तदा न कश्चिद्विमुखो बभूव ॥१०॥

व्रतियोंको छोड़कर (अन्य) लोगोंने, चाहे उनका विभव कितना ही तुच्छ क्यों न हो, दूसरोंसे कुछ नहीं मांगा । और साथ ही कोई भी आर्य (सज्जन), चाहे उसका धन कितना ही सूक्ष्म क्यों न हो, मांगे जानेपर विमुख नहीं हुआ ॥१०॥

१०—व्रती=संन्यास-धर्मके नियम पालन करनेवाले ।

नागौरवो बन्धुषु नाप्यदाता नैवाव्रतो नानृतिको न हिंस्रः।
आसीत्तदा कश्चन तस्य राज्ये राज्ञो ययातेरिव नाहुषस्य ॥११॥

उस समय उसके राज्यमें, जैसे नहुषके पुत्र ययातिके राज्यमें, बन्धुओंका असम्मान करनेवाला, अदाता, अव्रती, झूठा, और हिंसक कोई नहीं था ॥११॥

उद्यानदेवायतनाश्रमाणां कूपप्रपापुष्करिणीवनानाम्।
चक्रुः क्रियास्तत्र च धर्मकामाः प्रत्यक्षतः स्वर्गमिवोपलभ्य ॥१२॥

धर्मके अभिलाषियोंने स्वर्गका मानो प्रत्यक्ष दर्शनकर उद्यान, देव-मन्दिर, आश्रम, कूप, पनसाले, पोखर और उपवन बनाये ॥१२॥

मुक्तश्च दुर्भिक्षभयामयेभ्यो हृष्टो जनः स्वर्ग इवाभिरेमे।
पत्नीं पतिर्वा महिषी पतिं वा परस्परं न व्यभिचेरतुश्च ॥१३॥

दुर्भिक्ष भय और रोगसे मुक्ति होनेके हर्षमें लोग ऐसे सुखी थे, जैसे स्वर्गमें। पतिने पत्नीके विरुद्ध या पत्नीने पतिके विरुद्ध सदाचार भङ्ग नहीं किया अर्थात् दोनों एक दूसरेके प्रति सच्चे रहे ॥१३॥

कश्चित्सिषेवे रतये न कामं कामार्थमर्थं न जुगोप कश्चित्।
कश्चिद्धनार्थं न चचार धर्मं धर्माय कश्चिन्न चकार हिंसाम् ॥१४॥

किसीने रतिके लिए कामका सेवन नहीं किया, किसीने काम (-सेवन)के लिए धनकी रक्षा नहीं की। किसीने धनके लिए धर्माचरण नहीं किया, किसीने धर्मके लिए हिंसा नहीं की ॥१४॥

स्तेयादिभिश्चाप्यरिभिश्च नष्टं स्वस्थं स्वचक्रं परचक्रमुक्तम्।
क्षेमं सुभिक्षं च बभूव तस्य पुरानरण्यस्य यथैव राष्ट्रम् ॥१५॥

शत्रुता और चोरी-आदि नष्ट हो गई। उसका राज्य स्वस्थ, स्वतन्त्र, विदेशके शासनसे मुक्त, सुखी और अन्नसे भरा था, जैसे प्राचीन कालमें अनरण्य का राज्य ॥१५॥

तदा हि तज्जन्मनि तस्य राज्ञो मनोरिवादित्यसुतस्य राज्ये।
चचार हर्षः प्रणनाश पाप्मा जज्वाल धर्मः कलुषः शशाम ॥१६॥

११—अव्रती=धर्मके नियम पालन नहीं करनेवाला।

तब उसके जन्ममें उस राजाके राज्यमें, जैसे सूर्य-पुत्र मनुके राज्यमें, मलिनता मिटी और हर्षका संचार हुआ, पाप नष्ट हुआ और धर्म प्रज्वलित हुआ ॥१६॥

एवंविधा राजकुलस्य संपत्सर्वार्थसिद्धिश्च यतो बभूव।
ततो नृपस्तस्य सुतस्य नाम सर्वार्थसिद्धोऽयमिति प्रचक्रे ॥१७॥

राजकुलकी ऐसी सम्पद् और सब अर्थोंकी सिद्धि हुई, इसीलिए राजाने अपने पुत्रका नाम रखते हुए कहा—"यह सर्वार्थसिद्ध है" ॥१७॥

देवी तु माया विबुधर्षिकल्पं दृष्ट्वा विशालं तनयप्रभावम्।
जातं प्रहर्षं न शशाक सोढुं ततो निवासाय दिवं जगाम ॥१८॥

अपने पुत्रका प्रभाव देवर्षिका-सा विशाल देखकर, देवी माया (हृदय में) उत्पन्न हर्षको न सह सकी और रहनेके लिए स्वर्ग चली गई ॥१८॥

ततः कुमारं सुरगर्भकल्पं स्नेहेन भावेन च निर्विशेषम्।
मातृष्वसा मातृसमप्रभावा संवर्धयामात्मजवद्बभूव ॥१९॥

तब माताके समान प्रभावशाली मौसीने सुर-सन्तान-तुल्य कुमारको वैसे ही भाव और स्नेहसे अपने पुत्रके समान पाला ॥१९॥

ततः स बालार्क इवोदयस्थः समीरितो वह्निरिवानिलेन।
क्रमेण सम्यग्ववृधे कुमारस्ताराधिपः पक्ष इवातमस्के ॥२०॥

तब उदयाचलपर स्थित सूर्यके समान, हवासे प्रेरित अग्निके समान और शुक्ल-पक्षके चन्द्रमाके समान कुमार धीरे-धीरे अच्छी तरह बढ़ने लगा ॥२०॥

ततो महार्हाणि च चन्दनानि रत्नावलीश्चौषधिभिः सगर्भाः।
मृगप्रयुक्तान् रथकांश्च हैमानाचक्रिरेऽस्मै सुहृदालयेभ्यः ॥२१॥
वयोऽनुरूपाणि च भूषणानि हिरण्मयान् हस्तिमृगाश्वकांश्च।
रथांश्च गोपुत्रकसंप्रयुक्तान् पुत्रीश्च चामीकररूप्यचित्राः ॥२२॥

तब उसके लिए लोग बहुमूल्य चन्दन, ओषधियोंसे भरे रत्न-हार, मृग-युक्त छोटे-छोटे स्वर्ण-रथ, वयसके अनुरूप भूषण, सोनेके बने छोटे-छोटे हाथी, मृग और घोड़े, गो-वत्स-युक्त रथ, तथा चाँदी-सोनेसे रंग-बिरंगी पुतलियाँ मित्रोंके घरोंसे ले आये ॥२१, २२॥

एवं स तैस्तैर्विषयोपचारैर्वयोऽनुरूपैरुपचर्यमाणः।
बालोऽप्यबालप्रतिमो बभूव धृत्या च शौचेन धिया श्रिया च ॥२३॥

वयसके अनुरूप उन-उन विषयोंसे इस प्रकार सेवित होता हुआ वह बालक होनेपर भी धैर्य, पवित्रता, बुद्धि और विभूतिमें बालक नहीं था ॥२३॥

वयश्च कौमारमतीत्य सम्यक् संप्राप्य काले प्रतिपत्तिकर्म।
अल्पैरहोभिर्बहुवर्षगम्या जग्राह विद्याः स्वकुलानुरूपाः ॥२४॥

कुमारावस्था बीतनेपर, समयपर उसका (उपनयन-) संस्कार विधिवत् हुआ और अपने कुलके अनुरूप विद्याएँ, जो बहुत वर्षोंमें सीखी जाती हैं, उसने कुछ ही दिनोंमें सीख लीं ॥२४॥

नैःश्रेयसं तस्य तु भव्यमर्थं श्रुत्वा पुरस्तादसितान्महर्षेः।
कामेषु सङ्गं जनयांबभूव वनानि यायादिति शाक्यराजः ॥२५॥

शाक्य-राजने महर्षि असितसे पहले ही उसका परम कल्याण-प्रद भविष्य सुना था; इसलिए उसने विषयोंमें उसकी आसक्ति उत्पन्न की, जिससे वह वनको न जाय ॥२५॥

कुलात्ततोऽस्मै स्थिरशीलयुक्तात्साध्वीं वपुर्ह्रीविनयोपपन्नाम्।
यशोधरां नाम यशोविशालां वामाभिधानां श्रियमाजुहाव ॥२६॥

तब स्थायी शीलवाले कुलसे यशोधरा नामक कन्यारूपी लक्ष्मीको उसके लिए बुलाया। वह यशस्विनी और साध्वी थी। रूप, लज्जा और विनयसे युक्त थी ॥ २६ ॥

विद्योतमानो वपुषा परेण सनत्कुमारप्रतिमः कुमारः।
सार्धं तया शाक्यनरेन्द्रवध्वा शच्या सहस्राक्ष इवाभिरेमे ॥२७॥

सनत्कुमारके समान अत्यन्त सुन्दर आकृतिसे चमकते कुमारने शाक्यराजकी उस वधूके साथ वैसे ही रमण किया, जैसे इन्द्र शचीके साथ ॥ २७ ॥

किञ्चिन्मनःक्षोभकरं प्रतीपं कथं न पश्येदिति सोऽनुचिन्त्य।
वासं नृपो व्यादिशति स्म तस्मै हर्म्योदरेष्वेव न भूप्रचारम् ॥२८॥

मनको क्षुब्ध करनेवाला कुछ भी प्रतिकूल वह (कुमार) कैसे न देखे—ऐसा सोचकर राजाने उसके लिए महलोंके भीतर रहनेका आदेश दिया, पृथ्वीपर घूमनेका नहीं ॥ २८ ॥

ततः शरत्तोयदपाण्डुरेषु भूमौ विमानेष्विव रञ्जितेषु।
हर्म्येषु सर्वर्तुसुखाश्रयेषु स्त्रीणामुदारैर्विजहार तूर्यैः ॥२९॥

तत्र शरत्कालके मेघके समान श्वेत तथा पृथ्वीपर उतरे विमानों (=देव-प्रासादों)के समान रञ्जित महलोंमें, जो सब ऋतुओंमें सुखदायी थे, उसने स्त्रियोंके उदार तूर्य-वाद्योंसे मनोविनोद किया ॥ २९ ॥

कलैर्हि चामीकरबद्धकक्षैर्नारीकराग्राभिहतैर्मृदङ्गैः।
वराप्सरोनृत्यसमैश्च नृत्यैः कैलासवत्तद्भवनं रराज ॥३०॥

जिनके अञ्चल सुवर्णसे बँधे थे और जो स्त्रियोंकी अँगुलियोंसे बजाये जा रहे थे उन मृदंगोंसे, (उनकी) मधुर ध्वनिसे और उत्तम अप्सराओंके नृत्यके समान नृत्यसे, वह भवन कैलासके समान शोभित हुआ ॥ ३० ॥

वाग्भिः कलाभिर्ललितैश्च हावैर्मदैः सखेलैर्मधुरैश्च हासैः।
तं तत्र नार्यो रमयाम्बभूवुर्भ्रूवञ्चितैरर्धनिरीक्षितैश्च ॥३१॥

मीठी बोलीसे, ललित हाव-भावसे, क्रीड़ापूर्ण मद (=मत्तता) से, मधुर हाससे, भ्रू-भङ्गोंसे और कटाक्षोंसे, नारियोंने उसे वहाँ आनन्दित किया ॥३१॥

ततः स कामाश्रयपण्डिताभिः स्त्रीभिर्गृहीतो रतिकर्कशाभिः।
विमानपृष्ठान्न महीं जगाम विमानपृष्ठादिव पुण्यकर्मा ॥३२॥

तब कामोद्दीपनमें निपुण तथा रतिमें दृढ़ स्त्रियोंसे गृहीत होकर, वह महल-परसे भूतलपर नहीं आया, जैसे पुण्य कर्मवाला (व्यक्ति) स्वर्गसे (नीचे नहीं उतरता है) ॥ ३२ ॥

नृपस्तु तस्यैव विवृद्धिहेतोस्तद्भाविनार्थेन च चोद्यमानः।
शमेऽभिरेमे विरराम पापाद्भेजे दमं संविबभाज साधून् ॥३३॥

पुत्रकी बढ़तीके लिए और उसके (उत्तम) भविष्यसे प्रेरित होता राजा शममें आनन्दित हुआ और पापसे विरत हुआ, (इन्द्रिय-) दमनका आश्रय लिया और साधुओंके बीच धन बाँटा ॥ ३३ ॥

नाधीरवत्कामसुखे ससञ्जे न संररञ्जे विषमं जनन्याम्।
धृत्येन्द्रियाश्वांश्चपलान्विजिग्ये बन्धूंश्च पौरांश्च गुणैर्जिगाय ॥३४॥

वह अधीर व्यक्तिके समान काम-सुखमें आसक्त नहीं हुआ, उसने मातृ-वर्ग (स्त्रियों) से अनुचित अनुराग नहीं किया (या स्त्रियोंके प्रति अत्यधिक क्रोध

नहीं किया), धैर्यपूर्वक इन्द्रियरूप चपल घोड़ोंका दमन किया और अपने गुणों से बन्धुओं एवं पुरवासियोंको जीता ॥ ३४ ॥

नाध्यैष्ट दुःखाय परस्य विद्यां ज्ञानं शिवं यत्तु तदध्यगीष्ट ।
स्वाभ्यः प्रजाभ्यो हि यथा तथैव सर्वप्रजाभ्यः शिवमाशशंसे ॥३५॥

उसने दूसरेके दुःखके लिए (तंत्र-मंत्र) विद्या नहीं सीखी, किंतु जो कल्याण-कारी ज्ञान है उसे अध्ययन किया; क्योंकि जैसे अपनी प्रजाओंके लिए वैसे ही सब प्रजाओंके लिए उसने कल्याण-कामना की ॥३५॥

भं भासुरं चाङ्गिरसाधिदेवं यथावदानर्च तदायुषे सः ।
जुहाव हव्यान्यकृशे कृशानौ ददौ द्विजेभ्यः कृशनं च गाश्च ॥३६॥

उसकी आयुके लिए उसने उज्ज्वल ग्रह-मण्डलकी, जिसका अधिदेव बृहस्पति है, यथोचित पूजा की, विशाल अग्निमें हवन किया तथा द्विजोंको सोना और गाएँ दीं ॥३६॥

सस्नौ शरीरं पवितुं मनश्च तीर्थाम्बुभिश्चैव गुणाम्बुभिश्च ।
वेदोपदिष्टं सममात्मजं च सोमं पपौ शान्तिसुखं च हार्दम् ॥३७॥

शरीरको पवित्र करनेके लिए तीर्थके जलसे और मनको पवित्र करनेके लिए गुणरूप जलसे स्नान किया, वेदविहित सोम (-रस) पिया और साथ ही अपनेसे ही उत्पन्न हार्दिक शान्ति-सुखकी रक्षा की ॥३७॥

सान्त्वं बभाषे न च नार्थवद्यज्जजल्प तत्त्वं न च विप्रियं यत् ।
सान्त्वं ह्यतत्त्वं परुषं च तत्त्वं ह्रियाशकन्नात्मन एव वक्तुम् ॥३८॥

उसने प्रिय कहा और व्यर्थ नहीं; सत्य कहा और अप्रिय नहीं; क्योंकि प्रिय असत्य और कठोर सत्य वह लाजसे अपनेको भी न कह सका ॥३८॥

इष्टेष्वनिष्टेषु च कार्यवत्सु न रागदोषाश्रयतां प्रपेदे ।
शिवं सिषेवे व्यवहारशुद्धं यज्ञं हि मेने न तथा यथा तत् ॥३९॥

३७—"आत्मजं च"की जगह "आत्मजेन" पढ़ें, तो उत्तरार्धका अर्थ यों होगा—"आत्मजके साथ वेद-विहित सोम (-रस) पिया और हार्दिक शान्ति-सुखकी रक्षा की।"

कार्यवालोंके प्रति, वे इष्ट हों या अनिष्ट, उसने अनुराग या द्वेष नहीं किया; कल्याणकारी शुद्ध विवादनिर्णयका सेवन किया, यशको वैसा नहीं माना जैसा कि उसे अर्थात् न्यायकी पवित्रता को ॥३९॥

आशावते चाभिगताय सद्यो देयाम्बुभिस्तर्षमचेछिदिष्ट।
युद्धादृते वृत्तपरश्वधेन द्विड्दर्पमुद्वृत्तमबेभिदिष्ट ॥४०॥

आगत आशावान् व्यक्तिकी प्यासको दानरूप जलसे सद्यः काटा और युद्धके बिना ही सदाचाररूप कुठारसे शत्रुके असंयत अभिमानको भेदा ॥४०॥

एकं विनिन्ये स जुगोप सप्त सप्तैव तत्याज ररक्ष पञ्च।
प्राप त्रिवर्गं बुबुधे त्रिवर्गं जज्ञे द्विवर्गं प्रजहौ द्विवर्गम् ॥४१॥

उसने एक (अपने) को विनीत किया, सात (= राज्यके सात अङ्गों) की रक्षा की, सात (= राजाओंके सात दोषों) का त्याग किया, पाँच (= पाँच उपायों)की रक्षा की, त्रिवर्ग (= अर्थ-धर्म-काम)को पाया, त्रिवर्ग (= शत्रु-मित्र-मध्यस्थ)को समझा, द्विवर्ग (= नीति-अनीति)को जाना, और द्विवर्ग (= काम-क्रोध)को छोड़ा ॥४१॥

कृतागसोऽपि प्रतिपाद्य वध्यान्नाजीघनन्नापि रुषा ददर्श।
बबन्ध सान्त्वेन फलेन चैतांस्त्यागोऽपि तेषां ह्यनयाय दृष्टः ॥४२॥

अपराधियोंको वध्य प्रतिपादित करके भी नहीं मरवाया, क्रोधसे भी नहीं देखा। उन्हें प्रिय फलसे युक्त किया (= हल्का दण्ड दिया); क्योंकि उन्हें छोड़नेमें भी अनीति देखी ॥४२॥

आर्षाण्यचारीत्परमव्रतानि वैराण्यहासीच्चिरसंभृतानि।
यशांसि चापद्गुणगन्धवन्ति रजांस्यहार्षीन्मलिनीकराणि ॥४३॥

ऋषियोंके कठोर व्रतोंका आचरण किया, चिर-पोषित शत्रुता छोड़ी, अपने गुणोंसे सुगन्धित यश पाया, (मन) मलिन करनेवाली (कामकी) धूल झाड़ी ॥४३॥

न चाजिहीर्षीद्बलिमप्रवृत्तं न चाचिकीर्षीत्परवस्त्वभिध्याम्।
न चाविवक्षीद् द्विषतामधर्मं न चाविवक्षीद्धृदयेन मन्युम् ॥४४॥

४१—पाँच उपाय, देखिये—सौ० पन्द्रह ६१।

उसने (प्रजाओंसे) अप्रवृत्त (=अनुचित, अप्रस्तुत) कर लेनेकी इच्छा नहीं की, पर-वस्तु हरण करना नहीं चाहा, शत्रुओंका अधर्म प्रकट करना नहीं चाहा और हृदयमें क्रोध रखना नहीं चाहा ॥४४॥

तस्मिंस्तथा भूमिपतौ प्रवृत्ते भृत्याश्च पौराश्च तथैव चेरुः।
शमात्मके चेतसि विप्रसन्ने प्रयुक्तयोगस्य यथेन्द्रियाणि ॥४५॥

उस राजाकी प्रवृत्ति वैसी होनेपर, भृत्यों और पुरवासियोंने वैसा ही आचरण किया; जिस प्रकार योगारूढ व्यक्तिका चित्त शान्त और प्रसन्न (=निर्मल) होनेपर, उसके इन्द्रिय भी (वैसे ही शान्त और निर्मल हो जाते हैं) ॥४५॥

काले ततश्चारुपयोधरायां यशोधरायां स्वयशोधरायाम्।
शौद्धोदने राहुसपत्नवक्त्रो जज्ञे सुतो राहुल एव नाम्ना ॥४६॥

तब समयपर चारु पयोधरवाली तथा अपने (गर्भमें पुत्ररूप) यशको धारण करनेवाली यशोधरासे शौद्धोदनि (= शुद्धोदनके पुत्र) को राहु-शत्रु (चन्द्र)-सदृश मुखवाला पुत्र उत्पन्न हुआ, (उसका) नाम राहुल ही (रहा) ॥४६॥

अथेष्टपुत्रः परमप्रतीतः कुलस्य वृद्धिं प्रति भूमिपालः।
यथैव पुत्रप्रसवे ननन्द तथैव पौत्रप्रसवे ननन्द ॥४७॥

तब अभिलषित पुत्रवाले राजाको वंश-वृद्धि-का पूरा विश्वास हुआ। जैसे वह पुत्र-जन्ममें आनन्दित हुआ था, वैसे ही पौत्र-जन्ममें आनन्दित हुआ ॥४७॥

पुत्रस्य मे पुत्रगतो ममेव स्नेहः कथं स्यादिति जातहर्षः।
काले स तं तं विधिमाललम्बे पुत्रप्रियः स्वर्गमिवारुरुक्षन् ॥४८॥

"मेरे पुत्रको मेरे ही समान पुत्रगत स्नेह किस प्रकार होता होगा" यह सोचकर उसे हर्ष हुआ। उस पुत्र-प्रियने मानो स्वर्गारोहणकी इच्छासे समयपर उस-उस (धार्मिक) विधिका अवलम्बन किया ॥४८॥

स्थित्वा पथि प्राथमकल्पिकानां राजर्षभाणां यशसान्वितानाम्।
शुक्लान्यमुक्त्वापि तपांस्यतप्त यज्ञैश्च हिंसारहितैरयष्ट ॥४९॥

कृत-युगके यशस्वी नृप-श्रेष्ठोंके पथमें रहते हुए, (गृहस्थाश्रमके) सफेद

कपड़ोंको नहीं छोड़ते हुए भी उसने तप किये और हिंसा-रहित यज्ञोंसे पूजा की ॥४९॥

अजाज्वलिष्टाथ स पुण्यकर्मा नृपश्रिया चैव तपःश्रिया च ।
कुलेन वृत्तेन धिया च दीप्तस्तेजः सहस्रांशुरिवोत्सिसृक्षुः ॥५०॥

वह पुण्यकर्मा राज्य और तपस्याकी श्री से प्रज्वलित हुआ; (अपने श्रेष्ठ) कुल आचार और बुद्धिसे प्रदीप्त हुआ, जैसे सहस्र किरणोंवाले सूर्यके समान प्रकाश फैलानेकी इच्छा कर रहा हो ॥५०॥

स्वायंभुवं चार्चिकमर्चयित्वा जजाप पुत्रस्थितये स्थितश्रीः ।
चकार कर्माणि च दुष्कराणि प्रजाः सिसृक्षुः क इवादिकाले ॥५१॥

उस स्थायी लक्ष्मीवाले (राजा) ने पुत्रके जीवनके लिए स्वयम्भूकी पूजा की, जप किया और आदि युगमें प्रजा सृजन करनेको इच्छुक स्रष्टाके समान दुष्कर कर्म किये ॥५१॥

तत्याज शस्त्रं विममर्श शास्त्रं शमं सिषेवे नियमं विषेहे ।
वशीव कञ्चिद्विषयं न भेजे पितेव सर्वान्विषयान्ददर्श ॥५२॥

शस्त्र छोड़ा, शास्त्र विचारा, शमका सेवन किया, नियमको सहन किया, संयमीके समान किसी विषयका सेवन नहीं किया, पिताके समान सब विषयों (= देशों, प्रजासमूह) को देखा ॥५२॥

बभार राज्यं स हि पुत्रहेतोः पुत्रं कुलार्थं यशसे कुलं तु ।
स्वर्गाय शब्दं दिवमात्महेतोर्धर्मार्थमात्मस्थितिमाचकाङ्क्ष ॥५३॥

उसने राज्यका पुत्रके लिए, पुत्रका कुलके लिए, कुलका यशके लिए पालन किया और यशकी स्वर्गके लिए, स्वर्गकी अपने लिए, अपने जीवनकी धर्मके लिए आकांक्षा की ॥ ५३ ॥

एवं स धर्मं विविधं चकार सद्भिर्निपातं श्रुतितश्च सिद्धम् ।
दृष्ट्वा कथं पुत्रमुखं सुतो मे वनं न यायादिति नाथमानः ॥५४॥

५१—"पुत्रस्थितये" का दूसरा अर्थ होगा "पुत्रके (घरमें ही) रहनेके लिए"।

इस प्रकार उसने भाँति भाँतिका धर्म किया, सज्जन जिसका पालन करते हैं और जो श्रुतिसे सिद्ध है, यह प्रार्थना करते हुए कि "अपने पुत्रका मुख देखकर मेरा पुत्र किसी प्रकार वनको न जाय" ॥ ५४ ॥

रिरक्षिषन्तः श्रियमात्मसंस्थां रक्षन्ति पुत्रान् भुवि भूमिपालाः ।
पुत्रं नरेन्द्रः स तु धर्मकामो ररक्ष धर्माद्विषयेषु मुञ्चन् ॥५५

पृथ्वीपर अपनी श्रीकी रक्षा चाहनेवाले भूपाल अपने पुत्रोंकी रक्षा करते हैं; किन्तु इस धर्माभिलाषी राजाने अपने पुत्रको (इन्द्रिय-) विषयोंमें छोड़ते हुए उसकी धर्मसे रक्षाकी ॥ ५५ ॥

वनमनुपमसत्त्वा बोधिसत्त्वास्तु सर्वे
विषयसुखरसज्ञा जग्मुरुत्पन्नपुत्राः ।
अत उपचितकर्मा रूढमूलेऽपि हेतौ
स रतिमुपसिषेवे बोधिमापन्न यावत् ॥५६॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्येऽन्तःपुरविहारो नाम द्वितीयः सर्गः ।

अनुपम स्वभाववाले सब बोधिसत्त्व विषय-सुखका रस जानकर, पुत्र उत्पन्न होनेपर, वनको गये; अतः (राग, द्वेष, मोहको क्षीण करनेवाले) कर्मोंके इकट्ठे होनेसे (कल्याणका) हेतु रूढ़मूल (= सुदृढ़) होनेपर भी, उसने बुद्धत्व पाने तक विषयोंका कुछ-कुछ सेवन किया ॥ ५६ ॥

बुद्धचरित महाकाव्यका "अन्तःपुर-विहार" नामक
द्वितीय सर्ग समाप्त ।

५६—बोधिसत्त्व = बोधि अर्थात् बुद्धत्व प्राप्त करनेवाला प्राणी; वह व्यक्ति, जिसे बुद्धत्व प्राप्त होगा ।

तृतीय सर्ग

संवेग-उत्पत्ति

ततः कदाचिन्मृदुशाद्वलानि पुंस्कोकिलोन्नादितपादपानि
शुश्राव पद्माकरमण्डितानि गीतैर्निबद्धानि स काननानि ॥ १ ॥

तब एक बार उसने गीत-निबद्ध काननोंके बारेमें सुना, जो मृदु और हरे तृणोंसे युक्त थे, जिनके पेड़ कोयलोंसे निनादित थे और जो कमलके पोखरोंसे मण्डित थे ॥ १ ॥

श्रुत्वा ततः स्त्रीजनवल्लभानां मनोज्ञभावं पुरकाननानाम्।
बहिःप्रयाणाय चकार बुद्धिमन्तर्गृहे नाग इवावरुद्धः ॥ २ ॥

तब स्त्रियोंके प्रिय पुर-काननोंकी मनोहरता सुनकर, घरके भीतर बँधे हाथीके समान उसने बाहर जानेका विचार किया ॥ २ ॥

ततो नृपस्तस्य निशम्य भावं पुत्राभिधानस्य मनोरथस्य।
स्नेहस्य लक्ष्म्या वयसश्च योग्यामाज्ञापयामास विहारयात्राम् ॥३॥

तब पुत्र-नामक उस मनोरथका विचार सुनकर, राजाने स्नेह, लक्ष्मी और वयसके योग्य विहार-यात्राकी आज्ञा दी ॥ ३ ॥

निवर्तयामास च राजमार्गे संपातमार्तस्य पृथग्जनस्य।
मा भूत्कुमारः सुकुमारचित्तः संविग्नचेता इति मन्यमानः ॥ ४ ॥

और, राजमार्गपर आर्त जनताका निकलना रोक दिया, यह सोचते हुए कि सुकुमार मनवाले कुमारके चित्तमें कहीं संवेग न हो जाय ॥ ४ ॥

प्रत्यङ्गहीनान्विकलेन्द्रियांश्च जीर्णातुरादीन् कृपणांश्च दिक्षु।
ततः समुत्सार्य परेण साम्ना शोभां परां राजपथस्य चक्रुः ॥ ५ ॥

अङ्ग-हीनों, विकलेन्द्रियों, वृद्धों, आतुर आदि लोगों तथा बेचारोंको सब ओर परम शान्तिसे हटा कर, उन (राज-पुरुषों)ने राज-पथकी परम शोभा की ॥५॥

ततः कृते श्रीमति राजमार्गे श्रीमान्विनीतानुचरः कुमारः।
प्रासादपृष्ठादवतीर्य काले कृताभ्यनुज्ञो नृपमभ्यगच्छत् ॥ ६॥

तब राज मार्ग शोभा-युक्त किया जानेपर, आज्ञा पाकर, श्रीमान् कुमार विनीत अनुचरोंके साथ प्रासादपरसे समयपर नीचे उतरा और राजाके समीप गया ॥ ६ ॥

अथो नरेन्द्रः सुतमागताश्रुः शिरस्युपाघ्राय चिरं निरीक्ष्य।
गच्छेति चाज्ञापयति स्म वाचा स्नेहान्न चैनं मनसा मुमोच ॥ ७॥

तब राजाने, जिसे आँसू आ गये थे, पुत्रके शिरको सूँघकर उसे देर तक देखा और "जाओ" कहते हुए आज्ञा दी, किन्तु स्नेह-वश उसे मनसे नहीं छोड़ा ॥ ७ ॥

ततः स जाम्बूनदभाण्डभृद्भिर्युक्तं चतुर्भिर्निभृतैस्तुरङ्गैः।
अक्लीवविद्वच्छुचिरश्मिधारं हिरण्मयं स्यन्दनमारुरोह ॥ ८॥

तब वह सुवर्ण-आभरण धारण करनेवाले चार शिक्षित तुरंगोंसे युक्त सुवर्ण-रथपर सवार हुआ, जिसका सराथि बलवान्, विद्वान् और पवित्र था ॥ ८ ॥

ततः प्रकीर्णोज्ज्वलपुष्पजालं विषक्तमाल्यं प्रचलत्पताकम्।
मार्गं प्रपेदे सदृशानुयात्रश्चन्द्रः सनक्षत्र इवान्तरिक्षम् ॥ ९॥

तब जिस मार्गपर उजले फूल बिखरे हुए थे, मालाएँ लटक रही थीं, और पताकाएँ फहरा रही थीं उसपर वह योग्य अनुचरोंके साथ आया, जैसे आकाशमें नक्षत्रोंके साथ चन्द्रमा (आवे) ॥ ९ ॥

कौतूहलात्स्फीततरैश्च नेत्रैर्नीलोत्पलार्धैरिव कीर्यमाणम्।
शनैः शनैः राजपथं जगाहे पौरैः समन्तादभिवीक्ष्यमाणः ॥१०॥

कौतूहलसे अति-विकसित आँखें, जो आधे-आधे नीले कमलोंके समान थीं, जिस राज-पथपर बिखर रही थीं उसपर चारों ओर पुरवासियों द्वारा देखे जाते हुए उसने धीरे-धीरे प्रवेश किया ॥१०॥

तं तुष्टुवुः सौम्यगुणेन केचिद्ववन्दिरे दीप्ततया तथान्ये।
सौमुख्यतस्तु श्रियमस्य केचिद्वैपुल्यमाशंसिषुरायुषश्च ॥११॥

कतिपयोंने उसके सौम्य-गुणके लिए उसकी स्तुति की तथा दूसरोंने दीप्तिके लिए उसकी वन्दना की; किन्तु उसकी अनुकूलताके कारण कतिपयोंने उसके लिए लक्ष्मी और दीर्घायुकी कामना की ॥११॥

निःसृत्य कुब्जाश्च महाकुलेभ्यो व्यूहाश्च कैरातकवामनानाम् ।
नार्यः कृशेभ्यश्च निवेशनेभ्यो देवानुयानध्वजवत्प्रणेमुः ॥१२॥

बड़े-बड़े कुलोंसे झुण्ड-के-झुण्ड कुबड़े किरात व वामन तथा छोटे-छोटे घरोंसे स्त्रियाँ निकल आईं। उन सबने उसे वैसे ही प्रणाम किया, जैसे (इन्द्र-) देवके जुलूसकी ध्वजा को ॥१२॥

ततः कुमारः खलु गच्छतीति श्रुत्वा स्त्रियः प्रेष्यजनात्प्रवृत्तिम् ।
दिदृक्षया हर्म्यतलानि जग्मुर्जनेन मान्येन कृताभ्यनुज्ञाः ॥१३॥

तब "कुमार जा रहा है" यह समाचार नौकरोंसे सुनकर स्त्रियाँ गुरु-जनसे आज्ञा पाकर, उसे देखनेकी इच्छासे प्रासाद-तलपर गईं ॥१३॥

ताः स्रस्तकाञ्चीगुणविघ्निताश्च सुप्तप्रबुद्धाकुललोचनाश्च ।
वृत्तान्तविन्यस्तविभूषणाश्च कौतूहलेनानिभृताः परीयुः ॥१४॥

गिरती करधनीसे उन्हें बाधा हुई, सोकर उठनेसे उनकी आँखें आकुल थीं, समाचार सुनकर उन्होंने गहने पहने, कौतूहलके कारण अविनीत होकर वे गईं ॥१४॥

प्रासादसोपानतलप्रणादैः काञ्चीरवैर्नूपुरनिस्वनैश्च ।
वित्रासयन्त्यो गृहपक्षिसङ्घानन्योन्यवेगांश्च समाक्षिपन्त्यः ॥१५॥

महलके सोपानपर पद-तलोंके निनादसे, करधनियोंके शब्दसे और नूपुरोंकी ध्वनिसे घरेलू पक्षियोंके झुण्डोंको डराती हुई तथा एक दूसरेके वेगपर आक्षेप करती हुई (वे गईं) ॥१५॥

कासाञ्चिदासां तु वराङ्गनानां जातत्वराणामपि सोत्सुकानाम् ।
गतिं गुरुत्वाज्जगृहुर्विशालाः श्रोणीरथाः पीनपयोधराश्च ॥१६॥

उत्सुक होकर शीघ्रता करनेपर भी उन उत्तम स्त्रियोंमेंसे कतिपयोंकी गतिको उनके अपने ही विशाल नितम्बों और पीन पयोधरोंने रोका ॥१६॥

शीघ्रं समर्थापि तु गन्तुमन्या गतिं निजग्राह ययौ न तूर्णम् ।
ह्रियाप्रगल्भा विनिगूहमाना रहःप्रयुक्तानि विभूषणानि ॥१७॥

शीघ्र जानेमें समर्थ होनेपर भी दूसरीने अपनी चालको रोक लिया और वह तेजीसे नहीं गई, वह संकोचशीला एकान्तमें पहने गहनोंको लाजसे छिपाने लगी ॥१७॥

परस्परोत्पीडनपिण्डितानां संमर्दसंक्षोभितकुण्डलानाम्।
तासां तदा सस्वनभूषणानां वातायनेष्वप्रशमो बभूव ॥१८॥

परस्पर उत्पीड़ित होती हुई वे इकट्ठी हुईं, एक दूसरेकी रगड़से उनके कुण्डल चञ्चल हुए, उनके गहने बज रहे थे। अतः उस समय खिड़कियोंपर अशान्ति हुई ॥१८॥

वातायनेभ्यस्तु विनिःसृतानि परस्परायासितकुण्डलानि।
स्त्रीणां विरेजुर्मुखपङ्कजानि सक्तानि हर्म्येष्विव पङ्कजानि ॥१९॥

खिड़कियोंसे निकले हुए स्त्रियोंके मुख-कमल, जो एक दूसरेके कुण्डल संक्षुब्ध कर रहे थे, ऐसे शोभित हुए जैसे महलोंमें कमल लगे हों ॥१९॥

ततो विमानैर्युवतीकरालैः कौतूहलोद्घाटितवातयानैः।
श्रीमत्समन्तान्नगरं बभासे वियद्विमानैरिव साप्सरोभिः ॥२०॥

तब उन विमानों (महलों) से, जो युवतियोंसे दन्तुर लगते थे (अर्थात् दाँत निकालकर हँस रहे थे) और कौतूहलसे जिनके झरोखे खोल दिये गये थे, वह श्री-सम्पन्न नगर चारों ओर इस प्रकार भासित हुआ जिस प्रकार अप्सरा-युक्त देव-प्रासादोंसे स्वर्ग ॥२०॥

वातायनानामविशालभावादन्योन्यगण्डार्पितकुण्डलानाम् ।
मुखानि रेजुः प्रमदोत्तमानां बद्धाः कलापा इव पङ्कजानाम् ॥२१॥

खिड़कियाँ बड़ी-बड़ी नहीं होनेके कारण जो उत्तम प्रमदाएँ एक दूसरेके गालोंपर अपने कुण्डल रक्खे हुए थीं, उनके मुख ऐसे विराजे, जैसे कमलोंके बँधे हुए गुच्छे हों ॥२१॥

तं ताः कुमारं पथि वीक्षमाणाः स्त्रियो बभुर्गामिव गन्तुकामाः।
ऊर्ध्वोन्मुखाश्चैनमुदीक्षमाणा नरा बभुर्द्यामिव गन्तुकामाः ॥२२॥

उस कुमारको मार्गमें जाते देखकर स्त्रियोंने मानो (महलोंसे) पृथ्वीपर जानेकी कामना की और ऊपर मुख उठाकर उसे देखते हुए पुरुषोंने मानो आकाशमें जानेकी कामना की ॥२२॥

दृष्ट्वा च तं राजसुतं स्त्रियस्ता जाज्वल्यमानं वपुषा श्रिया च।
धन्यास्यभार्येति शनैरवोचञ्शुद्धैर्मनोभिः खलु नान्यभावात् ॥२३॥

सौन्दर्य और विभूतिसे चमकते हुए राजाके उस पुत्रको देखकर स्त्रियोंने शुद्ध मनसे, निश्चय ही अन्य भावसे नहीं, धीरे-धीरे कहा—"धन्य है इसकी भार्या" ॥२३॥

अयं किल व्यायतपीनबाहू रूपेण साक्षादिव पुष्पकेतुः।
त्यक्त्वा श्रियं धर्ममुपैष्यतीति तस्मिन् हि ता गौरवमेव चक्रुः ॥२४॥

लम्बी व मोटी बाहुवाला यह कुमार, जो रूपमें साक्षात् पुष्पकेतु (कामदेव) के समान है, लक्ष्मीको छोड़कर धर्मके समीप जायगा—इस प्रकार उन्होंने उसका गौरव ही किया ॥२४॥

कीर्णं तथा राजपथं कुमारः पौरैर्विनीतैः शुचिधीरवेषैः।
तत्पूर्वमालोक्य जहर्ष किञ्चिन्मेने पुनर्भावमिवात्मनश्च ॥२५॥

शुचि और धीर वेषवाले विनीत पुर-वासियोंसे उस प्रकार भरे हुए राज-पथको पहले पहल देखकर, वह प्रसन्न हुआ और उसने अपना कुछ पुनर्जन्म-सा माना ॥ २५ ॥

पुरं तु तत्स्वर्गमिव प्रहृष्टं शुद्धाधिवासाः समवेक्ष्य देवाः।
जीर्णं नरं निर्ममिरे प्रयातुं संचोदनार्थं क्षितिपात्मजस्य ॥२६॥

उस नगरको स्वर्गके समान प्रसन्न देखकर, शुद्धाधिवास देवोंने एक वृद्ध पुरुषको बनाया कि वह राजाके पुत्रको (घरसे वनको) प्रयाण करनेके लिए प्रेरित करे ॥ २६ ॥

ततः कुमारो जरयाभिभूतं दृष्ट्वा नरेभ्यः पृथगाकृतिं तम्।
उवाच सङ्ग्राहकमागतास्थस्तत्रैव निष्कम्पनिविष्टदृष्टिः ॥२७॥

तब कुमारने जरा (=वृद्धावस्था)से अभिभूत उस पुरुषको जिसकी आकृति (अन्य) पुरुषोंसे पृथक् थी, देखा और उसीको निर्निमेष दृष्टिसे देखते हुए ध्यानमें आकर उसने सारथिसे कहाः—॥ २७ ॥

क एष भोः सूत नरोऽभ्युपेतः केशैः सितैर्यष्टिविषक्तहस्तः।
भ्रूसंवृताक्षः शिथिलानताङ्गः किं विक्रियैषा प्रकृतिर्यदृच्छा ॥२८॥

"हे सारथि, यह कौन पुरुष आया ? इसके केश सफेद हैं, हाथमें लाठी है, भौंहोंसे आँखें ढकी हैं, अंग ढीले व झुके हैं। क्या यह विकार है ? या स्वभाव ! या संयोग ?" ॥ २८ ॥

इत्येवमुक्तः स रथप्रणेता निवेदयामास नृपात्मजाय।
संरक्ष्यमप्यर्थमदोषदर्शी तैरेव देवैः कृतबुद्धिमोहः ॥२९॥

ऐसा कहे जानेपर उस सारथिने राजाके पुत्रसे गोपनीय बात भी निवेदन कर दी, इसमें अपना दोष नहीं देखा, उन्हीं देवोंने उसका बुद्धि-मोह जो कर दिया था ॥ २९ ॥

रूपस्य हन्त्री व्यसनं बलस्य शोकस्य योनिर्निधनं रतीनाम्।
नाशः स्मृतीनां रिपुरिन्द्रियाणामेषा जरा नाम ययैष भग्नः ॥३०॥

'रूपकी हत्या करनेवाली, बलकी विपत्ति, शोककी उत्पत्ति (-भूमि) आनन्दकी मृत्यु, स्मृतिका नाश करनेवाली, इन्द्रियोंका शत्रु यह जरा है, जिसने इसे भग्न कर दिया है ॥ ३० ॥

पीतं ह्यनेनापि पयः शिशुत्वे कालेन भूयः परिसृप्तमुर्व्याम्।
क्रमेण भूत्वा च युवा वपुष्मान् क्रमेण तेनैव जरामुपेतः ॥३१॥

बचपनमें इसने भी दूध पिया, फिर काल-क्रमसे पृथिवीपर पेटके बल चला, क्रमसे सुन्दर युवक हुआ, और उसी क्रमसे जराको प्राप्त हुआ है" ॥३१॥

इत्येवमुक्ते चलितः स किञ्चिद्राजात्मजः सूतमिदं बभाषे।
किमेष दोषो भविता ममापीत्यस्मै ततः सारथिरभ्युवाच ॥३२॥

ऐसा कहे जानेपर कुछ विचलित होकर उस राजात्मजने सारथिसे कहा— "क्या यह दोष मुझे भी होगा ?" तब सारथिने उसे कहाः— ॥ ३२ ॥

आयुष्मतोऽप्येष वयःप्रकर्षो निःसंशयं कालवशेन भावी।
एवं जरां रूपविनाशयित्रीं जानाति चैवेच्छति चैव लोकः ॥३३॥

"आप आयुष्मान्‌की भी यह वृद्धावस्था कालवश निःसंदेह होगी। ऐसी रूप-विनाशिनी जराको लोग जानते हैं और इसे चाहते हैं" ॥३३॥

ततः स पूर्वाशयशुद्धबुद्धिर्विस्तीर्णकल्पाचितपुण्यकर्मा।
श्रुत्वा जरां संविविजे महात्मा महाशनेर्घोषमिवान्तिके गौः ॥३४॥

तब वह महात्मा, पूर्वके विचारोंसे जिसकी बुद्धि शुद्ध हो गई थी, और अनेक कल्पोंमें जिसके पुण्य कर्म एकत्र हुए थे, जराको सुनकर वैसे ही संविग्न हुआ, जैसे समीपमें महावज्रका शब्द सुनकर गाय ॥ ३४ ॥

निःश्वस्य दीर्घं स्वशिरः प्रकम्प्य तस्मिंश्च जीर्णे विनिवेश्य चक्षुः।
तां चैव दृष्ट्वा जनतां सहर्षां वाक्यं स संविग्न इदं जगाद ॥३५॥

लम्बी साँस लेकर, अपना शिर कँपाकर, उस वृद्धकी ओर दृष्टि लगाये हुए, उस जनताको प्रसन्न देखकर, उस संविग्नने यह वाक्य कहा:—॥३५॥

एवं जरा हन्ति च निर्विशेषं स्मृतिं च रूपं च पराक्रमं च।
न चैव संवेगमुपैति लोकः प्रत्यक्षतोऽपीदृशमीक्षमाणः ॥३६॥

"इस प्रकार जरा, स्मृति रूप और पराक्रमकी विना भेद-भावके हत्या करती है; और प्रत्यक्ष ऐसा देखते हुए भी लोगोंको संवेग नहीं होता है ॥३६॥

एवं गते सूत निवर्तयाश्वान् शीघ्रं गृहाण्येव भवान्प्रयातु।
उद्यानभूमौ हि कुतो रतिर्मे जराभये चेतसि वर्तमाने ॥३७॥

ऐसा होनेपर, हे सारथि, घोड़ोंको लौटाइये, शीघ्र घरको ही आप चलें; चित्तमें जराका भय रहनेपर उद्यान-भूमिमें मुझे कहाँसे आनन्द होगा ?" ॥३७॥

अथाज्ञया भर्तृसुतस्य तस्य निवर्तयामास रथं नियन्ता।
ततः कुमारो भवनं तदेव चिन्तावशः शून्यमिव प्रपेदे ॥३८॥

अनन्तर उस स्वामि पुत्रकी आज्ञासे सारथिने रथको लौटाया। तब कुमार उसी महलमें पहुँचा, जो उस चिन्तितके लिए शून्य सा था ॥३८॥

यदा तु तत्रैव न शर्म लेभे जरा जरेति प्रपरीक्षमाणः।
ततो नरेन्द्रानुमतः स भूयः क्रमेण तेनैव बहिर्जगाम ॥३९॥

"जरा-जरा (क्या है)" इस प्रकार (इसे) परखते हुए जब उसने वहाँ भी शान्ति नहीं पाई, तब राजाकी अनुमतिसे वह फिर उसी क्रमसे बाहर गया ॥३९॥

अथापरं व्याधिपरीतदेहं त एव देवाः ससृजुर्मनुष्यम्।
दृष्ट्वा च तं सारथिमाबभाषे शौद्धोदनिस्तद्गतदृष्टिरेव ॥४०॥

तब उन्हीं देवोंने रोगसे ग्रस्त देहवाले दूसरे मनुष्यका सृजन किया

और उसे देखकर शुद्धोदनके पुत्रने उसीकी ओर दृष्टि किये हुए सारथिसे कहाः—॥४०॥

स्थूलोदरः श्वासचलच्छरीरः स्रस्तांसबाहुः कृशपाण्डुगात्रः ।
अम्बेति वाचं करुणं ब्रुवाणः परं समाश्रित्य नरः क एषः ॥४१॥

"यह कौन मनुष्य है? इसका पेट फूला हुआ है, साँससे शरीर काँप रहा है, कन्धे और बाहुएँ ढीली हैं, गात दुबला और पीला है। दूसरेका सहारा लेकर करुण स्वरसे 'माँ माँ' कह रहा है ॥४१॥

ततोऽब्रवीत्सारथिरस्य सौम्य धातुप्रकोपप्रभवः प्रवृद्धः ।
रोगाभिधानः सुमहाननर्थः शक्तोऽपि येनैष कृतोऽस्वतन्त्रः ॥४२॥

तब सारथिने इसे कहा—"हे सौम्य (त्रि-) धातु-प्रकोपसे उत्पन्न होकर बढ़ा हुआ यह रोगनामक महा-अनर्थ है, जिसने इस शक्तिमान्‌को भी परतन्त्र कर दिया है" ॥४२॥

इत्यूचिवान् राजसुतः स भूयस्तं सानुकम्पो नरमीक्षमाणः ।
अस्यैव जातो पृथगेष दोषः सामान्यतो रोगभयं प्रजानाम् ॥४३॥

उस मनुष्यको अनुकम्पाके साथ देखते हुए उस नृपात्मजने पुनः पूछा—"यह दोष केवल इसीको हुआ है या रोगका भय समान रूपसे (सब) प्रजाओं को है?" ॥४३॥

ततो बभाषे स रथप्रणेता कुमार साधारण एष दोषः ।
एवं हि रोगैः परिपीड्यमानो रुजातुरो हर्षमुपैति लोकः ॥४४॥

तब वह सारथि बोला—"हे कुमार, यह दोष साधारण है। इस प्रकार रोगोंसे परिपीड़ित होता हुआ, कष्टसे आतुर संसार हर्षको प्राप्त होता है" ॥४४॥

इति श्रुतार्थः स विषण्णचेताः प्रावेपताम्बूर्मिगतः शशीव ।
इदं च वाक्यं करुणायमानः प्रोवाच किञ्चिन्मृदुना स्वरेण ॥४५॥

यह व्याख्या सुनकर, वह विषण्ण-चित्त (हो गया और) जल-तरंगमें पड़ते चन्द्र (-प्रतिबिम्ब) के समान काँपने लगा और दयासे द्रवीभूत होते हुए उसने कुछ मृदु स्वरसे यह वाक्य कहाः—॥४५॥

४२—त्रिधातु = कफ, पित्त, वायु ।

इदं च रोगव्यसनं प्रजानां पश्यंश्च विश्रम्भमुपैति लोकः।
विस्तीर्णमज्ञानमहो नराणां हसन्ति ये ,रोगभयैरमुक्ताः ॥४६॥

"प्रजाओंकी यह रोगरूप विपत्ति देखते हुए भी संसार विश्वस्त (=निर्भीक) रहता है। अहो, (कितना) विशाल अज्ञान है (इन) मनुष्योंका, जो रोग-भयसे अमुक्त होकर भी हँस रहे हैं ॥४६॥

निवर्त्यतां सूत बहिःप्रयाणान्नरेन्द्रसद्मैव रथः प्रयातु।
श्रुत्वा च मे रोगभयं रतिभ्यः प्रत्याहतं संकुचतीव चेतः ॥४७॥

हे सारथि, बाहर जानेसे रथको लौटाइये, यह राज-महलको ही चले। और रोग-भय सुनकर विषयोंसे प्रत्याहत मेरा मन सिकुड़-सा रहा है" ॥४७॥

ततो निवृत्तः स निवृत्तहर्षः प्रध्यानयुक्तः प्रविवेश वेश्म।
तं द्विस्तथा प्रेक्ष्य च संनिवृत्तं पर्येषणं भूमिपतिश्चकार ॥४८॥

तब हर्ष-रहित होकर वह लौटा, चिन्तित होकर अपने महलमें घुसा। और, उसे दो बार उस प्रकार लौटा देखकर, राजाने जिज्ञासा की ॥४८॥

श्रुत्वा निमित्तं तु निवर्तनस्य संत्यक्तमात्मानमनेन मेने।
मार्गस्य शौचाधिकृताय चैव चुक्रोश रुष्टोऽपि च नोग्रदण्डः ॥४९॥

लौटनेका कारण सुनकर उसने अपनेको उससे परित्यक्त माना। और मार्गके शौचाधिकारीकी भर्त्सना की, रुष्ट होनेपर भी वह उग्रदण्ड नहीं हुआ अर्थात् कठोर दण्ड नहीं दिया ॥४९॥

भूयश्च तस्मै विदधे सुताय विशेषयुक्तं विषयप्रचारम्।
चलेन्द्रियत्वादपि नाम सक्तो नास्मान्विजह्यादिति नाथमानः ॥५०॥

और फिर उस पुत्रके लिए विशेष विषय-सेवनका प्रबन्ध किया, इस आशासे कि—"शायद इन्द्रिय-चञ्चलताके कारण (विषयोंमें) आसक्त होकर (यह) हमें न छोड़े" ॥५०॥

यदा च शब्दादिभिरिन्द्रियार्थैरन्तःपुरे नैव सुतोऽस्य रेमे।
ततो बहिर्व्यादिशति स्म यात्रां रसान्तरं स्यादिति मन्यमानः ॥५१॥

और जब शब्द आदि इन्द्रिय-विषयोंसे अन्तःपुरमें उसके पुत्रको आनन्द नहीं हुआ, तब (राजाने) बाहर यात्रा करनेका आदेश दिया, यह समझते हुए कि (इससे कहीं) रुचि-परिवर्तन हो जाय ॥५१॥

स्नेहाच्च भावं तनयस्य बुद्ध्वा स रागदोषानविचिन्त्य कांश्चित्।
योग्याः समाज्ञापयति स्म तत्र कलास्वभिज्ञा इति वारमुख्याः ॥५२॥

और स्नेहसे पुत्रका भाव समझकर तथा रागके किन्हीं दोषोंका बिना विचार किए ही उसने कलाओंमें निपुण योग्य वारमुख्यों (= सम्मानित वेश्याओं) को वहाँ (रहनेकी) आज्ञा दी ॥५२॥

ततो विशेषेण नरेन्द्रमार्गे स्वलंकृते चैव परीक्षिते च।
व्यत्यस्य सूतं च रथं च राजा प्रस्थापयामास बहिः कुमारम् ॥५३॥

तब विशेषताके साथ राज-मार्ग अलङ्कृत और परीक्षित होनेपर, सारथि एवं रथको बदलकर राजाने कुमारको बाहर प्रस्थान कराया ॥५३॥

ततस्तथा गच्छति राजपुत्रे तैरेव देवैर्विहितो गतासुः।
तं चैव मार्गे मृतमुह्यमानं सूतः कुमारश्च ददर्श नान्यः ॥५४॥

जब राजाका पुत्र उस प्रकार जा रहा था, तब उन्हीं देवोंने एक निष्प्राण (व्यक्ति) को बनाया। और, मार्गमें ढोये जाते उस मरे हुए को सारथि और कुमार ने देखा, दूसरे किसी ने नहीं ॥५४॥

अथाब्रवीद्राजसुतः स सूतं नरैश्चतुर्भिर्ह्रियते क एषः।
दीनैर्मनुष्यैरनुगम्यमानो (वि)भूषितश्चाप्यवरुद्यते च ॥५५॥

तब उस राज-कुमारने सारथि से कहा—"यह कौन है ? इसे चार पुरुष लिये जा रहे हैं, दीन मनुष्य इसके पीछे-पीछे जा रहे हैं, और विशेषतासे भूषित होनेपर भी इसके लिए रोया जा रहा है" ॥५५॥

ततः स शुद्धात्मभिरेव देवैः शुद्धाधिवासैरभिभूतचेताः।
अवाच्यमप्यर्थमिमं नियन्ता प्रव्याजहारार्थवदीश्वराय ॥५६॥

तब शुद्ध स्वभाववाले शुद्धाधिवास देवोंने जिसका चित्त अभिभूतकर दिया था उस सारथिने यह अवाच्य बात भी (उस) नर-श्रेष्ठ से कही:—॥५६॥

बुद्धीन्द्रियप्राणगुणैर्वियुक्तः सुप्तो विसंज्ञस्तृणकाष्ठभूतः।
संवर्ध्य संरक्ष्य च यत्नवद्भिः प्रियप्रियैस्त्यज्यत एष कोऽपि ॥५७॥

"यह कोई है, जो बुद्धि इन्द्रियों प्राणों और गुणोंसे वियुक्त, (सदाके लिए) सोया हुआ और संज्ञा-हीन है, तथा तृण एवं काष्ठ (के समान)

हो गया है। प्रयत्नपूर्वक संवर्धन और संरक्षण करके भी प्रिय (स्व-) जन इसे छोड़ रहे हैं" ॥५७॥

इति प्रणेतुः स निशम्य वाक्यं संचुक्षुभे किञ्चिदुवाच चैनम्।
किं केवलोऽस्यैव जनस्य धर्मः सर्वप्रजानामयमीदृशोऽन्तः ॥५८॥

सारथिका वाक्य सुनकर, वह कुछ संक्षुब्ध हुआ और उसे कहा—"क्या यह धर्म केवल इसी मनुष्य का है या सब प्रजाओं (=जीवों)का अन्त ऐसा ही है?" ॥५८॥

ततः प्रणेता वदति स्म तस्मै सर्वप्रजानामिदमन्तकर्म।
हीनस्य मध्यस्य महात्मनो वा सर्वस्य लोके नियतो विनाशः ॥५९॥

तब सारथिने उससे कहा—"सब प्रजाओं (=जीवों)का यह अन्तिम कर्म है। हीन मध्य या महात्माका, संसारमें सबका, विनाश नियत है" ॥५९॥

ततः स धीरोऽपि नरेन्द्रसूनुः श्रुत्वैव मृत्युं विषसाद सद्यः।
अंसेन संश्लिष्य च कूबराग्रं प्रोवाच निह्लादवता स्वरेण ॥६०॥

तब धीर होनेपर भी उस राजकुमार को, मृत्यु- (की बात) सुनकर, तुरत विषाद हो गया। और कन्धेसे कूबरके अग्रभागका सहारा लेकर, उसने गम्भीर स्वर से कहाः—॥६०॥

इयं च निष्ठा नियता प्रजानां प्रमाद्यति त्यक्तभयश्च लोकः।
मनांसि शङ्के कठिनानि नृणां स्वस्थास्तथा ह्यध्वनि वर्तमानाः ॥६१॥

"प्रजाओंका यह विनाश नियत है और संसार भय छोड़कर असावधानी कर रहा है। मनुष्योंके मन, मैं सोचता हूँ, कठोर हैं, क्योंकि (मृत्यु-) मार्गमें रहते हुए वे उस प्रकार सुखी हैं ॥६१॥

तस्माद्रथः सूत निवर्त्यतां नो विहारभूमेर्न हि देशकालः।
जानन्विनाशं कथमार्तिकाले सचेतनः स्यादिह हि प्रमत्तः ॥६२॥

इसलिए, हे सारथि, हमारे रथको लौटाइये, विहार-भूमि (में जाने)का (यह) देश-काल नहीं है। अपना विनाश जानता हुआ (कोई भी) बुद्धिमान् संकट-कालमें कैसे असावधान हो सकता है?" ॥६२॥

६०—कूबर = रथका कोई भाग।

इति ब्रुवाणेऽपि नराधिपात्मजे निवर्तयामास स नैव तं रथम्।
विशेषयुक्तं तु नरेन्द्रशासनात्स पद्मषण्डं वनमेव निर्ययौ ॥६३॥

राज-पुत्रके ऐसा बोलते रहनेपर भी उसने रथको नहीं लौटाया, किन्तु राजाकी आज्ञासे वह पद्मषण्ड वनको निकल गया, जो विशेषतासे युक्त था ॥६३॥

ततः शिवं कुसुमितबालपादपं परिभ्रमत्प्रमुदितमत्तकोकिलम्।
विमानवत्स कमलचारुदीर्घिकं ददर्श तद्वनमिव नन्दनं वनम् ॥६४॥

तब उसने कुसुमित बाल-पादपों, घूमते हुए प्रमुदित मत्त कोकिलों, विमानों, तथा कमलोंके सुन्दर पोखरोंसे युक्त उस भव्य वनको देखा, जो नन्दन-वनके समान था ॥ ६४ ॥

वराङ्गनागणकलिलं नृपात्मजस्ततो बलाद्वनमतिनीयते स्म तत्।
वराप्सरोवृतमलकाधिपालयं नवव्रतो मुनिरिव विघ्नकातरः ॥६५॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्ये संवेगोत्पत्तिर्नाम तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

तब श्रेष्ठ स्त्रियोंसे भरे वनमें राजाका पुत्र बलात् ले जाया गया, जैसे श्रेष्ठ अप्सराओंसे पूर्ण कुबेर-प्रासादमें नया व्रतवाला विघ्न-कातर मुनि (बलात् ले जाया जा रहा हो) ॥ ६५ ॥

बुद्धचरित महाकाव्यका "संवेग-उत्पत्ति" नामक
तृतीय सर्ग समाप्त ।

६५—विघ्न-कातर = विघ्न (पड़नेके भय) से कातर ।

चतुर्थ सर्ग

स्त्री-निवारण

ततस्तस्मात्पुरोद्यानात्कौतूहलचलेक्षणाः ।
प्रत्युज्जग्मुर्नृपसुतं प्राप्तं वरमिव स्त्रियः ॥ १ ॥

तब उस नगर-उद्यानसे निकलकर कौतूहलसे चञ्चल आँखोंवाली स्त्रियोंने राजाके पुत्रकी, मानो आये हुए वरकी, अगवानीकी ॥ १ ॥

अभिगम्य च तास्तस्मै विस्मयोत्फुल्ललोचनाः ।
चक्रिरे समुदाचारं पद्मकोशनिभैः करैः ॥ २ ॥

समीप आकर उन्होंने, जिनकी आँखें विस्मयसे विकसित हो गईं, पद्मकोश-सदृश हाथों (के सम्पुटों) से उसका सत्कार किया ॥ २ ॥

तस्थुश्च परिवार्यैनं मन्मथाक्षिप्तचेतसः ।
निश्चलैः प्रीतिविकचैः पिबन्त्य इव लोचनैः ॥ ३ ॥

और कामसे आकृष्ट चित्तवाली वे (स्त्रियाँ) उसे घेरकर प्रीतिसे विकसित हुई निश्चल आँखोंसे उसे मानो पीती रहीं (अर्थात् उसकी रूप-सुधाका पान करती रहीं) ॥ ३ ॥

तं हि ता मेनिरे नार्यः कामो विग्रहवानिति ।
शोभितं लक्षणैर्दीप्तैः सहजैर्भूषणैरिव ॥ ४ ॥

उज्ज्वल लक्षणोंसे, मानो स्वाभाविक भूषणोंसे, शोभित उस (कुमार)को उन नारियोंने मूर्त्त कामदेव माना ॥ ४ ॥

सौम्यत्वाच्चैव धैर्याच्च काश्चिदेनं प्रजज्ञिरे ।
अवतीर्णो महीं साक्षाद् गूढांशुश्चन्द्रमा इति ॥ ५ ॥

उसकी सौम्यता और धैर्यसे कतिपयोंने उसे पृथ्वीपर अवतीर्ण साक्षात् चन्द्रमा माना, जिसकी किरणें गुप्त थीं ॥५॥

तस्य ता वपुषाक्षिप्ता निगृहीतं जजृम्भिरे।
अन्योन्यं दृष्टिभिर्हत्वा शनैश्च विनिशश्वसुः ॥६॥

उसके रूपसे आकृष्ट होकर, उन्होंने (हाथोंसे मुँह) पकड़े हुए जँभाई ली और एक दूसरेके ऊपर दृष्टिसे प्रहार कर धीरे-धीरे साँसें लीं ॥६॥

एवं ता दृष्टिमात्रेण नार्यो ददृशुरेव तम्।
न व्याजह्रुर्न जहसुः प्रभावेणास्य यन्त्रिताः ॥७॥

इस प्रकार उन स्त्रियोंने केवल आँखोंसे उसे देखा और उसके प्रभावके वशमें होकर, वे न (कुछ) बोलीं, न हँसीं ॥७॥

तास्तथा तु निरारम्भा दृष्ट्वा प्रणयविक्लवाः।
पुरोहितसुतो धीमानुदायी वाक्यमब्रवीत् ॥८॥

उन्हें उस प्रकारसे (कुछ) आरम्भ नहीं करती तथा प्रेमविह्वल देखकर, पुरोहित-पुत्र बुद्धिमान् उदायीने ये वचन कहेः—॥८॥

सर्वाः सर्वकलाज्ञाः स्थ भावग्रहणपण्डिताः।
रूपचातुर्यसम्पन्नाः स्वगुणैर्मुख्यतां गताः ॥९॥

"तुम सब सब कलाओंमें निपुण हो, भाव जाननेमें निपुण हो, रूप और चतुराईसे युक्त हो, अपने गुणोंसे मुख्यताको प्राप्त हो ॥९॥

शोभयेत गुणैरेभिरपि तानुत्तरान् कुरून्।
कुबेरस्यापि चाक्रीडं प्रागेव वसुधामिमाम् ॥१०॥

इन गुणोंसे उत्तरकुरुओंको भी शोभित कर सकती हो, कुबेरके उद्यानको भी, इस वसुधाको तो पहले ही ॥१०॥

शक्ताश्चालयितुं यूयं वीतरागानृषीनपि।
अप्सरोभिश्च कलितान् ग्रहीतुं विबुधानपि ॥११॥

तुम लोग वीतराग ऋषियोंको भी चलायमान कर सकती हो और अप्सराओंके वशीभूत देवोंको भी आकृष्ट कर सकती हो ॥११॥

१०—उत्तरकुरु एक वर्गाकार द्वीप है, जो मेरुके उत्तर भागमें स्थित है —अ० को० ३।५५

भावज्ञानेन हावेन रूपचातुर्यसम्पदा ।
स्त्रीणामेव च शक्ताः स्थ संरागे किं पुनर्नृणाम् ॥१२॥

भाव-ज्ञानसे, हाव-भावसे, तथा रूप व चतुरताकी सम्पत्तिसे स्त्रियोंको भी अनुरक्त कर सकती हो, फिर पुरुषोंका क्या कहना ॥१२॥

तासामेवंविधानां वो वियुक्तानां स्वगोचरे ।
इयमेवंविधा चेष्टा न तुष्टोऽस्म्यार्जवेन वः ॥१३॥

ऐसी तुम लोगोंमेंसे उनका, जो अपने अपने विषय (= अधिकार-क्षेत्र) में जुट नहीं रही हैं, यह ऐसा आचरण ! तुम लोगोंकी सरलतासे मैं सन्तुष्ट नहीं हूँ ॥१३॥

इदं नववधूनां वो ह्रीनिकुञ्चितचक्षुषाम् ।
सदृशं चेष्टितं हि स्यादपि वा गोपयोषिताम् ॥१४॥

तुम लोगोंका यह आचरण लाजसे आँख मींचनेवाली नव-वधुओं या गोप-स्त्रियोंके योग्य है ॥१४॥

यदपि स्यादयं धीरः श्रीप्रभावान्महानिति ।
स्त्रीणामपि महत्तेज इतः कार्योऽत्र निश्चयः ॥१५॥

यद्यपि यह धीर तथा बड़ा ही श्रीमान् और तेजस्वी हो सकता है, स्त्रियोंका भी तेज महान् है । इसलिए इस (विषय) में निश्चय करो ॥१५॥

पुरा हि काशिसुन्दर्या वेशवध्वा महानृषिः ।
ताडितोऽभूत्पदा व्यासो दुर्धर्षो देवतैरपि ॥१६॥

प्राचीनकालमें काशि-सुन्दरी (नामक) वेश्याने महर्षि व्यासको, जो देवताओंके लिए भी दुर्धर्ष था, पाँवसे मारा ॥१६॥

मन्थालगौतमो भिक्षुर्जङ्घया वारमुख्यया ।
पिप्रीषुश्च तदर्थार्थं व्यसून्निरहरत्पुरा ॥१७॥

१७—भज् + सन् + उ = भिक्षुः । सम्भवतः उस वेश्याके यहाँ आनेवाले धनवान् पुरुषोंकी धनके लोभसे हत्या की जाती होगी और मन्थाल गौतम शवोंको ढोता होगा । यह श्लोक प्रक्षिप्त जान पड़ता है ।

पूर्वकालमें जङ्घा नामक वेश्यासे सम्भोग करनेकी इच्छासे और उसे प्रसन्न करनेकी इच्छासे, मन्थाल गौतमने उसके धनके लिए लाशोंको ढोया ॥१७॥

गौतमं दीर्घतपसं महर्षिं दीर्घजीविनम् ।
योषित्सन्तोषयामास वर्णस्थानावरा सती ॥१८॥

दीर्घतपस गौतम (नामक) महर्षिको, जो दीर्घकालतक जीवन धारण कर चुका था, नीच वर्ण व स्थितिकी स्त्रीने संतुष्ट किया ॥१८॥

ऋष्यशृङ्गं मुनिसुतं तथैव स्त्रीष्वपण्डितम् ।
उपायैर्विविधैः शान्ता जग्राह च जहार च ॥१९॥

उसी प्रकार मुनि-तनय ऋष्यशृङ्गको, जो स्त्रियों (के विषय) में अज्ञानी था, शान्ता विविध उपायोंसे पकड़कर ले गई ॥ १९ ॥

विश्वामित्रो महर्षिश्च विगाढोऽपि महत्तपः ।
दश वर्षाण्यहर्मेने घृताच्याप्सरसा हृतः ॥२०॥

महा-तपस्यामें अवगाहन करनेपर भी महर्षि विश्वामित्र घृताची अप्सराके द्वारा हरण किया गया और उस महर्षिने उसके साथ (विताये गये) दश वर्षोंको एक दिन माना ॥ २० ॥

एवमादीनृषींस्तांस्ताननयन्विक्रियां स्त्रियः ।
ललितं पूर्ववयसं किं पुनर्नृपतेः सुतम् ॥२१॥

इस प्रकारके उन अनेक ऋषियोंको स्त्रियोंने विकृत किया। फिर राजाके सुन्दर और तरुण पुत्रका क्या कहना ॥ २१ ॥

तदेवं सति विश्रब्धं प्रयतध्वं तथा यथा ।
इयं नृपस्य वंशश्रीरितो न स्यात्पराङ्मुखी ॥२२॥

ऐसा होनेपर विश्वासपूर्वक वैसा प्रयत्न करो जिससे राजाकी यह वंश-लक्ष्मी यहाँसे विमुख न हो जाय ॥२२॥

या हि काश्चिद्युवतयो हरन्ति सदृशं जनम् ।
निकृष्टोत्कृष्टयोर्भावं या गृह्णन्ति तु ताः स्त्रियः ॥२३॥

जो कोई भी युवतियाँ (अपने) सदृश जनका (चित्त) हरण कर सकती हैं; किन्तु निकृष्ट और उत्कृष्टके (मनो-) भावको जो आकृष्ट करती हैं वे ही (वास्तविक) स्त्रियाँ हैं" ॥ २३ ॥

इत्युदायिवचः श्रुत्वा ता विद्धा इव योषितः।
समारुरुहुरात्मानं कुमारग्रहणं प्रति ॥२४॥

उदायीके ये वचन सुनकर (बाण-) विद्ध-सी वे स्त्रियाँ कुमारको आकृष्ट करनेके लिए अपने ऊपर आरूढ़ हुई (तुल गईं) ॥२४॥

ता भ्रूभिः प्रेक्षितैर्हावैर्हसितैर्लडितैर्गतैः।
चक्रुराक्षेपिकाश्चेष्टा भीतभीता इवाङ्गनाः ॥२५॥

भय-भीत-सी उन स्त्रियोंने भौंहों, दृष्टि-पातों, हावों, हासों, विलासों और चालोंसे आकर्षक चेष्टाएँ कीं ॥२५॥

राज्ञस्तु विनियोगेन कुमारस्य च मार्दवात्।
जहुः क्षिप्रमविश्रम्भं मदेन मदनेन च ॥२६॥

राजाके आदेश और कुमारकी मृदुताके कारण मद व मदनके वश होकर उन्होंने शीघ्र ही अविश्वास छोड़ा ॥२६॥

अथ नारीजनवृतः कुमारो व्यचरद्वनम्।
वासितायूथसहितः करीव हिमवद्वनम् ॥२७॥

तब स्त्रियोंसे घिरे कुमारने वनमें विचरण किया, जैसे हथिनियोंके साथ हाथी हिमालयके वनमें ॥२७॥

स तस्मिन् कानने रम्ये जज्वाल स्त्रीपुरःसरः।
आक्रीड इव विभ्राजे विवस्वानप्सरोवृतः ॥२८॥

उस रम्य काननमें स्त्रियोंके आगे-आगे जानेवाला वह वैसे ही प्रज्वलित हुआ, जैसे विभ्राज (=वैभ्राज) उद्यानमें अप्सराओंसे घिरा विवस्वान् (=देवता या सूर्य) ॥२८॥

मदेनावर्जिता नाम तं काश्चित्तत्र योषितः।
कठिनैः पस्पृशुः पीनैः संहतैर्वल्गुभिः स्तनैः ॥२९॥

मदसे अवनत कुछ स्त्रियोंने अपने कठिन, पीन, दृढ़ और सुन्दर स्तनोंसे उसे स्पर्श किया ॥२९॥

स्रस्तांसकोमलालम्बमृदुबाहुलताबला।
अनृतं स्खलितं काचित्कृत्वैनं सस्वजे बलात् ॥३०॥

झुके हुए कन्धेसे कोमलतापूर्वक लटकती मृदु बाहुलताओंवाली किसी अबलाने बनावटी गिरना दिखाकर उसे बलात् आलिंगन किया ॥३०॥

काचित्ताम्राधरोष्ठेन मुखेनासवगन्धिना ।
विनिशश्वास कर्णेऽस्य रहस्यं श्रूयतामिति ॥३१॥

किसीने मदिरा-गन्ध-युक्त मुखसे, जिसका निचला होंठ ताम्रवर्ण का था, उसके कानमें धीरे-धीरे कहा—"रहस्य सुनिये" ॥३१॥

काचिदाज्ञापयन्तीव प्रोवाचार्द्रानुलेपना ।
इह भक्तिं कुरुष्वेति हस्तसंश्लेपलिप्सया ॥३२॥

गीला अनुलेपवाली किसीने (उसके) हाथका स्पर्श पानेकी इच्छासे मानो आज्ञा देते हुए कहा—"यहाँ भक्ति करो" ॥३२॥

मुहुर्मुहुर्मदव्याजस्रस्तनीलांशुकापरा ।
आलक्ष्यरशना रेजे स्फुरद्विद्युदिव क्षपा ॥३३॥

मदके बहाने बार-बार नीला अंशुक गिरानेवाली दूसरी स्त्री, जिसकी करधनी कुछ-कुछ दिखाई पड़ती थी, चमकती बिजलीवाली रातके समान शोभित हुई ॥३३॥

काश्चित्कनककाञ्चीभिर्मुखराभिरितस्ततः ।
बभ्रमुर्दर्शयन्त्योऽस्य श्रोणीस्तन्वंशुकावृताः ॥३४॥

मुखर सुवर्ण कटि-भूषणोंसे, महीन कपड़ोंसे ढँके अपने नितम्बोंको दिखाती हुई कोई इधर-उधर घूमीं ॥३४॥

चूतशाखां कुसुमितां प्रगृह्यान्या ललम्बिरे ।
सुवर्णकलशप्रख्यान्दर्शयन्त्यः पयोधरान् ॥३५॥

दूसरी (स्त्रियाँ) आमकी कुसुमित डाल पकड़कर, सुवर्ण-कलश सदृश अपने स्तनोंको दिखाती हुई, लटकीं ॥३५॥

३१—विनिशश्वास = साँसें छोड़ी, वचनसे नहीं कहकर साँसोंसे कहा अर्थात् इतना धीरे-धीरे कहा कि केवल साँसें ही सुन पड़ती थीं ।

३२—भक्ति = शोभाके लिए शरीरपर की जानेवाली रेखा-रचना; श्रद्धा, प्रेम ।

काचित्पद्मवनादेत्य सपद्मा पद्मलोचना।
पद्मवक्त्रस्य पार्श्वेऽस्य पद्मश्रीरिव तस्थुषी ॥३६॥

कोई कमलाक्षी कमल-वनसे कमलके साथ आकर उस कमल-मुखके पास कमलकी श्रीके समान खड़ी हुई ॥३६॥

मधुरं गीतमन्वर्थं काचित्साभिनयं जगौ।
तं स्वस्थं चोदयन्तीव वञ्चितोऽसीत्यवेक्षितैः ॥३७॥

किसीने स्पष्ट अर्थसे युक्त मधुर गीत अभिनयपूर्वक गाया, और उस स्वस्थको दृष्टि-पातोंसे उत्तेजित करते हुए मानो कहा—"तुम वञ्चित हो रहे हो" ॥३७॥

शुभेन वदनेनान्या भ्रूकार्मुकविकर्षिणा।
प्रावृत्यानुचक्रारस्य चेष्टितं धीरलीलया ॥३८॥

दूसरीने लौटकर भौंहरूप तीर खींचनेवाले सुन्दर मुखसे इसकी चेष्टाका स्थिर लीलासे अनुकरण किया ॥३८॥

पीनवल्गुस्तनी काचिद्धासाघूर्णितकुण्डला।
उच्चैरवजहासैनं समाप्नोतु भवानिति ॥३९॥

परिपूर्ण एवं सुन्दर स्तनोंवाली किसीने, जिसके कुण्डल उसकी हँसीसे हिल रहे थे, "आप समाप्त करें," यह कहते हुए, जोरोंसे उसका उपहास किया ॥३९॥

अपयान्तं तथैवान्या बबन्धुर्माल्यदामभिः।
काश्चित्साक्षेपमधुरैर्जगृहुर्वचनाङ्कुशैः ॥४०॥

उसी प्रकार दूसरीने (वहाँसे) हटते हुए (कुमार) को मालाओंकी डोरियोंसे बाँधा; किन्हींने आक्षेप-युक्त मधुर वचनरूप अंकुशोंसे उसे रोका ॥४०॥

प्रतियोगार्थिनी काचिद् गृहीत्वा चूतवल्लरीम्।
इदं पुष्पं तु कस्येति पप्रच्छ मदविक्लवा ॥४१॥

प्रतियोग (= विरोध) चाहनेवाली किसीने आमकी मञ्जरी लेकर मदसे विह्वल होते हुए पूछा—'यह फूल किसका है ?" ॥४१॥

काचित्पुरुषवत्कृत्वा गतिं संस्थानमेव च।
उवाचैनं जितः स्त्रीभिर्जय भो पृथिवीमिमाम् ॥४२॥

किसीने पुरुषके समान गति और आकृति बनाकर उसे कहा—"तुम स्त्रियों द्वारा जीते गये, अब इस पृथिवीको जीतो" ॥४२॥

अथ लोलेक्षणा काचिज्जिघ्रन्ती नीलमुत्पलम् ।
किञ्चिन्मदकलैर्वाक्यैर्नृपात्मजमभाषत ॥४३॥

तब नीले कमलको सूँघती हुई किसी चञ्चलाक्षीने मदसे कुछ-कुछ अस्फुट वचनोंमें राजकुमारसे कहा—॥४३॥

पश्य भर्तश्चितं चूतं कुसुमैर्मधुगन्धिभिः ।
हेमपञ्जररुद्धो वा कोकिलो यत्र कूजति ॥४४॥

"स्वामिन्, मधु-गन्ध-युक्त फूलोंसे भरे आमको देखिये, जहाँ कोकिल इस प्रकार (निश्चल होकर) कूज रहा है, जैसे सोनेके पिंजड़ेमें बन्द हो ॥४४॥

अशोको दृश्यतामेष कामिशोकविवर्धनः ।
रुवन्ति भ्रमरा यत्र दह्यमाना इवाग्निना ॥४५॥

कामियोंका शोक बढ़ानेवाले इस अशोकको देखिये, जहाँ भौंरे इस तरह गूँज रहे हैं, जैसे आगसे जल रहे हों ॥४५॥

चूतयष्ट्या समाश्लिष्टो दृश्यतां तिलकद्रुमः ।
शुक्लवासा इव नरः स्त्रिया पीताङ्गरागया ॥४६॥

आमकी शाखासे आलिङ्गित होते तिलक-वृक्षको देखिये, जैसे श्वेतवस्त्रधारी पुरुष पीत अङ्ग-रागवाली स्त्रीसे आलिङ्गित हो रहा हो ॥४६॥

फुल्लं कुरुवकं पश्य निर्भुक्तालक्तकप्रभम् ।
यो नखप्रभया स्त्रीणां निर्भर्त्सित इवानतः ॥४७॥

निचोड़े हुए अलक्तक (= लाख) के समान प्रभावान् कुसुमित कुरवकको देखिये, जो स्त्रियोंकी नख-प्रभासे मानो खूब फटकारा जाकर झुक गया है ॥४७॥

बालाशोकश्च निचितो दृश्यतामेष पल्लवैः ।
योऽस्माकं हस्तशोभाभिर्लज्जमान इव स्थितः ॥४८॥

पल्लवोंसे भरे इस बाल अशोकको देखिये, जो हमारे हाथोंकी शोभासे मानो लजाता हुआ खड़ा है ॥४८॥

दीर्घिकां प्रावृतां पश्य तीरजैः सिन्दुवारकैः ।
पाण्डुरांशुकसंवीतां शयानां प्रमदामिव ॥४९॥

तीरपर उत्पन्न होनेवाले सिन्दुवारोंसे आच्छादित दीर्घिका (= जलाशय) को देखिये, जो श्वेत वस्त्रसे ढँकी सो रही प्रमदाके समान है ॥४९॥

दृश्यतां स्त्रीषु माहात्म्यं चक्रवाको ह्यसौ जले ।
पृष्ठतः प्रेष्यवद्भार्यामनुवर्त्यनुगच्छति ॥५०॥

स्त्रियोंका माहात्म्य तो देखिये; वह आज्ञाकारी चक्रवाक जलमें अपनी पत्नीके पीछे-पीछे नौकरके समान जा रहा है ॥५०॥

मत्तस्य परपुष्टस्य रुवतः श्रूयतां ध्वनिः ।
अपरः कोकिलोऽन्वक्षं प्रतिश्रुत्केव कूजति ॥५१॥

मत्त होकर कूजते कोकिलकी ध्वनि सुनिये; दूसरा कोकिल पीछेकी ओर प्रतिध्वनिके समान कूज रहा है ॥५१॥

अपि नाम विहङ्गानां वसन्तेनाहृतो मदः ।
न तु चिन्तयतोऽचिन्त्यं जनस्य प्राज्ञमानिनः ॥५२॥

क्या वसन्त पक्षियोंको मद ला सकता है और अचिन्त्यकी चिन्ता करनेवाले प्राज्ञ एवं मानी मनुष्यको नहीं ? ॥५२॥

इत्येवं ता युवतयो मन्मथोद्दामचेतसः ।
कुमारं विविधैस्तैस्तैरुपचक्रमिरे नयैः ॥५३॥

इस प्रकार कामसे उच्छृङ्खल चित्तवाली उन युवतियोंने उन-उन विविध नीतियोंसे कुमारको (आकृष्ट करनेका) उपक्रम किया ॥५३॥

एवमाक्षिप्यमाणोऽपि स तु धैर्यावृतेन्द्रियः ।
मर्तव्यमिति सोद्वेगो न जहर्ष न विव्यथे ॥५४॥

इस प्रकार आकृष्ट किया जानेपर भी, वह धीर-इन्द्रियवाला (= जितेन्द्रिय) "मरना पड़ेगा" इस (विचार)से उद्वेग-युक्त होकर न आनन्दित हुआ और न व्यथित ॥५४॥

तासां तत्त्वेऽनवस्थानं दृष्ट्वा स पुरुषोत्तमः ।
समं विग्नेन धीरेण चिन्तयामास चेतसा ॥५५॥

तत्वमें उनकी स्थिरता न देखकर उस पुरुषोत्तमने एक ही साथ संविग्न व धीर चित्तसे सोचाः—॥५५॥

किं विमा नावगच्छन्ति चपलं यौवनं स्त्रियः ।
यतो रूपेण संमत्तं जरा यन्नाशयिष्यति ॥५६॥

"क्या ये स्त्रियाँ यौवनको क्षणिक नहीं समझ रही हैं ? ये उन्मत्त हैं अपने रूपसे, जिसे जरा नष्ट कर देगी ॥५६॥

नूनमेता न पश्यन्ति कस्यचिद्रोगसंप्लवम् ।
तथा हृष्टा भयं त्यक्त्वा जगति व्याधिधर्मिणि ॥५७॥

निश्चय ही ये किसीको रोगसे आक्रान्त नहीं देखती हैं; (इसलिए) व्याधि-धर्मा जगत्में भय छोड़कर ये इस प्रकार आनन्दित हैं ॥५७॥

अनभिज्ञाश्च सुव्यक्तं मृत्योः सर्वापहारिणः ।
ततः स्वस्था निरुद्विग्नाः क्रीडन्ति च हसन्ति च ॥५८॥

स्पष्ट ही सबको दूर ले जानेवाली मृत्युसे ये अनभिज्ञ हैं; इसीलिए स्वस्थ और उद्वेग-रहित होकर ये खेलती व हँसती हैं ॥५८॥

जरां व्याधिं च मृत्युं च को हि जानन्सचेतनः ।
स्वस्थस्तिष्ठेन्निषीदेद्वा शयेद्वा किं पुनर्हसेत् ॥५९॥

जरा, व्याधि व मृत्युको जानता हुआ कौन बुद्धिमान् स्वस्थ होकर खड़ा हो या बैठे या सोये, फिर हँसे ही क्यों ? ॥५९॥

यस्तु दृष्ट्वा परं जीर्णं व्याधितं मृतमेव च ।
स्वस्थो भवति नोद्विग्नो यथाचेतास्तथैव सः ॥६०॥

जो दूसरेको वृद्ध, रोगी व मृत देखकर स्वस्थ रहता है, उद्विग्न नहीं होता, वह वैसा ही है जैसा कि अचेतन ॥६०॥

वियुज्यमाने हि तरौ पुष्पैरपि फलैरपि ।
पतति छिद्यमाने वा तरुरन्यो न शोचते ॥६१॥

क्योंकि फूलों और फलोंसे अलग होकर जब (एक) वृक्ष गिरता है या काटा जाता है, तब दूसरा वृक्ष शोक नहीं करता है" ॥६१॥

५७—व्याधिधर्मा = व्याधि जिसका धर्म अर्थात् स्वभाव है ।

इति ध्यानपरं दृष्ट्वा विषयेभ्यो गतस्पृहम्।
उदायी नीतिशास्त्रज्ञस्तमुवाच सुहृत्तया ॥६२॥

इस तरह उसे ध्यानमग्न और विषयोंसे निरभिलाष देखकर नीति-शास्त्रज्ञ उदायीने मित्रतासे कहाः—॥ ६२ ॥

अहं नृपतिना दत्तः सखा तुभ्यं क्षमः किल।
यस्मात्त्वयि विवक्षा मे तया प्रणयवत्तया ॥६३॥

"मैं राजाके द्वारा नियुक्त किया गया तुम्हारा योग्य मित्र हूँ, इसलिए प्रेमपूर्वक मैं तुम्हें (कुछ) कहना चाहता हूँ ॥ ६३ ॥

अहितात् प्रतिषेधश्च हिते चानुप्रवर्तनम्।
व्यसने चापरित्यागस्त्रिविधं मित्रलक्षणम् ॥६४॥

अहितसे रोकना, हितमें लगाना और विपत्तिमें नहीं छोड़ना—मित्रके (ये) तीन लक्षण हैं ॥ ६४ ॥

सोऽहं मैत्रीं प्रतिज्ञाय पुरुषार्थात्पराङ्मुखः।
यदि त्वा समुपेक्षेय न भवेन्मित्रता मयि ॥६५॥

मैत्रीकी प्रतिज्ञाकर, पुरुषार्थ (=पुरुषके काम) से विमुख हो, यदि मैं तुम्हारी उपेक्षा करूँ, तो मुझमें मित्रता नहीं होगी ॥ ६५ ॥

तद्ब्रवीमि सुहृद्भूत्वा तरुणस्य वपुष्मतः।
इदं न प्रतिरूपं ते स्त्रीष्वदाक्षिण्यमीदृशम् ॥६६॥

इसलिए मित्र होकर मैं कहता हूँ कि स्त्रियोंके प्रति उदारताका यह ऐसा अभाव तुझ सुन्दर तरुणके अनुरूप नहीं है ॥ ६६ ॥

अनृतेनापि नारीणां युक्तं समनुवर्तनम्।
तद्व्रीडापरिहारार्थमात्मरत्यर्थमेव च ॥६७॥

स्त्रियोंके लज्जा-परित्याग तथा अपने आनन्दके लिए असत्यतासे भी उनके अनुकूल आचरण करना उचित है ॥ ६७ ॥

संनतिश्चानुवृत्तिश्च स्त्रीणां हृदयबन्धनम्।
स्नेहस्य हि गुणा योनिर्मानकामाश्च योषितः ॥६८॥

नम्रता व अनुकूल आचरण स्त्रियोंके हृदयके लिए बन्धन हैं; क्योंकि सद्गुण ही स्नेहका उत्पत्ति-स्थान है और स्त्रियाँ सम्मान चाहती हैं ॥ ६८ ॥

तदर्हसि विशालाक्ष हृदयेऽपि पराङ्मुखे ।
रूपस्यास्यानुरूपेण दाक्षिण्येनानुवर्तितुम् ॥६९॥

इसलिए, हे विशालाक्ष, हृदय विमुख होनेपर भी अपने रूपके अनुरूप उदारतासे तुम्हें उनके अनुकूल आचरण करना चाहिए ॥६९॥

दाक्षिण्यमौषधं स्त्रीणां दाक्षिण्यं भूषणं परम् ।
दाक्षिण्यरहितं रूपं निष्पुष्पमिव काननम् ॥७०॥

उदारता स्त्रियोंके लिए औषध है, उदारता श्रेष्ठ भूषण है; उदारता-रहित रूप पुष्प-विहीन उद्यानके समान है ॥७०॥

किं वा दाक्षिण्यमात्रेण भावेनास्तु परिग्रहः ।
विषयान्दुर्लभाँल्लब्ध्वा न ह्यवज्ञातुमर्हसि ॥७१॥

केवल उदारतासे क्या ? (भीतरी) भावसे ग्रहण करो । दुर्लभ विषयोंको पाकर तुम्हें तिरस्कृत नहीं करना चाहिए ॥ ७१ ॥

कामं परमिति ज्ञात्वा देवोऽपि हि पुरन्दरः ।
गौतमस्य मुनेः पत्नीमहल्यां चकमे पुरा ॥७२॥

प्राचीन काल में काम (प्रेम) को श्रेष्ठ जानकर, इन्द्रदेव ने गौतम मुनि की पत्नी अहल्या को चाहा ॥७२॥

अगस्त्यः प्रार्थयामास सोमभार्यां च रोहिणीम् ।
तस्मात्तत्सदृशीं लेभे लोपामुद्रामिति श्रुतिः ॥७३॥

और, अगस्त्यने सोमकी भार्या रोहिणीके लिए प्रार्थना की । इस कारण उसने उसी (रोहिणी) के सदृश लोपामुद्रा पाई, ऐसी अनुश्रुति है ॥७३॥

उतथ्यस्य च भार्यायां ममतायां महातपः ।
मारुत्यां जनयामास भरद्वाजं बृहस्पतिः ॥७४॥

और, उतथ्य की भार्या, मरुत की पुत्री ममता में, महातपस्वी बृहस्पति ने भरद्वाज को उत्पन्न किया ॥७४॥

बृहस्पतेर्महिष्यां च जुह्वत्यां जुह्वतां वरः ।
बुधं विबुधकर्माणं जनयामास चन्द्रमाः ॥७५॥

और हवन करनेवाली बृहस्पति की पत्नीमें हवन करनेवालों में श्रेष्ठ चन्द्रमा ने बुधको उत्पन्न किया, जिसके कर्म देवताके-से थे ॥७५॥

कालीं चैव पुरा कन्यां जलप्रभवसंभवाम् ।
जगाम यमुनातीरे जातरागः पराशरः ॥७६॥

और पूर्वकालमें काम (-वासना) उत्पन्न होने पर, पराशर यमुना-तटपर मछलीसे उत्पन्न हुई कन्या कालीके पास गया ॥७६॥

मातङ्ग्यामक्षमालायां गर्हितायां रिरंसया ।
कपिञ्जलादं तनयं वसिष्ठोऽजनयन्मुनिः ॥७७॥

रमण करनेकी इच्छासे वसिष्ठ मुनिने निन्दित चाण्डाल जातिकी (कन्या) अक्षमालामें कपिञ्जलाद नामक पुत्र उत्पन्न किया ॥७७॥

ययातिश्चैव राजर्षिर्वयस्यपि विनिर्गते ।
विश्वाच्याप्सरसा सार्धं रेमे चैत्ररथे वने ॥७८॥

और, उम्र ढलनेपर भी राजर्षि ययातिने विश्वाची अप्सराके साथ चैत्ररथ वनमें रमण किया ॥७८॥

स्त्रीसंसर्गं विनाशान्तं पाण्डुर्ज्ञात्वापि कौरवः ।
माद्रीरूपगुणाक्षिप्तः सिषेवे कामजं सुखम् ॥७९॥

स्त्री-संसर्गको विनाशकारी जानकर भी कुरुवंशी पाण्डुने माद्रीके रूप-गुणसे आकृष्ट होकर काम-ज सुखका सेवन किया ॥७९॥

करालजनकश्चैव हृत्वा ब्राह्मणकन्यकाम् ।
अवाप भ्रंशमप्येवं न तु सेजे न मन्मथम् ॥८०॥

और करालजनकने ब्राह्मण-कन्याका हरण किया और इस प्रकार भ्रष्ट होकर भी वह काममें आसक्त ही रहा ॥८०॥

एवमाद्या महात्मानो विषयान् गर्हितानपि ।
रतिहेतोर्बुभुजिरे प्रागेव गुणसंहितान् ॥८१॥

इस प्रकार आद्य महात्माओंने रति (सम्भोग, आनन्द) के हेतु निन्दित विषयोंका भी उपभोग किया, निर्दोष विषयोंका तो पहले ही ॥८१॥

त्वं पुनर्न्यायतः प्राप्तान् बलवान् रूपवान्युवा ।
विषयानवजानासि यत्र सक्तमिदं जगत् ॥८२॥

तुम बलवान् रूपवान् युवा फिर न्यायसे प्राप्त विषयोंकी अवहेलना करते हो, जिनमें कि यह जगत् आसक्त है" ॥८२॥

इति श्रुत्वा वचस्तस्य श्लक्ष्णमागमसंहितम् ।
मेघस्तनितनिर्घोषः कुमारः प्रत्यभाषत ॥८३॥

शास्त्रोंसे एकत्र किये गए उसके मनोहर वचन सुनकर, मेघ-गर्जन की-सी वाणीमें कुमारने उत्तर दिया:—॥८३॥

उपपन्नमिदं वाक्यं सौहार्दव्यञ्जकं त्वयि ।
अत्र च त्वानुनेष्यामि यत्र मा दुष्ठु मन्यसे ॥८४॥

"यह सौहार्द-सूचक बात तुम्हारे ही योग्य है । मैं तुमसे कुछ अनुनय करूँगा, जिन बातोंमें कि तुम मुझे बुरा मानते हो ॥८४॥

नावजानामि विषयान् जाने लोकं तदात्मकम् ।
अनित्यं तु जगन्मत्वा नात्र मे रमते मनः ॥८५॥

मैं विषयोंकी अवज्ञा नहीं करता हूँ, संसारको उनमें रत जानता हूँ । जगत्‌को अनित्य मानकर मेरा मन इसमें नहीं रम रहा है ॥८५॥

जरा व्याधिश्च मृत्युश्च यदि न स्यादिदं त्रयम् ।
ममापि हि मनोज्ञेषु विषयेषु रतिर्भवेत् ॥८६॥

यदि जरा, व्याधि व मृत्यु, ये तीनों नहीं रहते, तो मनोज्ञ विषयोंमें मुझे भी आनन्द होता ॥८६॥

नित्यं यद्यपि हि स्त्रीणामेतदेव वपुर्भवेत् ।
दोषवत्स्वपि कामेषु कामं रज्येत मे मनः ॥८७॥

यदि स्त्रियोंका यही रूप नित्य (चिरस्थायी) होता, तो इन दोषयुक्त विषयोंमें भी मेरा मन अवश्य लगता ॥८७॥

यदा तु जरया पीतं रूपमासां भविष्यति ।
आत्मनोऽप्यनभिप्रेतं मोहात्तत्र रतिर्भवेत् ॥८८॥

जब इनका रूप जराके द्वारा पिया (नष्ट किया) जायगा तब (वह रूप) अपने लिए भी घृणाजनक ही होगा, मोहसे ही उसमें आनन्द हो ॥८८॥

मृत्युव्याधिजराधर्मा मृत्युव्याधिजरात्मभिः ।
रममाणो ह्यसंविग्नः समानो मृगपक्षिभिः ॥८९॥

मृत्यु, व्याधि व जराके अधीन रहनेवाला मनुष्य यदि मृत्यु-व्याधि-जराके अधीन रहनेवालोंके साथ रमण करता हुआ संविग्न (= विरक्त, भयभीत) न हो तो वह पशु-पक्षियोंके समान है ॥८९॥

यदप्यात्थ महात्मानस्तेऽपि कामात्मका इति।
संवेगोऽत्रैव कर्तव्यो यदा तेषामपि क्षयः ॥९०॥

यह जो कहा कि वे महात्मा भी कामी थे, इसमें तो संवेग ही करना चाहिए कि उनका भी विनाश हुआ ॥९०॥

माहात्म्यं न तन्मन्ये यत्र सामान्यतः क्षयः।
विषयेषु प्रसक्तिर्वा युक्तिर्वा नात्मवत्तया ॥९१॥

मैं उसे माहात्म्य नहीं मानता हूँ जिसमें समान रूपसे क्षय होता है। आत्मवान् (संयतात्मा) पुरुषोंको विषयोंमें आसक्ति नहीं होती है और न वे विषयोंके लिए युक्ति (तर्क या उपाय) ही करते हैं ॥९१॥

यदप्यात्थानृतेनापि स्त्रीजने वर्त्यतामिति।
अनृतं नावगच्छामि दाक्षिण्येनापि किञ्चन ॥९२॥

यह जो कहा कि असत्यतासे भी स्त्रियोंसे बरतना चाहिए, मैं असत्यता नहीं समझता हूँ, (और) न उदारतासे भी कुछ ॥९२॥

न चानुवर्तनं तन्मे रुचितं यत्र नार्जवम्।
सर्वभावेन संपर्को यदि नास्ति धिगस्तु तत् ॥९३॥

वह अनुकूल आचरण मुझे नहीं रुचता है जिसमें सरलता (निष्कपटता) नहीं। यदि सर्वभाव (हृदय) से सम्पर्क नहीं है, तो उसे धिक्कार है ॥९३॥

अधृतेः श्रद्दधानस्य सक्तस्यादोषदर्शिनः।
किं हि वञ्चयितव्यं स्याज्जातरागस्य चेतसः ॥९४॥

अधीर, विश्वास करनेवाले, आसक्त, दोषोंको नहीं देख सकनेवाले तथा अनुरक्त चित्तको क्या वञ्चित करना (= ठगना) चाहिए ? ॥९४॥

वञ्चयन्ति च यद्येवं जातरागाः परस्परम्।
ननु नैव क्षमं द्रष्टुं नराः स्त्रीणां नृणां स्त्रियः ॥९५॥

यदि कामासक्त (लोग) एक दूसरेको इसी तरह वञ्चित करते हैं, तो पुरुष स्त्रियोंके देखने योग्य नहीं और न स्त्रियाँ पुरुषों के ॥९५॥

तदेवं सति दुःखार्तं जरामरणभागिनम् ।
न मां कामेष्वनार्येषु प्रतारयितुमर्हसि ॥९६॥

ऐसा होनेपर मुझे, जो दुःखसे आर्त है और जिसके भाग्यमें जरा और मरण हैं, अनार्य विषयोंमें लगाकर तुम्हें नहीं ठगना चाहिए ॥९६॥

अहोऽतिधीरं बलवच्च ते मनश्चलेषु कामेषु च सारदर्शिनः ।
भयेऽतितीव्रे विषयेषु सज्जसे निरीक्षमाणो मरणाध्वनि प्रजाः ॥९७॥

अहो ! तुम्हारा मन अति धीर व बलवान् है जो चञ्चल कामोपभोगोंमें सार देखते हो । अति तीव्र भयके रहते हुए, मृत्युमार्गपर प्रजाओंको देखते हुए तुम विषयोंमें आसक्त होते हो ॥९७॥

अहं पुनर्भीरुतरोऽतिविक्लवो जराविपद्व्याधिभयं विचिन्तयन् ।
लभे न शान्तिं न धृतिं कुतो रतिं निशामयन्दीप्तमिवाग्निना जगत् ॥९८॥

और, मैं जरा, मृत्यु व व्याधिकी चिन्ता करता हुआ भयभीत और अति विकल हूँ । आगसे मानो जलते जगत्को देखकर, न शान्ति पाता हूँ न धैर्य, आनन्द कहाँसे (पाऊँगा) ? ॥९८॥

असंशयं मृत्युरिति प्रजानतो नरस्य रागो हृदि यस्य जायते ।
अयोमयीं तस्य परैमि चेतनां महाभये रज्यति यो न रोदिति ॥९९॥

मृत्यु अवश्यंभावी है यह जानते हुए जिस मनुष्यके हृदयमें काम पैदा होता है उसकी बुद्धिको लोहेकी बनी समझता हूँ, क्योंकि (मृत्युरूपी) महाभयके रहते हुए, वह आनन्दित होता है, रोता नहीं" ॥९९॥

अथो कुमारश्च विनिश्चयात्मिकां चकार कामाश्रयघातिनीं कथाम् ।
जनस्य चक्षुर्गमनीयमण्डलो महीधरं चास्तमियाय भास्करः ॥१००॥

१००—गमनीयमण्डल = दर्शनीय मण्डल; दर्शनीय = सुन्दर होनेके कारण देखने योग्य या तेज क्षीण होनेके कारण आसानीसे देखा जाने योग्य ।

कुमारने वैराग्य पैदा करनेवाली (= काम-आश्रय-विनाशिनी) ये निश्चयात्मक बातें कहीं और तब संसारका नेत्रस्वरूप सूर्य, जो कि दर्शनीय हो रहा था, अस्ताचल पर गया ॥१००॥

ततो वृथाधारितभूषणस्रजः कलागुणैश्च प्रणयैश्च निष्फलैः ।
स्व एव भावे विनिगृह्य मन्मथं पुरं ययुर्भग्नमनोरथाः स्त्रियः ॥१०१॥

तब वे स्त्रियाँ, जिन्होंने व्यर्थ ही आभूषण और मालाएँ पहनी थीं, उत्कृष्ट कलाओं और प्रणय-चेष्टाओंके निष्फल होनेपर अपने ही मनमें कामदेवका निग्रह कर, भग्नमनोरथ हो, नगरको लौट गईं ॥१०१॥

ततः पुरोद्यानगतां जनश्रियं निरीक्ष्य सायं प्रतिसंहृतां पुनः ।
अनित्यतां सर्वगतां विचिन्तयन्विवेश धिष्ण्यं क्षितिपालकात्मजः ॥१०२॥

तब नगर-उद्यानकी जन-शोभाको फिर संध्या समय समेटी गई देखकर, सर्वव्यापिनी अनित्यताकी चिन्ता करते हुए राज-कुमारने महलमें प्रवेश किया ॥१०२॥

ततः श्रुत्वा राजा विषयविमुखं तस्य तु मनो
न शिश्ये तां रात्रिं हृदयगतशल्यो गज इव ।
अथ श्रान्तो मन्त्रे बहुविविधमार्गे ससचिवो
न सोऽन्यत्कामेभ्यो नियमनमपश्यत्सुतमतेः ॥१०३॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्ये स्त्रीविघातनो नाम चतुर्थः सर्गः ॥४॥

तब उसका मन विषयोंसे विमुख हुआ सुनकर राजा (उस) हाथीके समान जिसकी छातीमें बर्छी गड़ी हुई हो, उस रातको न सोया । तब सचिवोंके साथ विविध उपायोंकी मन्त्रणा करनेमें थककर उसने पुत्र-बुद्धिके नियन्त्रणके लिए कामके अतिरिक्त दूसरा उपाय न देखा ॥१०३॥

बुद्धचरित महाकाव्यका "स्त्री-निवारण" नामक
चतुर्थ सर्ग समाप्त ।

१०१—भाव = उत्पत्ति-स्थान; कामका उत्पत्ति-स्थान है मन ।

पञ्चम सर्ग

अभिनिष्क्रमण

स तथा विषयैर्विलोभ्यमानः परमार्हैरपि शाक्यराजसूनुः।
न जगाम धृतिं न शर्म लेभे हृदये सिंह इवातिदिग्धविद्धः॥१॥

बहुमूल्य विषयोंसे उस प्रकार लुभाये जानेपर भी उस शाक्य-राज-पुत्रको (उस) सिंहके समान, जिसका हृदय विष-लिप्त तीरसे अत्यन्त विद्ध हो, न धैर्य हुआ न चैन ॥१॥

अथ मन्त्रिसुतैः क्षमैः कदाचित्सखिभिश्चित्रकथैः कृतानुयात्रः।
वनभूमिदिदृक्षया शमेप्सुर्नरदेवानुमतो बहिः प्रतस्थे॥२॥

तब एक बार शान्ति-प्राप्तिके उस इच्छुकने, राजासे अनुमति पाकर, वन-भूमि देखनेके लिए बाहर प्रस्थान किया; मन्त्रियोंके पुत्र, जो उसके योग्य मित्र थे और जो चित्र-विचित्र कथाएँ जानते थे, उसके साथ गये ॥२॥

नवरुक्मखलीनकिङ्किणीकं प्रचलच्चामरचारुहेमभाण्डम्।
अभिरुह्य स कन्थकं सदश्वं प्रययौ केतुमिव द्रुमाब्जकेतुः॥३॥

नये सोनेकी लगाम व घुँघुरूवाले तथा हिलते हुए चामरोंसे शोभित सुवर्ण-अलङ्कारोंवाले अच्छे घोड़े कन्थकपर चढ़कर, वह बाहर गया, जैसे पताकादण्डपर कनेल फूलका चिन्ह विराजमान हो ॥३॥

स विकृष्टतरां वनान्तभूमिं वनलोभाच्च ययौ महीगुणाच्च।
सलिलोर्मिविकारसीरमार्गां वसुधां चैव ददर्श कृष्यमाणाम्॥४॥

जंगलकी लालच तथा पृथ्वीकी उत्कृष्टतासे आकृष्ट होकर वह अत्यन्त दूरकी

३—केतुपर द्रुमाब्ज-केतु=पताका-दण्ड (या स्तम्भ)पर (द्रुमाब्ज= द्रुमोत्पल) कनेल फूलका चिन्ह; वास्तवमें इस वाक्यांशका अर्थ स्पष्ट नहीं है।

जङ्गली भूमिकी ओर गया और जोती जा रही धरतीको देखा, जिसपर हलों (की जुताई)के मार्ग जलतरंगोंके समान देख पड़ते थे ॥४॥

हलभिन्नविकीर्णशष्पदर्भां हतसूक्ष्मक्रिमिकीटजन्तुकीर्णाम् ।
समवेक्ष्य रसां तथाविधां तां स्वजनस्येव वधे भृशं शुशोच ॥ ५ ॥

जिसपर हलोंसे कटे बाल-तृण व कुश तथा मरे हुए छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़े बिखरे हुए थे वैसी उस धरतीको देखकर उसने वैसे ही शोक किया, जैसे कि स्वजनकी हत्या होनेपर ॥५॥

कृषतः पुरुषांश्च वीक्षमाणः पवनार्कांशुरजोविभिन्नवर्णान् ।
वहनक्लमविक्लवांश्च धुर्यान् परमार्यः परमां कृपां चकार ॥ ६ ॥

हवा, सूर्यकिरण व धूलसे विवर्ण हुए कृषक पुरुषों तथा हलमें वहनेके श्रमसे विकल हुए बैलोंको देखकर उस परम आर्य (कुमार)को बड़ी करुणा हुई ॥६॥

अवतीर्य ततस्तुरङ्गपृष्ठाच्छनकैर्गां व्यचरच्छुचा परीतः ।
जगतो जननव्ययं विचिन्वन् कृपणं खल्विदमित्युवाच चार्तः ॥ ७ ॥

तब घोड़ेकी पीठसे उतरकर उसने पृथ्वीपर शोकित हो धीरे-धीरे विचरण किया और जगत्‌के जन्म व विनाशकी छानबीन करते हुए, आर्त होकर कहा— "यह जगत् निश्चय ही दीन है।" ॥७॥

मनसा च विविक्ततामभीप्सुः सुहृदस्ताननुयायिनो निवार्य ।
अभितश्चलचारुपर्णवत्या विजने मूलमुपेयिवान् स जम्ब्वाः ॥ ८ ॥

मानसिक पवित्रता (या एकान्त) पानेकी इच्छासे उन अनुयायी मित्रोंको रोककर, वह विजन भूमिमें जम्बू-वृक्षके मूलके समीप गया, जिसके सुन्दर पत्ते चारों ओर हिल रहे थे ॥८॥

निषसाद स यत्र शौचवत्यां भुवि वैडूर्यनिकाशशाद्वलायाम् ।
जगतः प्रभवव्ययौ विचिन्वन्मनसश्च स्थितिमार्गमाललम्बे ॥ ९ ॥

वह वहाँ स्वच्छ भूमिपर बैठ गया, जिसके हरे तृण वैदूर्य-मणिके समान देख पड़ते थे। और, जगत्‌के जन्म व विनाशकी खोज करते हुए उसने मानसिक स्थिरताके उपायका अवलम्बन किया ॥९॥

समवाप्तमनःस्थितिश्च सद्यो विषयेच्छादिभिराधिभिश्च मुक्तः।
सवितर्कविचारमाप शान्तं प्रथमं ध्यानमनास्रवप्रकारम् ॥१०॥

तुरन्त मानसिक स्थिरता प्राप्त कर वह विषयोंकी इच्छा आदि (मानसिक) आधियोंसे मुक्त हो गया। और, प्रथम शान्त ध्यान प्राप्त किया, जो वितर्क विचारोंसे युक्त और आस्रवों (राग, द्वेष आदि चित्त-मलोंसे) मुक्त था ॥१०॥

अधिगम्य ततो विवेकजं तु परमप्रीतिसुखं मनःसमाधिम्।
इदमेव ततः परं प्रदध्यौ मनसा लोकगतिं निशाम्य सम्यक् ॥११॥

तब उसने विवेकसे पैदा होनेवाली तथा परम प्रसन्नता व सुखसे समन्वित मानसिक समाधि पाई। और, तबसे मन द्वारा जगत्की गतिको अच्छी तरह देखते हुए इसी बातका ध्यान किया:—॥११॥

कृपणं बत यज्जनः स्वयं सन्नवशो व्याधिजराविनाशधर्मा।
जरयार्दितमातुरं मृतं वा परमज्ञो विजुगुप्सते मदान्धः ॥१२॥

यह दुःखकी बात है कि व्याधि-जरा-मरणशील मनुष्य, स्वयं पराधीन होता हुआ, अज्ञानी व मदान्ध होकर, जरासे पीड़ित, व्याधिसे ग्रस्त तथा मरे हुए दूसरे व्यक्तिकी अवहेलना करता है ॥१२॥

इह चेदहमीदृशः स्वयं सन्विजुगुप्सेय परं तथास्वभावम्।
न भवेत्सदृशं हि तत्क्षमं वा परमं धर्ममिमं विजानतो मे ॥१३॥

इस संसारमें मैं स्वयं ऐसा होता हुआ यदि वैसे (= व्याधि आदि) स्वभाववाले दूसरेकी अवहेलना करूँ तो इस परम धर्मको जाननेवाले इस व्यक्तिके सदृश या योग्य यह नहीं होगा।" ॥१३॥

इति तस्य विपश्यतो यथावज्जगतो व्याधिजराविपत्तिदोषान्।
बलयौवनजीवितप्रवृत्तो विजगामात्मगतो मदः क्षणेन ॥१४॥

जगत्के व्याधि-जरा-मरणरूप दोषोंको वह ठीक-ठीक देख ही रहा था कि बल, यौवन व जीवनमें होनेवाला उसका आत्मगत मद (अहङ्कार) एक ही क्षणमें विलीन हो गया ॥१४॥

न जहर्ष न चापि चानुतेपे विचिकित्सां न ययौ न तन्द्रिनिद्रे।
न च कामगुणेषु संरज्जे न विदिद्वेष परं न चावमेने ॥१५॥

उसे न हर्ष हुआ न विषाद, न संशय, न आलस्य, न नींद। और, कामके आकर्षणों (=कामोपभोगोंसे) अनुराग नहीं हुआ, (मनमें) दूसरेसे न द्वेष किया और न दूसरेकी अवज्ञा ॥१५॥

इति बुद्धिरियं च नीरजस्का ववृधे तस्य महात्मनो विशुद्धा।
पुरुषैरपरैरदृश्यमानः पुरुषश्चोपससर्प भिक्षुवेषः ॥१६॥

उस महात्माकी यह निर्मल विशुद्ध बुद्धि बढ़ने लगी और दूसरे लोगोंसे नहीं देखा जाता हुआ एक मनुष्य संन्यासीके वेषमें उसके समीप आया ॥१६॥

नरदेवसुतस्तमभ्यपृच्छद्वद कोऽसीति शशंस सोऽथ तस्मै।
नरपुंगव जन्ममृत्युभीतः श्रमणः प्रव्रजितोऽस्मि मोक्षहेतोः ॥१७॥

राजाके पुत्रने उसे पूछा—"कहो कौन हो?" तब उसने उसे कहा—"हे नर-श्रेष्ठ, श्रमण (=संन्यासी) हूँ, जन्म व मरणसे डरकर मोक्षके हेतु संन्यासी हुआ हूँ ॥१७॥

जगति क्षयधर्मके मुमुक्षुर्मृगयेऽहं शिवमक्षयं पदं तत्।
स्वजनेऽन्यजने च तुल्यबुद्धिर्विषयेभ्यो विनिवृत्तरागदोषः ॥१८॥

क्षयशील जगत्में मैं मोक्ष चाहनेवाला अक्षय एवं कल्याणकारी पदकी खोज करता हूँ। स्वजन और परायेमें मेरी बुद्धि तुल्य है, विषयोंसे अनुराग और द्वेष, दोनों ही मुझसे चले गये हैं ॥१८॥

निवसन् क्वचिदेव वृक्षमूले विजने वायतने गिरौ वने वा।
विचराम्यपरिग्रहो निराशः परमार्थाय यथोपपन्नभैक्षः ॥१९॥

जहाँ कहीं—वृक्षके मूलमें या विजन मन्दिरमें, पर्वतपर या वन में—रहता हूँ। परिवार-हीन और तृष्णा-रहित होकर, परमार्थ (=मोक्ष) के लिए विचरण करता हूँ; जो कुछ भी भिक्षा मिलती है उसे ही ग्रहण करता हूँ" ॥१९॥

इति पश्यत एव राजसूनोरिदमुक्त्वा स नभः समुत्पपात।
स हि तद्वपुरन्यबुद्धदर्शी स्मृतये तस्य समेयिवान्दिवौकाः ॥२०॥

राजकुमारके समक्ष ही इतना कह वह आकाशमें उड़ गया। वह देवता, जिसने उस शरीरसे अन्य बुद्धों को देखा था, उसकी स्मृति (जगाने) के लिए आया था ॥२०॥

गगनं खगवद्गतं च तस्मिन्नृवरः संजहृषे विसिस्मिये च।
उपलभ्य ततश्च धर्मसंज्ञामभिनिर्याणविधौ मतिं चकार ॥२१॥

पक्षीके समान उसके आकाशमें उड़ जानेपर, उस नरश्रेष्ठको हर्ष और विस्मय हुआ। और, उससे धर्मका ज्ञान पाकर उसने "(घरसे) कैसे निकलूँ" इसपर विचार किया ॥२१॥

तत इन्द्रसमो जितेन्द्रियाश्वः प्रविविक्षुः पुरमश्वमारुरोह।
परिवारजनं त्ववेक्षमाणस्तत एवाभिमतं वनं न भेजे ॥२२॥

तब वह इन्द्र-तुल्य, जिसने इन्द्रिय-रूप अश्वोंको जीत लिया था, नगरमें प्रवेश करनेकी इच्छासे घोड़ेपर चढ़ा। साथियोंका खयाल करता हुआ वह वहींसे इच्छित वनको नहीं चला गया ॥२२॥

स जरामरणक्षयं चिकीर्षुर्वनवासाय मतिं स्मृतौ निधाय।
प्रविवेश पुनः पुरं न कामाद्वनभूमेरिव मण्डलं द्विपेन्द्रः ॥२३॥

जरा मरणका विनाश करनेकी इच्छासे वनमें रहनेका अपना निश्चय याद रखते हुए उसने उसी प्रकार अनिच्छासे नगरमें पुनः प्रवेश किया, जिस प्रकार जंगलसे हाथी (घरेलू हाथियोंके) घेरेमें (प्रवेश करे) ॥२३॥

सुखिता बत निर्वृता च सा स्त्री पतिरीदृक्ष इहायताक्ष यस्याः
इति तं समुदीक्ष्य राजकन्या प्रविशन्तं पथि साञ्जलिर्जगाद ॥२४॥

उसे मार्गमें प्रवेश करते देखकर, (किसी) राज-कन्याने हाथ जोड़ कर कहा—"सुखी और धन्य (नर्वृत) है वह स्त्री, जिसका पति इस संसारमें, हे विशालाक्ष, ऐसा है" ॥२४॥

अथ घोषमिमं महाभ्रघोषः परिशुश्राव शमं परं च लेभे।
श्रुतवान्स हि निर्वृतेति शब्दं परिनिर्वाणविधौ मतिं चकार ॥२५॥

तब महामेघकी-सी ध्वनिवालेने यह शब्द सुना और परम शान्ति पाई। "धन्य (निर्वृत)" यह शब्द सुनकर, उसने "परिनिर्वाण कैसे प्राप्त करूँ" इसपर विचार किया ॥२५॥

अथ काञ्चनशैलशृङ्गवर्ष्मा गजमेघर्षभबाहुनिस्वनाक्षः।
क्षयमक्षयधर्मजातरागः शशिसिंहाननविक्रमः प्रपेदे ॥२६॥

तब सुवर्ण-गिरि-शिखरके समान (कान्तिमान्) शरीरवाला, हाथीकी-सी बाहुवाला, मेघकी-सी ध्वनिवाला, वृषभकी-सी आँखोंवाला, चन्द्रमा-सा मुखवाला तथा सिंहके समान पराक्रमी कुमार, जिसे अक्षय धर्मसे अनुराग हो गया था, महलमें गया ॥२६॥

मृगराजगतिस्ततोऽभ्यगच्छन्नृपतिं मन्त्रिगणैरुपास्यमानम् ।
समितौ मरुतामिव ज्वलन्तं मघवन्तं त्रिदिवे सनत्कुमारः ॥२७॥

तब सिंह-गति (कुमार) मंत्रियोंसे सेवित होते नृपतिके समीप गया, जैसे स्वर्गमें मरुतोंकी सभामें प्रज्वलित होते इन्द्रके समीप सनत्कुमार (जा रहा हो) ॥२७॥

प्रणिपत्य च साञ्जलिर्बभाषे दिश मह्यं नरदेव साध्वनुज्ञाम् ।
परिविव्रजिषामि मोक्षहेतोर्नियतो ह्यस्य जनस्य विप्रयोगः ॥२८॥

और, हाथ जोड़कर प्रणाम करते हुए उसने कहा—"हे राजन्, कृपाकर मुझे आज्ञा दीजिए। मोक्षके हेतु मैं परिव्राजक होना चाहता हूँ; क्योंकि इस व्यक्तिका वियोग नियत है" ॥२८॥

इति तस्य वचो निशम्य राजा करिणेवाभिहतो द्रुमश्चचाल ।
कमलप्रतिमेऽञ्जलौ गृहीत्वा वचनं चेदमुवाच बाष्पकण्ठः ॥२९॥

उसका वचन सुनकर राजा वैसे ही काँपा, जैसे हाथीसे आहत वृक्ष। और कमल-सदृश हाथोंसे उसे पकड़कर बाष्पसे रुकती वाणीमें यह वचन कहा:—॥२९॥

प्रतिसंहर तात बुद्धिमेतां न हि कालस्तव धर्मसंश्रयस्य ।
वयसि प्रथमे मतौ चलायां बहुदोषां हि वदन्ति धर्मचर्याम् ॥३०॥

'हे तात, इस बुद्धिको रोको, धर्मकी शरण (में जाने)का समय तुम्हारा नहीं है; क्योंकि प्रथम वयसमें बुद्धि चञ्चल होनेके कारण धर्माचरणमें बहुत दोष बताते हैं ॥३०॥

विषयेषु कुतूहलेन्द्रियस्य व्रतखेदेष्वसमर्थनिश्चयस्य ।
तरुणस्य मनश्चलत्यरण्यादनभिज्ञस्य विशेषतो विवेके ॥३१॥

विषयोंके प्रति उत्सुक इन्द्रियवाले, व्रतके श्रम सहनेमें असमर्थ निश्चयवाले तरुणका मन वनसे चलायमान होता है, विशेषतः जब कि वह विवेक (=एकान्त) से अनभिज्ञ रहता है ॥३१॥

मम तु प्रियधर्म धर्मकालस्त्वयि लक्ष्मीमवसृज्य लक्ष्मभूते।
स्थिरविक्रम विक्रमेण धर्मस्तव हित्वा तु गुरुं भवेदधर्मः ॥३२॥

हे प्रियधर्म, योग्य हुए तुझपर लक्ष्मीको छोड़कर मेरा धर्म (करने)का समय (आ गया) है। हे स्थिरपराक्रम पराक्रम (के कार्य)से तुम्हें धर्म होगा, पिताको छोड़नेसे तो अधर्म ही होगा ॥३२॥

तदिमं व्यवसायमुत्सृज रतं भव तावन्निरतो गृहस्थधर्मे।
पुरुषस्य वयःसुखानि भुक्त्वा रमणीयो हि तपोवनप्रवेशः ॥३३॥

इसलिए इस निश्चयको तुम छोड़ो। तबतकके लिए गृहस्थ-धर्ममें लगो। जवानीके सुख भोगनेके बाद मनुष्यका तपोवन-प्रवेश रमणीय होता है।" ॥३३॥

इति वाक्यमिदं निशम्य राज्ञः कलविङ्कस्वर उत्तरं बभाषे।
यदि मे प्रतिभूश्चतुर्षु राजन् भवसि त्वं न तपोवनं श्रयिष्ये ॥३४॥

राजाका यह वचन सुनकर, कलविङ्क-(नामक पक्षीके) कण्ठसे उसने उत्तर दिया—"हे राजन्, यदि आप चार (बातों)में मेरा प्रतिभू होइये, तो मैं तपोवनकी शरणमें न जाऊँगा ॥३४॥

न भवेन्मरणाय जीवितं मे विहरेत्स्वास्थ्यमिदं च मे न रोगः।
न च यौवनमाक्षिपेज्जरा मे न च संपत्तिमिमां हरेद्विपत्तिः ॥३५॥

मेरा जीवन मरणके लिए न हो, और न रोग मेरे इस स्वास्थ्यका हरण करे, और न जरा मेरे यौवनको नष्ट करे, और न विपत्ति मेरी इस सम्पत्तिको हरे" ॥३५॥

इति दुर्लभमर्थमूचिवांसं तनयं वाक्यमुवाच शाक्यराजः।
त्यज बुद्धिमिमामतिप्रवृद्धामवहास्योऽतिमनोरथोऽक्रमश्च ॥३६॥

अपने पुत्रको, जिसने ये दुर्लभ बातें कहीं, शाक्यराजने यह वचन कहा—"इस अत्यन्त बढ़ी हुई बुद्धिको तजो, क्रम-हीन (अनुचित) मनोरथका उपहास होता है" ॥३६॥

अथ मेरुगुरुर्गुरुं बभाषे यदि नास्ति क्रम एष नास्मि वार्यः।
शरणाज्ज्वलनेन दह्यमानान्न हि निश्चिक्रमिषुः क्षमं ग्रहीतुम् ॥३७॥

३६—क्रमहीनः—जवानीमें अर्थ और कामका सेवन न करके धर्म-अर्जन करनेका मनोरथ क्रमहीन है।

तब मेरु-सदृश गौरवपूर्ण कुमारने पितासे कहा—"यदि यह क्रम नहीं है तो मुझे न रोकिये; क्योंकि आगसे जलते घरसे निकलनेकी इच्छा करनेवालेको पकड़ना उचित नहीं ॥३७॥

जगतश्च यदा ध्रुवो वियोगो ननु धर्माय वरं स्वयंवियोगः।
अवशं ननु विप्रयोजयेन्मामकृतस्वार्थमतृप्तमेव मृत्युः ॥३८॥

जब जगत्का वियोग ध्रुव है, तब (अपने परिवारसे) धर्मके लिए स्वयं पृथक् हो जाना अवश्य श्रेष्ठ है। मृत्यु मुझ विवशको अतृप्त ही स्वार्थ (= निज लक्ष्य) - पूर्तिसे पूर्व ही अवश्य अच्छी तरह पृथक् कर देगी" ॥३८॥

इति भूमिपतिर्निशम्य तस्य व्यवसायं तनयस्य निर्मुमुक्षोः।
अभिधाय न यास्यतीति भूयो विदधे रक्षणमुत्तमांश्च कामान् ॥३९॥

मोक्षकी इच्छा करनेवाले उस पुत्रका निश्चय सुनकर, राजाने कहा—"न जायगा" और फिर पहरे तथा उत्तम कामोपभोगोंका प्रबन्ध किया ॥३९॥

सचिवैस्तु निदर्शितो यथावद् बहुमानात्प्रणयाच्च शास्त्रपूर्वम्।
गुरुणा च निवारितोऽश्रुपातैः प्रविवेशावसथं ततः स शोचन् ॥४०॥

सचिवों द्वारा सम्मान व प्यारसे शास्त्रानुसार उचित रीतिसे समझाये जानेपर और पिताके द्वारा आँसू गिराकर रोके जानेपर, उसने शोक करते हुए अपने निवास (= महल)में प्रवेश किया ॥४०॥

चलकुण्डलचुम्बिताननाभिर्घननिश्वासविकम्पितस्तनीभिः।
वनिताभिरधीरलोचनाभिर्मृगशावाभिरिवाभ्युदीक्ष्यमाणः ॥४१॥

हिलते कुण्डलोंसे चुम्बित मुखोंवाली, घनी साँसोंसे कम्पित स्तनोंवाली तथा मृग-शावोंके समान अधीर आँखोंवाली वनिताओंने उसे देखा ॥४१॥

स हि काञ्चनपर्वतावदातो हृदयोन्मादकरो वराङ्गनानाम्।
श्रवणाङ्गविलोचनात्मभावान्वचनस्पर्शवपुर्गुणैर्जहार ॥४२॥

काञ्चन-पर्वतके समान कान्तिमान् वह (कुमार) उत्तम अङ्गनाओंके हृदयोंके लिए उन्मादकारी था। उसने उनके कान, अङ्ग, आँखें व मनोभाव क्रमशः अपने वचन, स्पर्श, रूप व गुणोंसे हर लिये ॥४२॥

विगते दिवसे ततो विमानं वपुषा सूर्य इव प्रदीप्यमानः।
तिमिरं विजिघांसुरात्मभासा रविरुद्यन्निव मेरुमारुरोह ॥४३॥

तब दिन बीतनेपर अपने शरीरसे सूर्यके समान चमकता हुआ वह प्रासादपर चढ़ा, जैसे आत्म-प्रकाश द्वारा तिमिर-नाश करनेकी इच्छासे उगता हुआ सूर्य मेरु-पर्वतपर (चढ़ता है) ॥४३॥

कनकोज्ज्वलदीप्तदीपवृक्षं वरकालागुरुधूपपूर्णगर्भम्।
अधिरुह्य स वज्रभक्तिचित्रं प्रवरं काञ्चनमासनं सिषेवे ॥४४॥

जिसमें सोने-सी चमकती दीयट जल रही थी और जिसका भीतरी भाग उत्तम कृष्ण-अगुरुके धूपसे भरा था उस (प्रासाद) पर चढ़कर, उसने हीरेके टुकड़ोंसे मढ़े श्रेष्ठ सुवर्ण-आसनका सेवन किया ॥४४॥

तत उत्तममुत्तमाङ्गनास्तं निशि तूर्यैरुपतस्थुरिन्द्रकल्पम्।
हिमवच्छिरसीव चन्द्रगौरे द्रविणेन्द्रात्मजमप्सरोगणौघाः ॥४५॥

तब उत्तम अङ्गनाओंने इन्द्र-तुल्य उस उत्तम कुमारकी रातमें तूर्य बाजोंसे सेवा की, जैसे चन्द्र-सदृश उज्ज्वल हिमालय शिखरपर अप्सराओंके झुण्ड कुबेरके पुत्रकी (सेवा करते हैं) ॥४५॥

परमैरपि दिव्यतूर्यकल्पैः स तु तैर्नैव रतिं ययौ न हर्षम्।
परमार्थसुखाय तस्य साधोरभिनिष्क्रमिषा यतो न रेमे ॥४६॥

दिव्य-तूर्य-सदृश उन उत्तम बाजोंसे भी उसे न प्रीति हुई, न हर्ष। परमार्थ-सुखके लिए उस साधु कुमारकी अभिनिष्क्रमण करनेकी इच्छा थी, इसलिए उसे प्रीति नहीं हुई ॥४६॥

अथ तत्र सुरैस्तपोवरिष्ठैरकनिष्ठैर्व्यवसायमस्य बुद्ध्वा।
युगपत्प्रमदाजनस्य निद्रा विहितासीद्विकृताश्च गात्रचेष्टाः ॥४७॥

तब उसका निश्चय जानकर, तपस्यामें श्रेष्ठ अकनिष्ठ देवोंने वहाँ एक ही बार (सब) प्रमदाओंको निद्रित और उनकी गात्र-चेष्टाओंको विकृत कर दिया ॥४७॥

अभवच्छयिता हि तत्र काचिद्विनिवेश्य प्रचले करे कपोलम्।
दयितामपि रुक्मपत्रचित्रां कुपितेवाङ्कगतां विहाय वीणाम् ॥४८॥

वहाँ कोई तो, काँपते हाथपर कपोल रखकर, सोनेके पत्तोंसे मढ़ी प्यारी वीणाको भी मानो कुपित होकर गोदमें छोड़कर सो रही थी ॥४८॥

विबभौ करलग्नवेणुरन्या स्तनविस्रस्तसितांशुका शयाना ।
ऋजुषट्पदपङ्क्तिजुष्टपद्मा जलफेनप्रहसत्तटा नदीव ॥४९॥

दूसरी सोई हुई (स्त्री), जिसके हाथमें वंशी लगी हुई थी और जिसके स्तनोंपरसे श्वेत अंशुक गिरा हुआ था, (उस) नदीके समान शोभित हुई जिसके कमल भौंरोंकी सीधी पंक्तिसे सेवित हों और जिसके तट जल-फेन (की धवलता)से हँस रहे हों ॥४९॥

नवपुष्करगर्भकोमलाभ्यां तपनीयोज्ज्वलसंगताङ्गदाभ्याम् ।
स्वपिति स्म तथापरा भुजाभ्यां परिरभ्य प्रियवन्मृदङ्गमेव ॥५०॥

उसी प्रकार तीसरी (स्त्री) अपनी भुजाओंसे, जो नये कमलके भीतरी भागके समान कोमल थी और जिनके सुवर्ण-उज्ज्वल बाहुभूषण (एक दूसरेसे) मिले हुए थे, मृदङ्गको ही प्रियतमकी भाँति आलिङ्गन किये सो रही थी ॥५०॥

नवहाटकभूषणास्तथान्या वसनं पीतमनुत्तमं वसानाः ।
अवशा घननिद्रया निपेतुर्गजभग्ना इव कर्णिकारशाखाः ॥५१॥

उसी प्रकार नव-सुवर्ण-भूषणवाली अन्य स्त्रियाँ, जो उत्तम पीत वसन पहने हुई थीं, गाढ़ी नींदसे विवश होकर गिरीं, जैसे हाथी द्वारा तोड़ी गई कर्णिकार की डालें (गिरती हैं) ॥ ५१ ॥

अवलम्ब्य गवाक्षपार्श्वमन्या शयिता चापविभुग्नगात्रयष्टिः ।
विरराज विलम्बिचारुहारा रचिता तोरणशालभञ्जिकेव ॥५२॥

खिड़कीकी बगलके सहारे सोई हुई दूसरी स्त्री, जिसकी देह धनुषके समान झुकी हुई थी और जिसके सुन्दर हार लटक रहे थे, इस प्रकार विराजी जैसे तोरणपर बनी कठपुतली हो ॥ ५२ ॥

मणिकुण्डलदष्टपत्रलेखं मुखपद्मं विनतं तथापरस्याः ।
शतपत्रमिवार्धवक्रनाडं स्थितकारण्डवघट्टितं चकाशे ॥५३॥

४९.—कमल है हाथ, भौंरा है वंशी, तट हैं स्तन और फेन है अंशुक ।

उसी प्रकार दूसरीका झुका हुआ मुख-पद्म, जिसके पत्रलेख (= कपोल आदि पर बने चित्र) को रत्न-कुंडल मिटा रहे थे, (उस) कमलके समान शोभित हुआ जिसका नाल आधा झुका हो और जो कारण्डव पक्षीके बैठनेसे हिल रहा हो ॥ ५३ ॥

अपराः शयिता यथोपविष्टाः स्तनभारैरवनम्यमानगात्राः ।
उपगुह्य परस्परं विरेजुर्भुजपाशैस्तपनीयपारिहार्यैः ॥५४॥

दूसरी बैठी-बैठी ही सो गईं, उनके गात्र स्तनोंके भारसे झुके हुए थे। वे सुवर्ण-वलय युक्त बाहु-लताओंसे एक दूसरेका आलिङ्गन किये शोभ रही थीं ॥ ५४ ॥

महतीं परिवादिनीं च काचिद्वनितालिङ्ग्य सखीमिव प्रसुप्ता ।
विजुघूर्ण चलत्सुवर्णसूत्रा वदनेनाकुलयोक्त्रकेण ॥५५॥

और, कोई वनिता एक बड़ी सात तारवाली वीणाको सखीके समान आलिङ्गन कर सोई हुई थी। हिलते सुवर्ण-सूत्रोंवाली वह स्त्री अस्त-व्यस्त योक्त्र (= सूत्र ?) वाले मुखसे घूम (= चक्कर खा) रही थी ॥ ५५ ॥

पणवं युवतिर्भुजांसदेशादवविस्रंसितचारुपाशमन्या ।
सविलासरतान्ततान्तमूर्वोर्विवरे कान्तमिवाभिनीय शिश्ये ॥५६॥

दूसरी युवती पणव (बाजे) को, जिसकी सुन्दर डोरी काँखसे गिर गई थी, सविलास सम्भोगके अन्तमें थके प्रियतमके समान, दोनों जाँघोंके बीच लाकर सोई ॥५६॥

अपरा बभूवुर्निमीलिताक्ष्यो विपुलाक्ष्योऽपि शुभभ्रुवोऽपि सत्यः ।
प्रतिसङ्कुचितारविन्दकोशाः सवितर्यस्तमिते यथा नलिन्यः ॥५७॥

सुन्दर भौंहोंवाली व बड़ी-बड़ी आँखोंवाली होनेपर भी दूसरी (स्त्रियों)की आँखें बन्द हो गईं, जैसे सूर्यास्त होनेपर कमलिनियोंके कमल-कोश बन्द हो जाते हैं ॥५७॥

शिथिलाकुलमूर्धजा तथान्या जघनस्रस्तविभूषणांशुकान्ता ।
अशयिष्ट विकीर्णकण्ठसूत्रा गजभग्ना प्रतियातनाङ्गनेव ॥५८॥

उसी प्रकार दूसरी (स्त्रियाँ), जिनके केश शिथिल व अस्त-व्यस्त थे और जाँघोंसे जिनके गहने व कपड़ेके छोर गिर गये थे, और जिनके कण्ठ-सूत्र बिखरे हुए थे, इस तरह (बेहोश होकर) सोईं, जैसे हाथी द्वारा तोड़ी गई स्त्रीकी प्रतिमा (पड़ी हो) ॥५८॥

अपरास्त्ववशा ह्रिया वियुक्ता धृतिमत्योऽपि वपुर्गुणैरुपेताः।
विनिशश्वसुरुल्बणं शयाना विकृताः क्षिप्तभुजा जजृम्भिरे च ॥५९॥

दूसरी (स्त्रियाँ) अत्यन्त रूपवती तथा धीर होनेपर भी विवशता के कारण लाज रहित हो असभ्य ढंगसे सोती हुई, जोरोंसे साँसें छोड़ रही थीं; वे विकृत थीं, भुजाएँ फेंक रही थीं और जँभाई ले रही थीं ॥५९॥

व्यपविद्धविभूषणस्रजोऽन्या विसृताग्रन्थनवाससो विसंज्ञाः।
अनिमीलितशुक्लनिश्चलाक्ष्यो न विरेजुः शयिता गतासुकल्पाः ॥६०॥

दूसरी, जिनके गहने व मालाएँ अलग फेंकी हुई थीं और जिनके वस्त्रोंकी ग्रन्थियाँ खुली हुई थीं, बेहोश पड़ी थीं। उनकी निश्चल आँखोंकी सफेदी दिखाई पड़ती थी। मुर्दोंके समान सोई हुई वे शोभित नहीं हुईं ॥६०॥

विवृतास्यपुटा विवृद्धगात्री प्रपतद्वक्त्रजला प्रकाशगुह्या।
अपरा मदघूर्णितेव शिश्ये न बभासे विकृतं वपुः पुपोष ॥६१॥

दूसरी मदमातीकी भाँति सोई। उसका मुख-पुट खुला था, गात्र फैले हुए थे, (अतः क्रमशः) उसके मुखसे जल गिर रहा था और गुह्य भाग प्रकाशित हो रहे थे। वह शोभित नहीं हुई। उसने विकृत रूप धारण किया ॥६१॥

इति सत्त्वकुलान्वयानुरूपं विविधं स प्रमदाजनः शयानः।
सरसः सदृशं बभार रूपं पवनावर्जितरुग्णपुष्करस्य ॥६२॥

स्वभाव, कुल, एवं अन्वयके अनुसार भाँति-भाँतिसे सोये हुए उस प्रमदा-वृन्दने उस सरोवरके सदृश रूप धारण किया, जिसके कमल हवामें झुकाये गये और टेढ़े किये गये हों ॥६२॥

समवेक्ष्य तथा तथा शयाना विकृतास्ता युवतीरधीरचेष्टाः।
गुणवद्वपुषोऽपि वल्गुभासो नृपसूनुः स विगर्हयांबभूव ॥६३॥

उस उस प्रकारसे सोती हुई चंचल चेष्टाओंवाली युवतियोंको, यद्यपि उनके शरीर रूपवान् और वचन मनोहर थे, बीभत्स देखकर उस राजकुमारने यों निन्दा कीः—॥६३॥

अशुचिर्विकृतश्च जीवलोके वनितानामयमीदृशः स्वभावः।
वसनाभरणैस्तु वञ्च्यमानः पुरुषः स्त्रीविषयेषु रागमेति ॥६४॥

"जीव-लोकमें वनिताओंका यह ऐसा स्वभाव बीभत्स और अपवित्र है; किन्तु वस्त्रों और आभूषणोंसे ठगा जाता पुरुष स्त्रियोंसे अनुराग करता है ॥६४॥

विमृशेद्यदि योषितां मनुष्यः प्रकृतिं स्वप्नविकारमीदृशं च।
ध्रुवमत्र न वर्धयेत्प्रमादं गुणसङ्कल्पहतस्तु रागमेति ॥६५॥

यदि मनुष्य स्त्रियोंके स्वभाव तथा स्वप्नावस्थाके ऐसे विकारका विचार करे, तो अवश्य ही उसमें वह अपनी असावधानी न बढ़ावे; किन्तु, स्त्रीमें गुण हैं, इस विचारसे अभिभूत होकर वह उससे अनुराग करता है" ॥६५॥

इति तस्य तदन्तरं विदित्वा निशि निश्चिक्रमिषा समुद्बभूव।
अवगम्य मनस्ततोऽस्य देवैर्भवनद्वारमपावृतं बभूव ॥६६॥

यह अन्तर जानकर रातको निष्क्रमण करनेकी उसकी इच्छा हुई। तब उसका मन जानकर देवों द्वारा गृहद्वार खोल दिया गया ॥६६॥

अथ सोऽवततार हर्म्यपृष्ठाद्युवतीस्ताः शयिता विगर्हमाणः।
अवतीर्य ततश्च निर्विशङ्को गृहकक्ष्यां प्रथमां विनिर्जगाम ॥६७॥

तब सोई हुई उन युवतियोंकी निन्दा करता हुआ वह प्रासादपरसे उतरा। और वहाँसे उतरकर, निश्शङ्क हो घरकी पहली कक्ष्या (आंगन)में गया ॥६७॥

तुरगावचरं स बोधयित्वा जविनं छन्दकमित्थमित्युवाच।
हयमानय कन्थकं त्वरावानमृतं प्राप्तुमितोऽद्य मे यियासा ॥६८॥

वेगवान् छन्दक नामक अश्वरक्षकको जगाकर, उसने इस प्रकार कहा:— "शीघ्रतासे कन्थक घोड़ेको लाओ, आज यहाँसे अमरत्व प्राप्त करनेके लिए मेरी जानेकी इच्छा है ॥ ६८ ॥

हृदि या मम तुष्टिरद्य जाता व्यवसायश्च यथा मतौ निविष्टः।
विजनेऽपि च नाथवानिवास्मि ध्रुवमर्थोऽभिमुखः समेत इष्टः ॥६९॥

आज मेरे हृदयमें जो संतोष हुआ है, और बुद्धि जिस प्रकार निश्चयात्मक हुई है और विजनमें भी जिस प्रकार नाथवान्‌के समान हूँ, निश्चय ही इष्ट लक्ष्य सामने आ गया है ॥ ६९ ॥

ह्रियमेव च संनतिं च हित्वा शयिता मत्प्रमुखे यथा युवतयः।
विवृते च यथा स्वयं कपाटे नियतं यातुमता ममाद्य कालः ॥७०॥

लाज व विनयको छोड़कर युवतियाँ जिस प्रकार मेरे सामने सोई हुई हैं, और किवाड़ जिस प्रकार स्वयं खुल गये हैं, निश्चय ही आज यहाँसे जानेका मेरा समय है" ॥ ७० ॥

प्रतिगृह्य ततः स भर्तुराज्ञां विदितार्थोऽपि नरेन्द्रशासनस्य।
मनसीव परेण चोद्यमानस्तुरगस्यानयने मतिं चकार ॥७१॥

तब राजाके आदेशका अर्थ जानते हुए भी उसने स्वामीकी आज्ञा मान ली। और, मन में मानो दूसरेसे प्रेरित होते हुए उसने घोड़ा लानेका विचार किया ॥ ७१ ॥

अथ हेमखलीनपूर्णवक्त्रं लघुशय्यास्तरणोपगूढपृष्ठम्।
बलसत्त्वजवान्वयोपपन्नं स वराश्वं तमुपानिनाय भर्त्रे ॥७२॥

तब स्वामीके लिए वह उस श्रेष्ठ घोड़ेको ले आया, जिसका मुँह सोनेकी लगामसे भरा था, जिसकी पीठ हलकी पलान व झूलसे आलिङ्गित (= ढँकी) थी, जो बल, सत्त्व, वेग व वंशसे युक्त था ॥ ७२ ॥

प्रततत्रिकपुच्छमूलपार्ष्णिं निभृतह्रस्वतनूजपुच्छकर्णम्।
विनतोन्नतपृष्ठकुक्षिपार्श्वं विपुलप्रोथललाटकट्युरस्कम् ॥७३॥

जिसके त्रिक (= रीढ़का निचला भाग), पुच्छ-मूल व पार्ष्णि (एँड़ी, पाँवका पिछला भाग) विस्तीर्ण थे, जिसके बाल पुच्छ व कान छोटे तथा निश्चल थे, जिसकी पीठ व बगल दबे हुए और उठे हुए थे, जिसकी नाक, ललाट, कमर व छाती विशाल थी ॥ ७३ ॥

उपगुह्य स तं विशालवक्षाः कमलाभेन च सान्त्वयन् करेण।
मधुराक्षरया गिरा शशास ध्वजिनीमध्यमिव प्रवेष्टुकामः ॥७४॥

उस विशाल वक्षःस्थलवालेने कमलके समान कान्तिमान् हाथसे उसे छूकर सान्त्वना देते हुए मधुर अक्षरों-भरी वाणीमें ऐसे आदेश दिया, जैसे वह (विपक्षी) सेनाके बीच प्रवेश करनेकी इच्छा (तैयारी) कर रहा हो:—॥७४॥

बहुशः किल शत्रवो निरस्ताः समरे त्वामधिरुह्य पार्थिवेन।
अहमप्यमृतं पदं यथावत्तुरगश्रेष्ठ लभेय तत्कुरुष्व ॥७५॥

"तुझपर चढ़कर राजाने युद्धमें शत्रुओंको अनेक बार परास्त किया। हे तुरगश्रेष्ठ, मैं भी उस अमर पदको जिस प्रकार पाऊँ वैसा करो ॥ ७५ ॥

सुलभाः खलु संयुगे सहाया विषयावाप्तसुखे धनार्जने वा।
पुरुषस्य तु दुर्लभाः सहायाः पतितस्यापदि धर्मसंश्रये वा ॥७६॥

युद्धमें, विषयोंसे प्राप्त होनेवाले सुखमें, या धन-अर्जनमें साथी सुलभ होते है; किन्तु आपत्तिमें पड़नेपर या धर्मका आश्रय लेनेमें पुरुषके साथी दुर्लभ हैं ॥७६॥

इह चैव भवन्ति ये सहायाः कलुषे कर्मणि धर्मसंश्रये वा।
अवगच्छति मे यथान्तरात्मा नियतं तेऽपि जनास्तदंशभाजः ॥७७॥

और, इस संसारमें पाप-कर्ममें या धर्मका आश्रय लेनेमें जो साथी होते हैं, मेरी अन्तरात्मा जैसा समझती है, अवश्य ही वे लोग भी उस कर्म-फलके हिस्सेदार होते हैं ॥७७॥

तदिदं परिगम्य धर्मयुक्तं मम निर्याणमितो जगद्धिताय।
तुरगोत्तम वेगविक्रमाभ्यां प्रयतस्वात्महिते जगद्धिते च ॥७८॥

तब यहाँसे जगत्के हितके लिए मेरे इस निष्क्रमणको धर्म-युक्त जानकर, हे तुरग-श्रेष्ठ, आत्म-हित व जगत्-हितके लिए वेग और पराक्रमपूर्वक प्रयत्न करो।" ॥७८॥

इति सुहृदमिवानुशिष्य कृत्ये तुरगवरं नृवरो वनं यियासुः।
सितमसितगतिद्युतिर्वपुष्मान् रविरिव शारदमभ्रमारुरोह ॥७९॥

वन जानेके इच्छुक उस नर-श्रेष्ठने उस उत्तम घोड़ेको कर्तव्य करनेके लिए ऐसे आदेश दिया, जैसे कि वह उसका मित्र हो; अग्निके समान

कान्तिमान् वह रूपवान् राजकुमार उजले घोड़ेपर इस प्रकार चढ़ा, जैसे शरत्कालीन मेघपर सूर्य ॥७९॥

अथ स परिहरन्निशीथचण्डं परिजनबोधकरं ध्वनिं सदश्वः।
विगतहनुरवः प्रशान्तहेषश्चकितविमुक्तपदक्रमो जगाम ॥८०॥

तब वह अच्छा घोड़ा रात्रिकालकी प्रचण्ड तथा परिजनोंको जगानेवाली ध्वनिको रोकता हुआ चला; उसके जबड़े निःशब्द थे, उसकी हिनहिनाहट शान्त थी, और उसके पग निर्भय थे ॥८०॥

कनकवलयभूषितप्रकोष्ठैः कमलनिभैः कमलानिव प्रविध्य।
अवनततनवस्ततोऽस्य यक्षाश्चकितगतैर्दधिरे खुरान् कराग्रैः ॥८१॥

देह झुकाकर यक्षोंने अपने पुलकित हाथोंके अग्रभागोंसे इसके खुर पकड़ लिये; और कमल-सदृश हाथोंसे, जिनके प्रकोष्ठ सुवर्ण-कङ्कणोंसे भूषित थे, वे मानो कमल बिखेर रहे थे ॥८१॥

गुरुपरिघकपाटसंवृता या न सुखमपि द्विरदैरपाव्रियन्ते।
व्रजति नृपसुते गतस्वनास्ताः स्वयमभवन्विवृताः पुरःप्रतोल्यः ॥८२॥

फाटकके भारी किवाड़ोंसे बन्द जो नगर-द्वार हाथियोंसे भी सुखपूर्वक नहीं खुलते थे, वे राजाके पुत्रके जानेपर स्वयं निःशब्द खुल गये ॥८२॥

पितरमभिमुखं सुतं च बालं जनमनुरक्तमनुत्तमां च लक्ष्मीम्।
कृतमतिरपहाय निर्व्यपेक्षः पितृनगरात्स ततो विनिर्जगाम ॥८३॥

तब वह कृतनिश्चय निरपेक्ष होकर स्नेही पिताको, बालपुत्रको, अनुरक्त लोगों को, और अनुपम लक्ष्मीको छोड़कर, पितृ नगरसे निकल गया ॥८३॥

अथ स विमलपङ्कजायताक्षः पुरमवलोक्य ननाद सिंहनादम्।
जननमरणयोरदृष्टपारो न पुरमहं कपिलाह्वयं प्रवेष्टा ॥८४॥

तब विमल कमलोंके समान विशाल आँखोंवाले उस कुमारने नगरको देखकर सिंहनाद किया:—"जन्म व मृत्युका पार देखे बिना कपिल नामके इस नगरमें फिर प्रवेश न करूँगा।" ॥८४॥

इति वचनमिदं निशम्य तस्य द्रविणपतेः परिषद्गणा ननन्दुः।
प्रमुदितमनसश्च देवसङ्घा व्यवसितपारणमाशशंसिरेऽस्मै ॥८५॥

उसका यह वचन सुनकर, द्रविण-पति (= कुबेर) की परिषद्के गण आनन्दित हुए; और प्रसन्नचित्त देव-संघोंने उसकी निश्चय-पूर्तिकी इच्छा की ॥८५॥

हुतवहवपुषो दिवौकसोऽन्ये व्यवसितमस्य सुदुष्करं विदित्वा।
अकृषत तुहिने पथि प्रकाशं घनविवरप्रसृता इवेन्दुपादाः ॥८६॥

उसके अति दुष्कर निश्चयको जानकर अग्निके समान रूपवान् अन्य देवों-ने, जैसे बादलोंके बीचसे फैली चन्द्र-किरणोंने, उसके बर्फीले रास्तेमें प्रकाश किया ॥ ८६ ॥

हरितुरगतुरङ्गवत्तुरङ्गः स तु विचरन्मनसीव चोद्यमानः।
अरुणपरुषतारमन्तरिक्षं स च सुबहूनि जगाम योजनानि ॥८७॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्येऽभिनिष्क्रमणो नाम पञ्चमः सर्गः।

सूर्यके घोड़ेके समान वह घोड़ा, जो मानो मनमें प्रेरित होता हुआ चल रहा था, और वह कुमार, उषाके आगमनसे आसमानके तारोंके फीके होनेसे पहले ही बहुत योजन चले गये ॥ ८७ ॥

बुद्धचरित महाकाव्यका "अभिनिष्क्रमण" नामक
पञ्चम सर्ग समाप्त ।

षष्ठ सर्ग

छन्दक-विसर्जन

ततो मुहूर्ताभ्युदिते जगच्चक्षुषि भास्करे।
भार्गवस्याश्रमपदं स ददर्श नृणां वरः ॥ १ ॥

तब एक मुहूर्तमें जगत्-चक्षु सूर्यके उगनेपर उस नर-श्रेष्ठने भार्गवका आश्रम देखा ॥ १ ॥

सुप्तविश्वस्तहरिणं स्वस्थस्थितविहङ्गमम्।
विश्रान्त इव यद्दृष्ट्वा कृतार्थ इव चाभवत् ॥ २ ॥

जहाँ विश्वस्त (= निर्भय) होकर हरिण सोये हुए थे और स्वस्थ (= शान्त) होकर पक्षी बैठे हुए थे, जिस (आश्रम) को देखकर उसकी थकावट मानो चली गई और वह मानो कृतार्थ हुआ ॥ २ ॥

स विस्मयनिवृत्त्यर्थं तपःपूजार्थमेव च।
स्वां चानुवर्तितां रक्षन्नश्वपृष्ठादवातरत् ॥ ३ ॥

औद्धत्य छोड़नेके लिए और तपस्याके सम्मानके लिए अपने आचरणकी रक्षा करता हुआ वह घोड़ेकी पीठसे उतर गया ॥ ३ ॥

अवतीर्य च पस्पर्श निस्तीर्णमिति वाजिनम्।
छन्दकं चाब्रवीत्प्रीतः स्नापयन्निव चक्षुषा ॥ ४ ॥

और, उतरकर "पार लगाया" यह कहते हुए घोड़ेको स्पर्श किया। और, प्रसन्न होकर छन्दकको आँखोंसे मानो नहवाते हुए कहा:—॥ ४ ॥

इमं तार्क्ष्योपमजवं तुरङ्गमनुगच्छता।
दर्शिता सौम्य मद्भक्तिर्विक्रमश्चायमात्मनः ॥ ५ ॥

"गरुड़के समान वेगवान् इस घोड़ेका अनुसरण करते हुए, हे सौम्य, तुमने मेरे प्रति भक्ति और अपना पराक्रम दिखाये ॥ ५ ॥

सर्वथास्म्यन्यकार्योऽपि गृहीतो भवता हृदि।
भर्तृस्नेहश्च यस्यायमीदृशः शक्तिरेव च ॥ ६॥

यद्यपि सब प्रकारसे अन्य कार्योंमें लगा (अन्यमनस्क) हूँ, तथापि तुमने इस स्वामि-स्नेह और शक्तिके द्वारा मेरा हृदय हरण कर लिया है ॥ ६ ॥

अस्निग्धोऽपि समर्थोऽस्ति निःसामर्थ्योऽपि भक्तिमान्।
भक्तिमांश्चैव शक्तश्च दुर्लभस्त्वद्विधो भुवि ॥ ७॥

स्नेह-हीन होनेपर भी आदमी समर्थ होता है; सामर्थ्य-हीन होनेपर भी भक्तिमान् होता है। तुम्हारे-जैसा भक्तिमान् और शक्तिमान् पुरुष पृथ्वीपर दुर्लभ है ॥ ७ ॥

तत्प्रीतोऽस्मि तवानेन महाभागेन कर्मणा।
यस्य ते मयि भावोऽयं फलेभ्योऽपि पराङ्मुखः ॥ ८॥

इसलिए तुम्हारे इस उत्तम कर्मसे प्रसन्न हूँ। मेरे प्रति तुम्हारा यह भाव निस्स्वार्थ और निष्काम है ॥ ८ ॥

को जनस्य फलस्थस्य न स्यादभिमुखो जनः।
जनीभवति भूयिष्ठं स्वजनोऽपि विपर्यये ॥ ९॥

फलमें स्थित (= फल देनेवाले व्यक्तिके) अनुकूल कौन नहीं होगा! विपरीतमें (अर्थात् फल मिलनेकी आशा नहीं रहनेपर) स्वजन भी प्रायः पराया हो जाता है ॥९॥

कुलार्थं धार्यते पुत्रः पोषार्थं सेव्यते पिता।
आशयाच्छ्लिष्यति जगन्नास्ति निष्कारणा स्वता ॥१०॥

वंश-वृद्धिके लिए पुत्रका पालन किया जाता है और पोषणके लिए पिताकी सेवाकी जाती है। आशयसे ही जगत् मेल करता है, बिना कारणके अपनापन नहीं होता है ॥१०॥

किमुक्त्वा बहु संक्षेपात्कृतं मे सुमहत्प्रियम्।
निवर्तस्वाश्वमादाय संप्राप्तोऽस्मीप्सितं पदम् ॥११॥

बहुत कहनेसे क्या ? संक्षेपमें, तुमने मेरा बड़ा प्रिय किया। घोड़ेको लेकर लौट जाओ। मैं इच्छित स्थानको पहुँच गया हूँ।" ॥११॥

इत्युक्त्वा स महाबाहुरनुशंसचिकीर्षया।
भूषणान्यवमुच्यास्मै संतप्तमनसे ददौ ॥१२॥

इतना कहकर प्रिय (उपकार) करनेकी इच्छा से, उस महाबाहुने अपने आभूषण खोलकर उस संतप्त-चित्त को दिये ॥१२॥

मुकुटाद्दीपकर्माणं मणिमादाय भास्वरम्।
ब्रुवन्वाक्यमिदं तस्थौ सादित्य इव मन्दरः ॥१३॥

दीएका काम करनेवाली चमकीली मणिको मुकुटसे लेकर, मन्दराचलके समान जिसके ऊपर सूर्य स्थित हो, शोभित होते हुए, उसने ये वचन कहे:—॥१३॥

अनेन मणिना छन्द प्रणम्य बहुशो नृपः।
विज्ञाप्योऽमुक्तविश्रम्भं संतापविनिवृत्तये ॥१४॥

"इस मणि से, हे छन्दक, राजाको बार-बार प्रणाम कर उनका सन्ताप दूर करनेके लिए विश्वासपूर्वक (यह सन्देश) निवेदन करना:—॥१४॥

जरामरणनाशार्थं प्रविष्टोऽस्मि तपोवनम्।
न खलु स्वर्गतर्षेण नास्नेहेन न मन्युना ॥१५॥

जरा और मरणका विनाश करनेके लिए मैंने तपोवनमें प्रवेश किया है, अवश्य ही स्वर्गकी तृष्णासे नहीं, स्नेहके अभावसे नहीं, क्रोधसे नहीं ॥१५॥

तदेवमभिनिष्क्रान्तं न मां शोचितुमर्हसि।
भूत्वापि हि चिरं श्लेषः कालेन न भविष्यति ॥१६॥

अतः इस तरह मुझ निकले हुए के लिए आपको शोक नहीं करना चाहिए; क्योंकि संयोग (= मिलन) चिरकालतक होकर भी समय पाकर नहीं रहेगा ॥ १६ ॥

ध्रुवो यस्माच्च विश्लेषस्तस्मान्मोक्षाय मे मतिः।
विप्रयोगः कथं न स्याद्भूयोऽपि स्वजनादिति ॥१७॥

और, क्योंकि वियोग निश्चित है, इसलिए मोक्ष (पाने)के लिए मेरा विचार है, जिसमें फिर भी स्वजनसे वियोग न हो ॥ १७ ॥

शोकत्यागाय निष्क्रान्तं न मां शोचितुमर्हसि।
शोकहेतुषु कामेषु सक्ताः शोच्यास्तु रागिणः॥१८॥

शोक-त्यागके लिए मुझ निकले हुएके लिए आपको शोक नहीं करना चाहिए। शोकके हेतु-स्वरूप काम भोगोंमें आसक्त रागी व्यक्तियोंके लिए शोक करना चाहिए॥ १८॥

अयं च किल पूर्वेषामस्माकं निश्चयः स्थिरः।
इति दायाद्यभूतेन न शोच्योऽस्मि पथा व्रजन्॥१९॥

और, यह तो हमारे पूर्वपुरुषोंका दृढ़ निश्चय था; (इस) पैतृक (=पूर्वजोंके) मार्गपर चल रहा हूँ, अतः मेरे लिए शोक नहीं किया जाना चाहिए॥ १९॥

भवन्ति ह्यर्थदायादाः पुरुषस्य विपर्यये।
पृथिव्यां धर्मदायादाः दुर्लभास्तु न सन्ति वा॥२०॥

उलट-पुलट (=मृत्यु) होनेपर पुरुषके धनके दायाद होते हैं; किन्तु पृथिवीपर धर्मके दायाद दुर्लभ हैं या हैं ही नहीं॥ २०॥

यदपि स्यादसमये यातो वनमसाविति।
अकालो नास्ति धर्मस्य जीविते चञ्चले सति॥२१॥

यह कि वह (कुमार) असमयमें वन गया, तो (कहूँगा कि) जीवन चञ्चल होनेके कारण धर्मके लिए असमय नहीं है॥ २१॥

तस्मादद्यैव मे श्रेयश्चेतव्यमिति निश्चयः।
जीविते को हि विश्रम्भो मृत्यौ प्रत्यर्थिनि स्थिते॥२२॥

इसलिए कल्याणका चयन (=अर्जन) मैं आज ही करूँगा, यही निश्चय है; क्योंकि मृत्युरूप शत्रुके रहनेपर जीवनमें क्या विश्वास?॥ २२॥

एवमादि त्वया सौम्य विज्ञाप्यो वसुधाधिपः।
प्रयतेथास्तथा चैव यथा मां न स्मरेदपि॥२३॥

इस प्रकार, हे सौम्य, तुम्हें राजासे निवेदन करना चाहिए और वैसा ही प्रयत्न करो, जिससे वह मुझे स्मरण भी न करें॥ २३॥

अपि नैर्गुण्यमस्माकं वाच्यं नरपतौ त्वया।
नैर्गुण्यात्त्यज्यते स्नेहः स्नेहत्यागान्न शोच्यते ॥२४॥

तुम्हें नरपतिसे हमारी निर्गुणता (= दोष) भी कहना चाहिए। निर्गुणताके कारण स्नेह छोड़ते हैं, स्नेह छोड़नेसे शोक नहीं होता है।" ॥ २४ ॥

इति वाक्यमिदं श्रुत्वा छन्दः संतापविक्लवः।
बाष्पग्रथितया वाचा प्रत्युवाच कृताञ्जलिः ॥२५॥

यह वाक्य सुनकर सन्तापसे विकल छन्दकने हाथ जोड़कर बाष्प-ग्रथित वाणीमें रो रोकर उत्तर दिया:—॥ २५ ॥

अनेन तव भावेन बान्धवायासदायिना।
भर्तः सीदति मे चेतो नदीपङ्क इव द्विपः ॥२६॥

"बान्धवोंको कष्ट देनेवाले आपके इस मनोभावसे, हे स्वामिन, मेरा चित्त नदी-पङ्कमें (फँसे) हाथीके समान दुख रहा है ॥ २६ ॥

कस्य नोत्पादयेद्बाष्पं निश्चयस्तेऽयमीदृशः।
अयोमयेऽपि हृदये किं पुनः स्नेहविक्लवे ॥२७॥

आपका यह ऐसा निश्चय किसके लोहेसे भी बने हृदयको द्रवीभूत नहीं करेगा, फिर स्नेह-विकल (हृदय)का क्या कहना ! ॥ २७ ॥

विमानशयनार्हं हि सौकुमार्यमिदं क्व च।
खरदर्भाङ्कुरवती तपोवनमही क्व च ॥२८॥

कहाँ प्रासादकी शय्याके योग्य यह सुकुमारता और कहाँ तीक्ष्ण तृण अंकुरोंसे युक्त तपोवनकी भूमि ! ॥२८॥

श्रुत्वा तु व्यवसायं ते यदश्वोऽयं मयाहृतः।
बलात्कारेण तन्नाथ दैवेनैवास्मि कारितः ॥२९॥

आपका निश्चय सुनकर मैं घोड़ा जो ले आया, हे नाथ, वह तो दैवने मुझसे बलात् कराया ॥२९॥

कथं ह्यात्मवशो जानन् व्यवसायमिमं तव।
उपानयेयं तुरगं शोकं कपिलवास्तुनः ॥३०॥

यदि मैं अपने वशमें होता तो आपका यह निश्चय जानकर मैं कपिलवस्तुका शोक—(यह) घोडा—(आपके समीप) कैसे लाता ? ॥३०॥

तन्नार्हसि महाबाहो विहातुं पुत्रलालसम्।
स्निग्धं वृद्धं च राजानं सद्धर्ममिव नास्तिकः ॥३१॥

इसलिए, हे महाबाहो, पुत्रके लिए उत्सुक स्नेही और वृद्ध राजा को, जैसे सद्धर्मको नास्तिक (छोड़ता है), आपको न छोड़ना चाहिए ॥ ३१ ॥

संवर्धनपरिश्रान्तां द्वितीयां तां च मातरम्।
देवीं नार्हसि विस्मर्तुं कृतघ्न इव सत्क्रियाम् ॥३२॥

और, पालन-पोषण करनेमें थकी उस दूसरी माता रानीको, जैसे सत्क्रियाको कृतघ्न (भूलता है), आपको न भूलना चाहिए ॥ ३२ ॥

बालपुत्रां गुणवतीं कुलश्लाघ्यां पतिव्रताम्।
देवीमर्हसि न त्यक्तुं क्लीवः प्राप्तामिव श्रियम् ॥३३॥

बाल-पुत्रवाली, गुणवती, तथा श्लाघ्य कुलवाली पतिव्रता देवी (= पत्नी) को, जैसे क्लीव आई हुई लक्ष्मीको (छोड़ता है), आपको न छोड़ना चाहिए ॥ ३३ ॥

पुत्रं याशोधरं श्लाघ्यं यशोधर्मभृतां वरम्।
बालमर्हसि न त्यक्तुं व्यसनीवोत्तमं यशः ॥३४॥

यशोधराके बालपुत्रको, जो प्रशंसाके योग्य है और जो यश एवं धर्म धारण करनेवालोंमें श्रेष्ठ है, जैसे उत्तम यशको व्यसनी (छोड़ता है), आपको न छोड़ना चाहिए ॥ ३४ ॥

अथ बन्धुं च राज्यं च त्यक्तुमेव कृता मतिः।
मां नार्हसि विभो त्यक्तुं त्वत्पादौ हि गतिर्मम ॥३५॥

अथवा यदि बन्धु एवं राज्यको छोड़नेका ही विचार है, तो हे विभो, आपको मुझे न छोड़ना चाहिए; क्योंकि मेरी गति तो आपके ही चरणोंमें है ॥ ३५ ॥

नास्मि यातुं पुरं शक्तो दह्यमानेन चेतसा।
त्वामरण्ये परित्यज्य सुमन्त्र इव राघवम् ॥३६॥

आपको जंगलमें, जैसे सुमन्त्रने राघवको (छोड़ा था), छोड़कर जलते चित्तसे मैं नगरको नहीं जा सकता हूँ ॥ ३६ ॥

किं हि वक्ष्यति मां राजा त्वदृते नगरं गतम्।
वक्ष्याम्युचितदर्शित्वात्किं तवान्तःपुराणि वा ॥३७॥

आपके बिना नगरमें जानेपर राजा मुझे क्या कहेंगे ? या उचित (=शुभ)के दर्शनका अभ्यास होनेके कारण अन्तःपुरमें मैं क्या कहूँगा ? ॥ ३७ ॥

यदप्यात्थापि नैर्गुण्यं वाच्यं नरपताविति।
किं तद्वक्ष्याम्यभूतं ते निर्दोषस्य मुनेरिव ॥३८॥

यह जो कहा कि "राजासे मेरी निर्गुणता कहना; तो क्या मुनिके समान आप निर्दोषके बारेमें असत्य कहूँगा ? ॥ ३८ ॥

हृदयेन सलज्जेन जिह्वया सज्जमानया।
अहं यद्यपि वा ब्रूयां कस्तच्छ्रद्धातुमर्हति ॥३९॥

लज्जा-युक्त हृदयसे और (किसी किसी तरह) सज्जित (= उद्यत) होती जीभसे यदि मैं कहूँ भी, तो कौन विश्वास करेगा ? ॥ ३९ ॥

यो हि चन्द्रमसस्तैक्ष्ण्यं कथयेच्छ्रद्दधीत वा।
स दोषांस्तव दोषज्ञ कथयेच्छ्रद्दधीत वा ॥४०॥

जो चन्द्रमाकी तीक्ष्णता कहेगा या उसपर विश्वास करेगा, हे दोषज्ञ, वही आपके दोष कहे या उसपर विश्वास करे ॥ ४० ॥

सानुक्रोशस्य सततं नित्यं करुणवेदिनः।
स्निग्धत्यागो न सदृशो निवर्तस्व प्रसीद मे ॥४१॥

जो सदा दयावान् है, नित्य करुणा अनुभव करता है, उसके लिए स्नेही-का त्याग योग्य नहीं। लौटिये, मुझपर प्रसन्न होइये" ॥ ४१ ॥

इति शोकाभिभूतस्य श्रुत्वा छन्दस्य भाषितम्।
स्वस्थः परमया धृत्या जगाद वदतां वरः ॥४२॥

शोकसे अभिभूत छन्द (= छन्दक)का वचन सुनकर, वक्ताश्रेष्ठने स्वस्थ (= शान्त) होकर अत्यन्त धैर्यपूर्वक कहा:—॥ ४२ ॥

मद्वियोगं प्रति च्छन्द संतापस्त्यज्यतामयम्।
नानाभावो हि नियतं पृथग्जातिषु देहिषु ॥४३॥

"मेरे वियोगके प्रति, हे छन्दक, यह संताप छोड़ो; देह-धारियोंका पृथक् होना नियत है, क्योंकि (मृत्युके बाद) उनका पृथक् पृथक् जन्म होता है ॥४३॥

स्वजनं यद्यपि स्नेहान्न त्यजेयमहं स्वयम्।
मृत्युरन्योन्यमवशानस्मान् संत्याजयिष्यति ॥४४॥

यदि स्नेहके कारण स्वजनको मैं स्वयं न भी छोड़ूँ, तो मृत्यु हम विवशोंसे एक दूसरेका त्याग करावेगी ॥ ४४ ॥

महत्या तृष्णया दुःखैर्गर्भेणास्मि यया धृतः।
तस्या निष्फलयत्नायाः क्वाहं मातुः क्व सा मम ॥४५॥

बड़ी तृष्णासे कष्ट-पूर्वक जिसके द्वारा मैं गर्भमें धारण किया गया, उस निष्फल-यत्ना माताका मैं कहाँ, मेरी वह कहाँ ? ॥ ४५ ॥

वासवृक्षे समागम्य विगच्छन्ति यथाण्डजाः।
नियतं विप्रयोगान्तस्तथा भूतसमागमः ॥४६॥

जिस प्रकार वास-वृक्षपर समागम होनेके बाद पक्षी पृथक्-पृथक् दिशामें चले जाते हैं, अवश्य ही उसी प्रकार प्राणियोंके समागमका अन्त वियोग है ॥ ४६ ॥

समेत्य च यथा भूयो व्यपयान्ति बलाहकाः।
संयोगो विप्रयोगश्च तथा मे प्राणिनां मतः ॥४७॥

और, जिस प्रकार बादल एकत्र होकर, फिर अलग हो जाते हैं, उसी प्रकार प्राणियोंका संयोग और वियोग है, (ऐसा) मैं समझता हूँ ॥ ४७ ॥

यस्माद्याति च लोकोऽयं विप्रलभ्य परंपरम्।
ममत्वं न क्षमं तस्मात्स्वप्नभूते समागमे ॥४८॥

और, क्योंकि लोग एक दूसरेको ठगकर चले जाते हैं, इसलिए स्वप्न-सदृश समागममें ममता उचित नहीं ॥ ४८ ॥

सहजेन वियुज्यन्ते पर्णरागेण पादपाः।
अन्येनान्यस्य विश्लेषः किं पुनर्न भविष्यति ॥४९॥

साथ पैदा होनेवाली पत्तोंकी लालीसे पौधोंका वियोग होता है, फिर क्या दूसरेसे दूसरेका वियोग न होगा ? ॥ ४९ ॥

तदेवं सति संतापं मा कार्षीः सौम्य गम्यताम् ।
लम्बते यदि तु स्नेहो गत्वापि पुनराव्रज॥५०॥

तब ऐसा होनेपर, हे सौम्य, संताप मत करो, जाओ । यदि स्नेह बना ही रहे तो जाकर भी फिर आओ ॥ ५० ॥

ब्रूयाश्चास्मत्कृतापेक्षं जनं कपिलवास्तुनि ।
त्यज्यतां तद्गतः स्नेहः श्रूयतां चास्य निश्चयः ॥५१॥

कपिलवास्तुमें मेरी आशा (= प्रतीक्षा) करनेवाले लोगोंसे कहना—उसके प्रति स्नेह छोड़िये और उसका निश्चय सुनिये ॥ ५१ ॥

क्षिप्रमेष्यति वा कृत्वा जन्ममृत्युक्षयं किल ।
अकृतार्थो निरारम्भो निधनं यास्यतीति वा ॥५२॥

जन्म और मृत्युका क्षय करके या तो वह शीघ्र ही आवेगा, या प्रयत्नहीन और असफल होकर मृत्युको प्राप्त होगा" ॥ ५२ ॥

इति तस्य वचः श्रुत्वा कन्थकस्तुरगोत्तमः ।
जिह्वया लिलिहे पादौ बाष्पमुष्णं मुमोच च ॥५३॥

उसका वचन सुनकर, तुरग-श्रेष्ठ कन्थकने जीभसे उसके पाँव चाटे और गर्म आँसू बहाये ॥ ५३ ॥

जालिना स्वस्तिकाङ्केन चक्रमध्येन पाणिना ।
आममर्श कुमारस्तं बभाषे च वयस्यवत् ॥५४॥

(रेखा-) जाल-युक्त और स्वस्तिक-चिह्न-युक्त हाथसे, जिसके बीच चक्र (का चिह्न) था, कुमारने उसे स्पर्श किया और समवयस्कके समान कहा:—॥ ५४ ॥

मुञ्च कन्थक मा बाष्पं दर्शितेयं सदश्वता ।
मृष्यतां सफलः शीघ्रं श्रमस्तेऽयं भविष्यति ॥५५॥

"हे कन्थक आँसू मत बहाओ, तुमने यह सदश्वता (= अच्छे घोड़ेका गुण) दिखाई । धैर्य रखो, शीघ्र ही तुम्हारा यह श्रम सफल होगा" ॥ ५५ ॥

मणित्सरुं छन्दकहस्तसंस्थं ततः स धीरो निशितं गृहीत्वा।
कोशादसिं काञ्चनभक्तिचित्रं बिलादिवाशीविषमुद्ववर्ह ॥५६॥

तब उस धीर (कुमार)ने मणियोंकी बँटवाली, सोनेसे मढ़ी तेज तलवार, जो छन्दकके हाथमें थी, (अपने हाथमें) ले ली और उसे म्यानसे ऐसे निकाला जैसे बिलसे साँपको (निकाल रहा हो) ॥ ५६ ॥

निष्कास्य तं चोत्पलपत्रनीलं चिच्छेद चित्रं मुकुटं सकेशम्।
विकीर्यमाणांशुकमन्तरीक्षे चिक्षेप चैनं सरसीव हंसम् ॥५७॥

और, उत्पलके पत्तोंके समान नीलवर्ण उस (तलवार) को निकालकर, केश-सहित चित्र-विचित्र मुकुटको काटा; और फैलती किरणोंके साथ उसे आकाशमें फेंका, जैसे हंसको सरोवरमें (फेंक रहा हो) ॥ ५७ ॥

पूजाभिलाषेण च बाहुमान्याद्दिवौकसस्तं जगृहुः प्रविद्धम्।
यथावदेनं दिवि देवसङ्घा दिव्यैर्विशेषैर्महयां च चक्रुः ॥५८॥

और, देवताओंने उस फेंके हुए (मुकुट) को सम्मानके कारण पूजा (करने) की अभिलाषासे ले लिया और स्वर्गमें देव-सङ्घोंने दिव्य विशेषताओंके साथ उसकी यथावत् पूजा की ॥ ५८ ॥

मुक्त्वा त्वलंकारकलत्रवत्तां श्रीविप्रवासं शिरसश्च कृत्वा।
दृष्ट्वांशुकं काञ्चनहंसचिह्नं वन्यं स धीरोऽभिचकाङ्क्ष वासः ॥५९॥

अलङ्काररूप कलत्रका स्वामित्व छोड़कर और शिरकी शोभाको निर्वासित कर, सुवर्ण-हंसोंसे चित्रित अपने अंशुकको देखकर, उस धीरने तपोवनके योग्य वस्त्रकी आकांक्षा की ॥ ५९ ॥

ततो मृगव्याधवपुर्दिवौका भावं विदित्वास्य विशुद्धभावः।
काषायवस्त्रोऽभिययौ समीपं तं शाक्यराजप्रभवोऽभ्युवाच ॥६०॥

तब उसका भाव जानकर, विशुद्धभाव देवता मृगोंके व्याधके रूपमें काषाय वस्त्र पहने हुए, उसके समीप गया; शाक्यराजके पुत्रने उसे कहा:—॥ ६० ॥

शिवं च काषायमृषिध्वजस्ते न युज्यते हिंस्रमिदं धनुश्च।
तत्सौम्य यद्यस्ति न सक्तिरत्र मह्यं प्रयच्छेदमिदं गृहाण ॥६१॥

"इस हिंसक धनुषके साथ तुम्हारा यह मङ्गलमय काषाय वस्त्र, जो ऋषियों का चिन्ह है, मेल नहीं खाता। इसलिए, हे सौम्य, यदि इसमें आसक्ति नहीं है, तो मुझे यह (अपना) दो, और यह (मेरा) लो!" ॥ ६१ ॥

व्याधोऽब्रवीत्कामद काममारादनेन विश्वास्य मृगान्निहन्मि ।
अर्थस्तु शक्रोपम यद्यनेन हन्त प्रतीच्छानय शुक्लमेतत् ॥६२॥

व्याधने कहा—"हे कामनाओंकी पूर्ति करनेवाले, समीपसे इसके द्वारा विश्वास पैदाकर मृगोंको मारता हूँ। किंतु, हे इन्द्र-तुल्य, यदि इससे प्रयोजन हो, तो लो और यह श्वेत (वस्त्र) लाओ" ॥ ६२ ॥

परेण हर्षेण ततः स वन्यं जग्राह वासोंऽशुकमुत्ससर्ज ।
व्याधस्तु दिव्यं वपुरेव बिभ्रत्तच्छुक्लमादाय दिवं जगाम ॥६३॥

तब परम हर्षसे उसने वन-योग्य वस्त्र ग्रहण किया और अंशुक छोड़ दिया। व्याध दिव्य शरीर धारणकर, श्वेत (वस्त्र) ले, स्वर्गको चला गया ॥६३॥

ततः कुमारश्च स चाश्वगोपस्तस्मिंस्तथा याति विसिस्मियाते ।
आरण्यके वाससि चैव भूयस्तस्मिन्नकार्ष्टां बहुमानमाशु ॥६४॥

तब उसके उस प्रकार जानेपर, कुमार और वह अश्व-रक्षक विस्मित हुए और उन्होंने वन-योग्य वस्त्रके प्रति (मनमें) बड़ा सम्मान किया ॥६४॥

छन्दं ततः साश्रुमुखं विसृज्य काषायसंभृद्धृतिकीर्तिभृत्सः ।
येनाश्रमस्तेन ययौ महात्मा संध्याभ्रसंवीत इवोडुराजः ॥६५॥

तब अश्रुमुख छन्दको विदाकर, काषाय-धारी धृतिमान् कीर्तिमान् वह महात्मा, सन्ध्या-कालीन मेघोंसे आवृत चन्द्रमाके समान, जहाँ आश्रम था वहाँ गया ॥६५॥

ततस्तथा भर्तरि राज्यनिःस्पृहे तपोवनं याति विवर्णवाससि ।
भुजौ समुत्क्षिप्य ततः स वाजिभृद्भृशं विचुक्रोश पपात च क्षितौ ॥६६॥

राज्य (-भोगकी) इच्छासे मुक्त हुआ उसका स्वामी जब विवर्ण वस्त्र पहनकर वहाँसे तपोवनकी ओर गया, तब भुजाओंको फैलाकर रोते-रोते वह अश्व-रक्षक पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥६६॥

विलोक्य भूयश्च रुरोद सस्वरं हयं भुजाभ्यामुपगुह्य कन्थकम्।
ततो निराशो विलपन्मुहुर्मुहुर्ययौ शरीरेण पुरं न चेतसा ॥६७॥

फिर (पीछे) देखकर, भुजाओंसे कन्थक घोड़ेको पकड़कर जोर-जोरसे रोया। तब निराश होकर बार-बार रोता हुआ वह, शरीरसे, न कि चित्तसे, नगरकी ओर गया ॥६७॥

क्वचित्प्रदध्यौ विललाप च क्वचित् क्वचित्प्रचस्खाल पपात च क्वचित्।
अतो व्रजन् भक्तिवशेन दुःखितश्चचार बह्वीरवशः पथि क्रियाः ॥६८॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्ये छन्दकनिवर्तनो नाम षष्ठः सर्गः।

कहीं ध्यान किया और कहीं विलाप, कहीं फिसला और कहीं गिरा। अतः भक्ति-वश दुःखी होकर जाते हुए, उस बेबसने मार्गमें बहुत-सी क्रियाएँ कीं ॥६८॥

बुद्धचरित महाकाव्यका "छन्दक-विसर्जन" नामक
षष्ठ सर्ग समाप्त।

६८—चतुर्थ पादमें "अवसः"की जगह "अवशः" रक्खा गया है।

सप्तम सर्ग

तपोवन-प्रवेश

ततो विसृज्याश्रुमुखं रुदन्तं छन्दं वनच्छन्दतया निरास्थः ।
सर्वार्थसिद्धो वपुषाभिभूय तमाश्रमं सिद्ध इव प्रपेदे ॥ १ ॥

तब वन (जाने) की इच्छाके कारण आसक्तियोंसे मुक्त होकर, अश्रुमुख रोते छन्दको विदा कर, सिद्धके समान अपने रूपसे उस आश्रमको अभिभूत करता हुआ सर्वार्थसिद्ध (= सिद्धार्थ) वहाँ गया ॥ १ ॥

स राजसूनुर्मृगराजगामी मृगाजिरं तन्मृगवत्प्रविष्टः ।
लक्ष्मीवियुक्तोऽपि शरीरलक्ष्म्या चक्षूंषि सर्वाश्रमिणां जहार ॥ २ ॥

मृगराजगामी उस नृपात्मजने मृगोंके उस आँगनमें मृगके समान प्रवेश किया। (वस्त्राभूषणोंकी) लक्ष्मी (= शोभा)से रहित होनेपर भी शरीरकी लक्ष्मीसे उसने सब आश्रमवासियोंकी आँखें हर लीं ॥ २ ॥

स्थिता हि हस्तस्थयुगास्तथैव कौतूहलाच्चक्रधराः सदाराः ।
तमिन्द्रकल्पं ददृशुर्न जग्मुर्धुर्या इवार्धावनतैः शिरोभिः ॥ ३ ॥

चक्रधर तपस्वी पत्नियोंके साथ कुतूहल-वश उसी प्रकार हाथोंमें जुए रखकर (भार-वाहक) बैलोंके समान आधे-झुके शिरोंसे उस इन्द्र-तुल्यको देखते रहे, (वहाँसे) गये नहीं ॥ ३ ॥

विप्राश्च गत्वा बहिरिध्महेतोः प्राप्ताः समित्पुष्पपवित्रहस्ताः ।
तपःप्रधानाः कृतबुद्धयोऽपि तं द्रष्टुमीयुर्न मठानभीयुः ॥ ४ ॥

होमकी लकड़ीके लिए बाहर गये विप्र लौट चुके थे, समिधा और फूलोंसे उनके हाथ पवित्र थे। महातपस्वी एवं बुद्धिमान् होनेपर भी वे उसे देखनेके लिए गये, मठोंमें नहीं गये ॥ ४ ॥

३—चक्रधर तपस्वी हाथोंमें जुए रखकर हल चलाते होंगे ।

हृष्टाश्च केका मुमुचुर्मयूरा दृष्ट्वाम्बुदं नीलमिवोन्नमन्तः।
शष्पाणि हित्वाभिमुखाश्च तस्थुर्मृगाश्चलाक्षा मृगचारिणश्च ॥५॥

प्रसन्न होकर उठते हुए मोर वैसे ही बोलने लगे, जैसे नीले बादलको देखकर। तृण छोड़कर चञ्चल आँखोंवाले मृग व मृगोंके समान (तृण) चरनेवाले तपस्वी सामने खड़े हुए ॥ ५ ॥

दृष्ट्वा तमिक्ष्वाकुकुलप्रदीपं ज्वलन्तमुद्यन्तमिवांशुमन्तम्।
कृतेऽपि दोहे जनितप्रमोदाः प्रसुस्रुवुर्होमदुहश्च गावः ॥ ६ ॥

उदय होते सूर्यके समान प्रज्वलित होते उस इक्ष्वाकु-कुल-प्रदीपको देखकर, प्रसन्न हुई गाएँ जो होमके लिए दूही जाती थीं, दूही जानेपर भी (फिर) प्रस्रवित हुई (उनके थनोंसे दूध चूने लगा) ॥ ६ ॥

कच्चिद्वसूनामयमष्टमः स्यात्स्यादश्विनोरन्यतरश्च्युतो वा।
उच्चैरुरुच्चैरिति तत्र वाचस्तद्दर्शनाद्विस्मयजा मुनीनाम् ॥ ७ ॥

"क्या यह वसुओंमेंसे अष्टम है या अश्विनोंमेंसे गिरा हुआ एक ?" उसके दर्शनसे मुनियोंके ऐसे ही विस्मय-जनक वचन वहाँ जोर जोरसे उच्चरित हुए ॥ ७ ॥

लेखर्षभस्येव वपुर्द्वितीयं धामेव लोकस्य चराचरस्य।
स द्योतयामास वनं हि कृत्स्नं यदृच्छया सूर्य इवावतीर्णः ॥ ८ ॥

इन्द्रके दूसरे शरीरके समान, चराचर संसारकी ज्योतिके समान, उसने समस्त वनको भासित किया, जैसे स्वेच्छासे उतरा हुआ सूर्य हो ॥ ८ ॥

ततः स तैराश्रमिभिर्यथावदभ्यर्चितश्चोपनिमन्त्रितश्च।
प्रत्यर्चयां धर्मभृतो बभूव स्वरेण साम्भोऽम्बुधरोपमेन ॥ ९ ॥

तब उन आश्रम-वासियों द्वारा यथावत् पूजित और निमन्त्रित होनेपर, उसने सजल जलदके समान स्वरसे उन धार्मिकोंकी प्रतिपूजा की ॥९॥

कीर्णं तथा पुण्यकृता जनेन स्वर्गाभिकामेन विमोक्षकामः।
तमाश्रमं सोऽनुचचार धीरस्तपांसि चित्राणि निरीक्षमाणः ॥१०॥

पुण्य (अर्जन) करनेवाले स्वर्गाभिलाषी लोगोंसे भरे उस आश्रममें मोक्षके इच्छुक उस धीरने, विविध तपस्याओंको देखते हुए, विचरण किया ॥१०॥

तपःप्रकारांश्च निरीक्ष्य सौम्यस्तपोवने तत्र तपोधनानाम् ।
तपस्विनं कंचिदनुव्रजन्तं तत्त्वं विजिज्ञासुरिदं बभाषे ॥११॥

वहाँ तपोवनमें तपस्वियोंकी विविध तपस्याएँ देखकर, उस सौम्यने पीछे-पीछे जाते हुए किसी तपस्वीसे, तत्त्व जाननेकी इच्छासे, यह कहा—॥११॥

तत्पूर्वमद्याश्रमदर्शनं मे यस्मादिमं धर्मविधिं न जाने ।
तस्माद्भवानर्हति भाषितुं मे यो निश्चयो यत्प्रति वः प्रवृत्तः ॥१२॥

"मेरा यह प्रथम आश्रम-दर्शन है, जिस कारण मैं इस धर्म-विधिको नहीं जानता हूँ । इसलिए आप मुझे कहें कि आप लोगोंका निश्चय क्या है, (और) किसके प्रति (यह निश्चय) प्रवृत्त है ॥१२॥

ततो द्विजातिः स तपोविहारः शाक्यर्षभायर्षभविक्रमाय ।
क्रमेण तस्मै कथयांचकार तपोविशेषांस्तपसः फलं च ॥१३॥

तब उस तपस्वी द्विजने उत्तम पराक्रमवाले उस शाक्य-श्रेष्ठसे क्रमशः तपस्याकी विशेषताएँ और तपस्याका फल बताये:—॥१३॥

अग्राम्यमन्नं सलिले प्ररूढं पर्णानि तोयं फलमूलमेव ।
यथागमं वृत्तिरियं मुनीनां भिन्नास्तु ते ते तपसां विकल्पाः ॥१४॥

"जलमें उत्पन्न अग्राम्य (= जंगली) अन्न, पत्ते, जल, फल और मूल, जैसा कि शास्त्र कहता है, यही मुनियोंकी वृत्ति (= आहार) है; तपस्याओंके भिन्न-भिन्न बहुतसे प्रकार हैं ॥१४॥

उञ्छेन जीवन्ति खगा इवान्ये तृणानि केचिन्मृगवच्चरन्ति ।
केचिद्भुजङ्गैः सह वर्तयन्ति वल्मीकभूता वनमारुतेन ॥१५॥

दूसरे (तपस्वी) चिड़ियोंकी तरह चुने हुए (अन्न)पर जीते हैं, (तो) कुछ मृगोंके समान तृण चरते हैं । वल्मीक (मिट्टीके ढेर) हुए कुछ (तपस्वी) साँपोंके साथ जंगली हवापर रहते हैं ॥१५॥

अश्मप्रयत्नार्जितवृत्तयोऽन्ये केचित्स्वदन्तापहतान्नभक्षाः ।
कृत्वा परार्थं श्रपणं तथान्ये कुर्वन्ति कार्यं यदि शेषमस्ति ॥१६॥

११—"तपोविकारांश्च"की जगह "तपःप्रकारांश्च" रक्खा गया है ।

दूसरे पत्थरोंसे कूटकर जीविका चलाते हैं, कोई अपने दाँतोंसे छिले अन्न खाते हैं। तथा दूसरे दूसरोंके लिए पाक करते हैं और यदि शेष रहता है, तो (अपना) कार्य (= भोजन आदि) करते हैं ॥१६॥

केचिज्जलक्लिन्नजटाकलापा द्विः पावकं जुह्वति मन्त्रपूर्वम्।
मीनैः समं केचिदपो विगाह्य वसन्ति कूर्मोल्लिखितैः शरीरैः ॥१७॥

कोई जलसे जटा-कलाप भिंगोकर दो बार मन्त्रपूर्वक अग्निमें हवन करते हैं। कोई जलमें प्रवेश कर मछलियोंके साथ रहते हैं, कछुओंसे उनके शरीर विद्ध होते रहते हैं ॥१७॥

एवंविधैः कालचितैस्तपोभिः परैर्दिवं यान्त्यपरैर्नृलोकम्।
दुःखेन मार्गेण सुखं ह्युपैति सुखं हि धर्मस्य वदन्ति मूलम् ॥१८॥

(उचित) कालमें अर्जित ऐसी उत्तम तपस्याओंसे वे स्वर्ग जाते हैं और निकृष्ट तपस्याओंसे मर्त्यलोक। दुःखके मार्गसे सुख प्राप्त होता है; (लोग) सुखको ही धर्मका मूल (= उद्देश्य) कहते हैं" ॥१८॥

इत्येवमादि द्विपदेन्द्रवत्सः श्रुत्वा वचस्तस्य तपोधनस्य।
अदृष्टतत्त्वोऽपि न संतुतोष शनैरिदं चात्मगतं बभाषे ॥१९॥

उस तपस्वीका ऐसा वचन सुनकर, राज-कुमारको, यद्यपि उसने तत्त्वको नहीं देखा था, संतोष नहीं हुआ और उसने धीरे-धीरे अपनेको यों कहा:—॥१९॥

दुःखात्मकं नैकविधं तपश्च स्वर्गप्रधानं तपसः फलं च।
लोकाश्च सर्वे परिणामवन्तः स्वल्पे श्रमः खल्वयमाश्रमाणाम् ॥२०॥

"अनेक प्रकारकी तपस्याएँ दुःखात्मक हैं, और तपस्याका प्रधान फल स्वर्ग है, और सब लोक विकारवान् (परिवर्तनशील) हैं; (तब) आश्रमों (=आश्रमवासियों)का यह श्रम निश्चय ही स्वल्प (उद्देश्य)के लिए है ॥२०॥

प्रियांश्च बन्धून्विषयांश्च हित्वा ये स्वर्गहेतोर्नियमं चरन्ति।
ते विप्रयुक्ताः खलु गन्तुकामा महत्तरं बन्धनमेव भूयः ॥२१॥

जो प्रिय बन्धुओं और विषयोंको छोड़कर स्वर्ग प्राप्त करनेके लिए नियमका आचरण करते हैं; वे उससे बिछुड़कर फिर और भी बड़े बन्धनमें जाना चाहते हैं ॥२१॥

कायक्लमैर्यश्च तपोऽभिधानैः प्रवृत्तिमाकाङ्क्षति कामहेतोः ।
संसारदोषानपरीक्षमाणो दुःखेन सोऽन्विच्छति दुःखमेव ॥२२॥

जो तप नामक शारीरिक क्लेशोंसे कामोपभोगके हेतु प्रवृत्ति (जीवन)की आकांक्षा करता है, वह भव-चक्रके दोषोंको नहीं देखता हुआ (तपरूप) दुःखसे (जीवनरूप) दुःखकी ही इच्छा करता है ॥२२॥

त्रासश्च नित्यं मरणात्प्रजानां यत्नेन चेच्छन्ति पुनःप्रसूतिम् ।
सत्यां प्रवृत्तौ नियतश्च मृत्युस्तत्रैव मग्ना यत एव भीताः ॥२३॥

मृत्युसे जीव बराबर डरते हैं और यत्नपूर्वक पुनर्जन्म चाहते हैं । प्रवृत्ति होनेपर मृत्यु निश्चित है । अतः वे जिससे डरते हैं उसीमें डूबते है ॥२३॥

इहार्थमेके प्रविशन्ति खेदं स्वर्गार्थमन्ये श्रममाप्नुवन्ति ।
सुखार्थमाशाकृपणोऽकृतार्थः पतत्यनर्थे खलु जीवलोकः ॥२४॥

कोई इस लोकके लिए कष्ट करते हैं, दूसरे स्वर्गके लिए श्रम करते हैं । निश्चय ही सुखकी आशासे दीन प्राणि-जगत् अकृतार्थ होकर विपत्तिमें पड़ता है ॥२४॥

न खल्वयं गर्हित एव यत्नो यो हीनमुत्सृज्य विशेषगामी ।
प्राज्ञैः समानेन परिश्रमेण कार्यं तु तद्यत्र पुनर्न कार्यम् ॥२५॥

अवश्य ही यह यत्न निन्दित नहीं जो हीनको छोड़कर विशेष (= उत्तम) की ओर जाता है । बुद्धिमानोंको समान परिश्रमसे वह करना चाहिए जिसमें फिर उन्हें (कुछ) न करना पड़े ॥२५॥

शरीरपीडा तु यदीह धर्मः सुखं शरीरस्य भवत्यधर्मः ।
धर्मेण चाप्नोति सुखं परत्र तस्मादधर्मं फलतीह धर्मः ॥२६॥

यदि इस लोकमें शरीर-पीड़ा (क्लेश, तप) धर्म है, तो शरीरका सुख अधर्म । धर्मसे पर-लोकमें (जीव) सुख प्राप्त करता है, इसलिए धर्म, इस लोकमें, अधर्मका फल धारण करता है ॥२६॥

यतः शरीरं मनसो वशेन प्रवर्तते चापि निवर्तते च ।
युक्तो दमश्चेतस एव तस्माच्चित्तादृते काष्ठसमं शरीरम् ॥२७॥

क्योंकि मनकी प्रभुतासे शरीर (कर्ममें) प्रवृत्त और (कर्मसे) निवृत्त होता है; इसलिए चित्तका ही दमन उचित है, चित्तके विना शरीर काठके समान है ॥२७॥

आहारशुद्ध्या यदि पुण्यमिष्टं तस्मान्मृगाणामपि पुण्यमस्ति।
ये चापि बाह्याः पुरुषाः फलेभ्यो भाग्यापराधेन पराङ्मुखार्थाः ॥२८॥

आहारकी शुद्धिसे यदि अभिलषित पुण्य हो, तब मृगोंको भी पुण्य होता है और उन लोगोंको भी, जो (धर्मके) फल (= सुख)से रहित हैं और भाग्य-दोषसे धन जिनसे विमुख है (क्योंकि ऐसे दुःखी तथा निर्धन मनुष्य तपस्वीका ही आहार करते हैं) ॥२८॥

दुःखेऽभिसंधिस्त्वथ पुण्यहेतुः सुखेऽपि कार्यो ननु सोऽभिसंधिः।
अथ प्रमाणं न सुखेऽभिसंधिर्दुःखे प्रमाणं ननु नाभिसंधिः ॥२९॥

दुःख (तपस्या)में यदि सङ्कल्प पुण्यका कारण है तो सुखमें भी वह सङ्कल्प करना चाहिए (जो कि पुण्यका कारण है)। यदि सुखमें सङ्कल्प प्रमाण नहीं है, तो दुःखमें भी सङ्कल्प प्रमाण नहीं है ॥ २९ ॥

तथैव ये कर्मविशुद्धिहेतोः स्पृशन्त्यपस्तीर्थमिति प्रवृत्ताः।
तत्रापि तोषो हृदि केवलोऽयं न पावयिष्यन्ति हि पापमापः ॥३०॥

उसी प्रकार कर्मकी शुद्धिके लिए जो लोग जलको तीर्थ समझकर स्पर्श करते हैं, उनके हृदयमें यह केवल संतोष ही है; क्योंकि पानी पापको पवित्र नहीं कर सकता ॥ ३० ॥

स्पृष्टं हि यद्यद्गुणवद्भिरम्भस्तत्तत्पृथिव्यां यदि तीर्थमिष्टम्।
तस्माद्गुणानेव परैमि तीर्थमापस्तु निःसंशयमाप एव ॥३१॥

२९—इस श्लोककी व्याख्या यह होगी:—"तपस्या करते हुए जो पुण्य प्राप्त होता है उसका कारण यदि मानसिक संकल्प (intention) है, तो सुखोपभोग करते हुए भी वही संकल्प करना चाहिए जिससे पुण्य प्राप्त हो। यदि सुखोपभोग करते हुए संकल्प करनेसे पुण्य नहीं मिल सकता है तो तपस्या करते हुए भी संकल्प करनेसे पुण्य नहीं मिलना चाहिए।

गुणवान् जिस-जिस जलका स्पर्श करते हैं यदि पृथिवीपर वही इष्ट तीर्थ है, तब गुणोंको ही मैं तीर्थ समझता हूँ, पानी तो निस्संदेह पानी ही है" ॥३१॥

इति स्म तत्तद्बहुयुक्तियुक्तं जगाद चास्तं च ययौ विवस्वान् ।
ततो हविर्धूमविवर्णवृक्षं तपःप्रशान्तं स वनं विवेश ॥३२॥

इस तरह उसने युक्ति-युक्त बहुत कुछ कहा और तब सूर्य अस्त हुआ। उसके बाद उसने वनमें प्रवेश किया, जिसके वृक्ष होमके धुएँसे विवर्ण थे और जहाँ तपस्याकी शान्ति थी ॥ ३२ ॥

अभ्युद्धृतप्रज्वलिताग्निहोत्रं कृताभिषेकर्षिजनावकीर्णम् ।
जाप्यस्वनाकूजितदेवकोष्ठं धर्मस्य कर्मान्तमिव प्रवृत्तम् ॥३३॥

वहाँ प्रज्वलित अग्निहोत्र उठाये जा रहे थे, स्नान किये ऋषियोंसे वह वन भर रहा था, जपके शब्दसे देव-मन्दिर कूजित थे, मानो वह वन धर्मका कर्मान्त हो गया था ॥ ३३ ॥

काश्चिन्निशास्तत्र निशाकराभः परीक्षमाणश्च तपांस्युवास ।
सर्वं परिक्षेप्य तपश्च मत्वा तस्मात्तपःक्षेत्रतलाज्जगाम ॥३४॥

वह चन्द्रोपम तपोंकी परीक्षा करता हुआ कई रातों तक वहाँ रहा। चारो ओरसे सब तपको समझकर, वह उस तपोभूमिसे चला गया ॥ ३४ ॥

अन्वव्रजन्नाश्रमिणस्ततस्तं तद्रूपमाहात्म्यगतैर्मनोभिः ।
देशादनार्यैरभिभूयमानान्महर्षयो धर्ममिवापयान्तम् ॥३५॥

उसके रूप तथा माहात्म्यसे आकृष्टचित्त आश्रम-वासी उसके पीछे-पीछे गये, जैसे अनार्योंसे जीते जाते देशसे हटते धर्मके पीछे-पीछे महर्षिगण जा रहे हों ॥ ३५ ॥

ततो जटावल्कलचीरखेलांस्तपोधनांश्चैव स तान्ददर्श ।
तपांसि चैषामनुरुध्यमानस्तस्थौ शिवे श्रीमति वृक्षमूले ॥३६॥

तब उसने जटा-वल्कल-चीर-वस्त्र-धारी उन तपस्वियोंको आते देखा और उनके तपोंका सम्मान करता हुआ वह मंगलमय सुन्दर वृक्षके नीचे ठहर गया ॥ ३६ ॥

---

३३ —कर्मान्त = खलिहान, कारखाना, स्थली ।

अथोपसृत्याश्रमवासिनस्तं मनुष्यवर्यं परिवार्य तस्थुः।
वृद्धश्च तेषां बहुमानपूर्वं कलेन साम्ना गिरमित्युवाच ॥३७॥

तब समीप जाकर, आश्रम-वासी उस नर-श्रेष्ठको घेरकर खड़े हो गये और उनमेंसे वृद्धने अति सम्मानपूर्वक मधुरता एवं सान्त्वनासे यह वचन कहा:—॥३७॥

त्वय्यागते पूर्ण इवाश्रमोऽभूत्संपद्यते शून्य इव प्रयाते।
तस्मादिमं नार्हसि तात हातुं जिजीविषोर्देहमिवेष्टमायुः ॥३८॥

"आपके आनेपर आश्रम मानो पूर्ण हो गया था, जानेपर मानो शून्य हो रहा है। इसलिए, हे तात, आपको इसे न छोड़ना चाहिए, जैसे जीनेकी इच्छा करनेवालेकी देहको अभिलषित आयु (न छोड़े) ॥३८॥

ब्रह्मर्षिराजर्षिसुरर्षिजुष्टः पुण्यः समीपे हिमवान् हि शैलः।
तपांसि तान्येव तपोधनानां यत्संनिकर्षाद्बहुलीभवन्ति ॥३९॥

ब्रह्मर्षियों, राजर्षियों और देवर्षियोंसे सेवित पवित्र हिमवान् पर्वत समीपमें है, जिसकी निकटतासे तपस्वियोंकी ये ही तपस्याएँ (प्रभावमें) बढ़ जाती हैं ॥३९॥

तीर्थानि पुण्यान्यभितस्तथैव सोपानभूतानि नभस्तलस्य।
जुष्टानि धर्मात्मभिरात्मवद्भिर्देवर्षिभिश्चैव महर्षिभिश्च ॥४०॥

उसी प्रकार स्वर्गके सोपान-स्वरूप ये पवित्र तीर्थ चारो ओर हैं, जो धर्मात्मा तथा आत्मवान् देवर्षियों और महर्षियोंसे सेवित हैं ॥ ४० ॥

इतश्च भूयः क्षममुत्तरैव दिक्सेवितुं धर्मविशेषहेतोः।
न तु क्षमं दक्षिणतो बुधेन पदं भवेदेकमपि प्रयातुम् ॥४१॥

और, यहाँसे फिर विशेष धर्मके हेतु उत्तर दिशाका ही सेवन करना उचित है, बुद्धिमान्के लिए दक्षिणकी ओर एक पग भी जाना उचित नहीं होगा ॥४१॥

तपोवनेऽस्मिन्नथ निष्क्रियो वा संकीर्णधर्मापतितोऽशुचिर्वा।
दृष्टस्त्वया येन न ते विवत्सा तद्ब्रूहि यावद्रुचितोऽस्तु वासः ॥४२॥

यदि आपने इस तपोवनमें (किसीको) निष्क्रिय, या संकीर्ण धर्ममें गिरा हुआ अपवित्र देखा है, जिससे आपकी यहाँ रहनेकी इच्छा नहीं, तो वैसा कहिये, और तबतक आप यहाँ रहें ॥ ४२ ॥

इमे हि वाञ्छन्ति तपःसहायं तपोनिधानप्रतिमं भवन्तम् ।
वासस्त्वया हीन्द्रसमेन सार्धं बृहस्पतेरभ्युदयावहः स्यात् ॥४३॥

क्योंकि ये (तपस्वी) आप तप-निधान सदृशको तपका साथी (बनाना) चाहते हैं, क्योंकि इन्द्र-तुल्य आपके साथ निवास करना बृहस्पतिके लिए भी उदयप्रद होगा ।" ॥ ४३ ॥

इत्येवमुक्तः स तपस्विमध्ये तपस्विमुख्येन मनीषिमुख्यः ।
भवप्रणाशाय कृतप्रतिज्ञः स्वं भावमन्तर्गतमाचचक्षे ॥४४॥

तपस्वियोंके बीच उस प्रधान तपस्वीद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर उस श्रेष्ठ मनीषीने, जिसने जन्म-विनाशके लिए प्रतिज्ञा की थी, अपना आन्तरिक भाव बताया :—॥ ४४ ॥

ऋज्वात्मनां धर्मभृतां मुनीनामिष्टातिथित्वात्स्वजनोपमानाम् ।
एवंविधैर्मां प्रति भावजातैः प्रीतिः परा मे जनितश्च मानः ॥४५॥

"सरल तथा धर्मपालक मुनि अपनी आतिथ्य प्रियताके कारण स्वजनोंके समान हैं, मेरे प्रति उनके ऐसे भावोंसे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई और मैं सम्मानित हुआ ॥ ४५ ॥

स्निग्धाभिराभिर्हृदयंगमाभिः समासतः स्नात इवास्मि वाग्भिः ।
रतिश्च मे धर्मनवग्रहस्य विस्पन्दिता संप्रति भूय एव ॥४६॥

संक्षेपमें, स्नेह-भरे हृदय-स्पर्शी इन वचनोंसे मैंने मानों स्नान किया; और हालमें ही धर्मको ग्रहण करनेपर भी (धर्मके प्रति) मेरा आनंद इस समय फिर बढ़ रहा है ॥ ४६ ॥

एवं प्रवृत्तान् भवतः शरण्यानतीव संदर्शितपक्षपातान् ।
यास्यामि हित्वेति ममापि दुःखं यथैव बन्धूंस्त्यजतस्तथैव ॥४७॥

इस प्रकार (तपस्यामें) लगे हुए आप लोगोंको, जो आश्रय देनेवाले हैं और जिन्होंने मेरे प्रति अत्यन्त पक्षपात (ममत्व) दिखाया है, छोड़कर जाऊँगा—इससे मुझे भी वैसा ही दुःख है जैसा कि बन्धुओंको छोड़ते समय मुझे (हुआ था) ॥४७॥

स्वर्गाय युष्माकमयं तु धर्मो ममाभिलाषस्त्वपुनर्भवाय।
अस्मिन्वने येन न मे विवत्सा भिन्नः प्रवृत्त्या हि निवृत्तिधर्मः ॥४८॥

आप लोगोंका यह धर्म स्वर्गके लिए है, मेरी अभिलाषा पुनर्जन्मके अभावके लिए (= पुनर्जन्म न हो, इसके लिए) है, इसी कारण इस वनमें मेरी रहनेकी इच्छा नहीं; क्योंकि निवृत्ति-धर्म प्रवृत्तिसे भिन्न है ॥४८॥

तन्नारतिर्मे न परापचारो वनादितो येन परिव्रजामि।
धर्मे स्थिताः पूर्वयुगानुरूपे सर्वे भवन्तो हि महर्षिकल्पाः ॥४९॥

यह न मेरी अरुचि है न दूसरोंकी आचार-हीनता, जिससे मैं इस वनसे जा रहा हूँ; क्योंकि महर्षि-तुल्य आप सब पूर्व युगके अनुरूप धर्ममें स्थित हैं।"॥४९॥

ततो वचः सूनृतमर्थवच्च सुश्लक्ष्णमोजस्वि च गर्वितं च।
श्रुत्वा कुमारस्य तपस्विनस्ते विशेषयुक्तं बहुमानमीयुः ॥५०॥

तब कुमारका प्रिय, अर्थ-पूर्ण, स्निग्ध, ओजस्वी तथा गौरव-पूर्ण वचन सुनकर वे तपस्वी अत्यन्त सम्मानित हुए ॥५०॥

कश्चिद्द्विजस्तत्र तु भस्मशायी प्रांशुः शिखी दारवचीरवासाः।
आपिङ्गलाक्षस्तनुदीर्घघोणः कुण्डैकहस्तो गिरमित्युवाच ॥५१॥

वहाँ राखमें सोनेवाले, लम्बा शरीरवाले, शिखावाले, वल्कल वस्त्रवाले, पीली आँखोंवाले, पतली व लम्बी नाकवाले, किसी द्विजने, जिसके हाथमें पात्र था, यह वचन कहा:—॥५१॥

धीमन्नुदारः खलु निश्चयस्ते यस्त्वं युवा जन्मनि दृष्टदोषः।
स्वर्गापवर्गौ हि विचार्य सम्यग्यस्यापवर्गे मतिरस्ति सोऽस्ति ॥५२॥

"हे मेधाविन्, आपका निश्चय उदार (उत्तम) है, आपने युवा होकर जन्ममें दोष देखा; क्योंकि स्वर्ग व अपवर्गका सम्यक् विचार कर अपवर्गमें जिसकी बुद्धि है, (वास्तवमें) वही है ॥५२॥

यज्ञैस्तपोभिर्नियमैश्च तैस्तैः स्वर्गं यियासन्ति हि रागवन्तः।
रागेण सार्धं रिपुणेव युद्ध्वा मोक्षं परीप्सन्ति तु सत्त्ववन्तः ॥५३॥

रागी (पुरुष) उन उन यज्ञों, तपों और नियमोंसे स्वर्ग जानेकी इच्छा करते हैं; किंतु सत्त्ववान् (पुरुष) रागके साथ, शत्रुके समान, युद्ध कर मोक्ष पानेकी इच्छा करते हैं ॥५३॥

तद्बुद्धिरेषा यदि निश्चिता ते तूर्णं भवान् गच्छतु विन्ध्यकोष्ठम् ।
असौ मुनिस्तत्र वसत्यराडो यो नैष्ठिके श्रेयसि लब्धचक्षुः ॥५४॥

इसलिए यदि आपकी यह निश्चित बुद्धि है, तो शीघ्र ही आप विन्ध्यकोष्ठ जाइये। वहाँ वह मुनि अराड रहता है जिसने नैष्ठिक कल्याणमें दृष्टि पाई है ॥ ५४ ॥

तस्माद्भवाञ्छ्रोष्यति तत्त्वमार्गं सत्यां रुचौ संप्रतिपत्स्यते च ।
यथा तु पश्यामि मतिस्तथैषा तस्यापि यास्यत्यवधूय बुद्धिम् ॥५५॥

उससे आप तत्त्व-मार्ग सुनेंगे और रुचि होनेपर स्वीकार करेंगे; किंतु जैसा मैं देखता हूँ, आपकी यह बुद्धि ऐसी है कि उसकी भी बुद्धिका तिरस्कार कर आप चले जायँगे ॥ ५५ ॥

स्पष्टोच्चघोणं विपुलायताक्षं ताम्राधरौष्ठं सिततीक्ष्णदंष्ट्रम् ।
इदं हि वक्त्रं तनुरक्तजिह्वं ज्ञेयार्णवं पास्यति कृत्स्नमेव ॥५६॥

स्पष्ट व ऊँची नाकवाला, बड़ी व लम्बी आँखोंवाला, लाल ओठवाला, सफेद व तेज दाँतोंवाला, पतली व लाल जीभवाला (आपका) यह मुख सम्पूर्ण ही ज्ञान-सागरका पान करेगा ॥ ५६ ॥

गम्भीरता या भवतस्त्वगाधा या दीप्तता यानि च लक्षणानि ।
आचार्यकं प्राप्स्यसि तत्पृथिव्यां यन्नर्षिभिः पूर्वयुगेऽप्यवाप्तम् ॥५७॥

आपकी जो अगाध गम्भीरता है, जो दीप्ति है, और जो लक्षण हैं (इनसे प्रकट है कि) आप पृथिवीपर वह आचार्य-पद प्राप्त करेंगे, जो ऋषियोंने पूर्व युगमें भी नहीं पाया" ॥५७॥

परममिति ततो नृपात्मजस्तमृषिजनं प्रतिनन्द्य निर्ययौ ।
विधिवदनुविधाय तेऽपि तं प्रविविशुराश्रमिणस्तपोवनम् ॥५८॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्ये तपोवनप्रवेशो नाम सप्तमः सर्गः

तब "अच्छा" कह और उन ऋषियोंको प्रणाम कर, राजाका पुत्र चला गया। उन आश्रम-वासियोंने भी उसका विधिवत् सम्मान कर तपोवनमें प्रवेश किया ॥५८॥

बुद्धचरित महाकाव्यका "तपोवन-प्रवेश" नामक
सप्तम सर्ग समाप्त।

अष्टम सर्ग

अन्तःपुर-विलाप

ततस्तुरङ्गावचरः स दुर्मनास्तथा वनं भर्तरि निर्ममे गते।
चकार यत्नं पथि शोकनिग्रहे तथापि चैवाश्रु न तस्य चिक्षिये ॥१॥

तब निर्मम स्वामीके उस प्रकार वन चले जानेपर उस उदास अश्व-रक्षकने रास्तेमें अपने शोक-निग्रहका यत्न किया; तो भी उसका आँसू क्षीण नहीं हुआ ॥१॥

यमेकरात्रेण तु भर्तुराज्ञया जगाम मार्गं सह तेन वाजिना।
इयाय भर्तुर्विरहं विचिन्तयंस्तमेव पन्थानमहोभिरष्टभिः ॥२॥

स्वामीकी आज्ञासे उस घोड़ेके साथ जिस मार्गसे वह एक दिनमें गया, स्वामि-वियोगकी चिन्ता करता हुआ उसी रास्तेसे वह आठ दिनोंमें आया ॥२॥

हयश्च सौजा विचचार कन्थकस्तताम भावेन बभूव निर्मदः।
अलंकृतश्चापि तथैव भूषणैरभूद्गतश्रीरिव तेन वर्जितः॥३॥

ओजस्वी घोड़ा कन्थक चला, (दुःखके) भावसे थक गया, मद-रहित हो गया। भूषणोंसे उसी प्रकार अलङ्कृत होनेपर भी अपने स्वामीके विना वह मानो श्री-हीन था ॥३॥

निवृत्य चैवाभिमुखस्तपोवनं भृशं जिह्रेषे करुणं मुहुर्मुहुः।
क्षुधान्वितोऽप्यध्वनि शष्पमम्बु वा यथा पुरा नाभिननन्द नाददे ॥४॥

और, तपोवनकी ओर मुड़कर वह दुःखके साथ बार-बार खूब हिनहिनाया। रास्तेमें भूख लगनेपर भी वह तृण या जलसे पहलेकी तरह न आनन्दित हुआ, न उसे ग्रहण किया ॥४॥

ततो विहीनं कपिलाह्वयं पुरं महात्मना तेन जगद्धितात्मना।
क्रमेण तौ शून्यमिवोपजग्मतुर्दिवाकरेणेव विनाकृतं नभः ॥ ५ ॥

तब वे दोनों, जगत्के हितमें ही जिसकी आत्मा थी, उस महात्मासे रहित

कपिल नामक नगरके समीप क्रमसे गये, जो (नगर) सूर्य-रहित आकाशके समान सूना-सा था ॥ ५ ॥

सपुण्डरीकैरपि शोभितं जलैरलंकृतं पुष्पधरैर्नगैरपि ।
तदेव तस्योपवनं वनोपमं गतप्रहर्षैर्न रराज नागरैः ॥ ६ ॥

कमल-युक्त जलाशयोंसे शोभित होनेपर भी, पुष्पयुक्त वृक्षोंसे अलंकृत रहनेपर भी उसका वही उपवन् जंगलके समान जान पड़ा; आनन्द रहित नगर-निवासियोंसे वह दीप्त नहीं हुआ ॥ ६ ॥

ततो भ्रमद्भिर्दिशि दीनमानसैरनुज्ज्वलैर्बाष्पहतेक्षणैर्नरैः ।
निवार्यमाणाविव तावुभौ पुरं शनैरपस्नातमिवाभिजग्मतुः ॥ ७ ॥

तब चारों ओर घूमते हुए उदास लोगोंसे, जिनके चित्त दुःखी थे और आँखें आँसूसे आकुल थीं, मानो मना किये जानेपर भी वे दोनों धीरे-धीरे उस नगरमें गये जो मृत-स्नात (= किसीके मरनेपर स्नान किये हुए पुरुष)के समान था ॥ ७ ॥

निशाम्य च स्रस्तशरीरगामिनौ विनागतौ शाक्यकुलर्षभेण तौ ।
मुमोच बाष्पं पथि नागरो जनः पुरा रथे दाशरथेरिवागते ॥ ८ ॥

शिथिल शरीरोंसे जानेवाले वे दोनों शाक्य-कुल-ऋषभके विना ही आये, यह देखकर नगरकी जनताने मार्गमें आँसू बहाये, जैसे प्राचीन कालमें रामका रथ (वनसे खाली लौट) आनेपर (आँसू बहाये थे) ॥ ८ ॥

अथ ब्रुवन्तः समुपेतमन्यवो जनाः पथि च्छन्दकमागताश्रवः ।
क्व राजपुत्रः पुरराष्ट्रनन्दनो हृतस्त्वयासाविति पृष्ठतोऽन्वयुः ॥९॥

तब शोकित लोग, जिन्हें आँसू आ गये थे, रास्तेमें छन्दकसे कहने लगे—"नगर व राष्ट्रको आनन्दित करनेवाला राज-पुत्र कहाँ है ? तुमने उसका हरण किया है ।" इस तरह कहते हुए वे उसके पीछे-पीछे चले ॥ ९ ॥

ततः स तान् भक्तिमतोऽब्रवीज्जनान्नरेन्द्रपुत्रं न परित्यजाम्यहम् ।
रुदन्नहं तेन तु निर्जने वने गृहस्थवेशश्च विसर्जिताविति ॥१०॥

तब उसने उन भक्त लोगोंसे कहा—"मैंने राजाके पुत्रको नहीं छोड़ा, किन्तु निर्जन वनमें उसने ही मुझ रोते हुएको और अपने गृहस्थ वेशको विसर्जित किया" ॥ १० ॥

इदं वचस्तस्य निशम्य ते जनाः सुदुष्करं खल्विति निश्चयं ययुः।
पतिद्ध जह्नुः सलिलं न नेत्रजं मनो निनिन्दुश्च फलोत्थमात्मनः ॥११॥

उसका यह वचन सुनकर, उन लोगोंने विचारा—"निश्चय ही (राजकुमारका) यह दुष्कर काम है।" वे अपने आँसू न रोक सके और फलासक्ति (स्वार्थपरता)से उत्पन्न अपनी मानसिक स्थितिकी उन्होंने निन्दाकी ॥ ११ ॥

अथोचुरद्यैव विशाम तद्वनं गतः स यत्र द्विपराजविक्रमः।
जिजीविषा नास्ति हि तेन नो विना यथेन्द्रियाणां विगमे शरीरिणाम्॥१२॥

तब वे बोले—"आज ही हम उस वनमें जा रहे हैं, जहाँ गजराजके समान पराक्रमी वह (राजकुमार) गया है। उसके विना हमारी जीनेकी इच्छा नहीं है, जैसे इन्द्रियों (की शक्ति)के नष्ट होनेपर देह-धारियोंकी (जीनेकी इच्छा नहीं होती) ॥ १२ ॥

इदं पुरं तेन विवर्जितं वनं वनं च तत्तेन समन्वितं पुरम्।
न शोभते तेन हि नो विना पुरं मरुत्वता वृत्रवधे यथा दिवम् ॥१३॥

उससे रहित यह नगर वन है और उससे युक्त वह वन नगर; क्योंकि उसके विना हमारा नगर उसी प्रकार शोभा-हीन है, जिस प्रकार वृत्र-वधके समय इन्द्रके विना स्वर्ग ॥ १३ ॥

पुनः कुमारो विनिवृत्त इत्यथो गवाक्षमालाः प्रतिपेदिरेऽङ्गनाः।
विविक्तपृष्ठं च निशाम्य वाजिनं पुनर्गवाक्षाणि पिधाय चुक्रुशुः ॥१४॥

"कुमार फिर लौट आये हैं" यह सोचकर स्त्रियाँ खिड़कियोंके सामने आ गईं; और घोड़ेकी पीठ खाली देखकर फिर खिड़कियोंको बन्द कर वे रोने लगीं ॥१४॥

प्रविष्टदीक्षस्तु सुतोपलब्धये व्रतेन शोकेन च खिन्नमानसः।
जजाप देवायतने नराधिपश्चकार तास्ताश्च यथाशयाः क्रियाः ॥१५॥

पुत्रकी प्राप्तिके लिए दीक्षा ग्रहण कर, व्रत व शोकसे खिन्नचित्त राजाने देव-मन्दिरमें जप किया और अपने आशयके अनुरूप भाँति-भाँतिकी क्रियाएँ कीं ॥१५॥

ततः स बाष्पप्रतिपूर्णलोचनस्तुरङ्गमादाय तुरङ्गमानुगः।
विवेश शोकाभिहतो नृपक्षयं युधापिनीते रिपुणेव भर्तरि ॥१६॥

तब आँसू-भरी आँखोंसे उस अश्वरक्षकने घोड़ेको लिवाते हुए कातर होकर राज-महलमें प्रवेश किया, जैसे योद्धा शत्रुके द्वारा उसके स्वामीका अपहरण कर लिया गया हो ॥१६॥

विगाहमानश्च नरेन्द्रमन्दिरं विलोकयन्नश्रुवहेन चक्षुषा।
स्वरेण पुष्टेन रुराव कन्थको जनाय दुःखं प्रतिवेदयन्निव ॥१७॥

राज-महलमें प्रवेश करता हुआ, आँसू-भरी आँखोंसे देखता हुआ कन्थक जोरसे हिनहिनाया, मानो लोगोंसे वह (अपना) दुःख निवेदन कर रहा हो ॥१७॥

ततः खगाश्च क्षयमध्यगोचराः समीपबद्धास्तुरगाश्च सत्कृताः।
हयस्य तस्य प्रतिसस्वनुः स्वनं नरेन्द्रसूनोरुपयानशङ्किनः ॥१८॥

तब महलके बीच रहनेवाले पक्षियोंने और समीपमें बँधे हुए सत्कृत (= प्रिय) घोड़ोंने उस घोड़ेके हिनहिनानेके प्रति शब्द किया, यह जानकर कि शायद राजकुमार आ रहा है ॥१८॥

जनाश्च हर्षातिशयेन वञ्चिता जनाधिपान्तःपुरसंनिकर्षगाः।
यथा हयः कन्थक एष हेषते ध्रुवं कुमारो विशतीति मेनिरे ॥१९॥

"यह कन्थक घोड़ा जिस प्रकार हिनहिना रहा है, इससे यह प्रकट है कि कुमार निश्चय ही प्रवेश कर रहा है"—ऐसा मानकर राजाके अन्तःपुरके समीप जानेवाले लोग अतिशय हर्षसे उछलने लगे ॥१९॥

अतिप्रहर्षादथ शोकमूर्छिताः कुमारसंदर्शनलोललोचनाः।
गृहाद्विनिश्चक्रमुराशया स्त्रियः शरत्पयोदादिव विद्युतश्चलाः ॥२०॥

स्त्रियाँ, जो शोकसे मूर्छित थीं, अति आनन्दित हुईं। कुमारको देखनेकी लालसासे उनकी आँखें चञ्चल हो उठीं, आशाके साथ वे घरसे निकल आईं, जैसे शरत्कालके बादलसे चपल बिजली (निकल आवे) ॥२०॥

विलम्बकेश्यो मलिनांशुकाम्बरा निरञ्जनैर्बाष्पहतेक्षणैर्मुखैः।
स्त्रियो न रेजुर्मृजया विनाकृता दिवीव तारा रजनीक्षयारुणाः ॥२१॥

उनके केशपाश लटक रहे थे, बारीक कपड़े मलिन थे, मुखोंमें अंजन नहीं था, आखें आँसुओंसे आकुल थीं; सिंगार किये बिना स्त्रियाँ शोभित नहीं हुईं, जैसे रात बीतनेपर आकाशमें फीके तारे ॥२१॥

अरक्तताम्रैश्चरणैरनूपुरैरकुण्डलैरार्जवकन्धरैर्मुखैः ।
स्वभावपीनैर्जघनैरमेखलैरहारयोक्त्रैर्मुषितैरिव स्तनैः ॥२२॥

उनके पाँव महावरसे रँगे नहीं थे, उनमें नूपुर भी नहीं थे, मुख (कानोंके) कुण्डलोंसे रहित थे, गले अनलंकृत थे, स्वभावसे मोटी जाँघें मेखला रहित थीं, हार व योक्त्र (= सूत्र ?) से रहित स्तन लुटे-से थे ॥२२॥

निरीक्ष्य ता बाष्पपरीतलोचना निराश्रयं छन्दकमश्वमेव च ।
विषण्णवक्त्रा रुरुदुर्वराङ्गना वनान्तरे गाव इवर्षभोज्झिताः ॥२३॥

अश्रु-पूर्ण आँखोंसे छन्दक और घोड़ेको स्वामीके विना देखकर वे उत्तम स्त्रियाँ विषण्णवदन होकर रोईं, जैसे वनके भीतर साँड़से परित्यक्त गाएँ ॥२३॥

ततः सबाष्पा महिषी महीपतेः प्रनष्टवत्सा महिषीव वत्सला ।
प्रगृह्य बाहू निपपात गौतमी विलोलपर्णा कदलीव काञ्चनी ॥२४॥

तब रोती हुई राजाकी पटरानी गौतमी, जो उस महिषीके समान (अपने पुत्रके लिए) वत्सल थी जिसका बछड़ा नष्ट हो गया हो, भुजाएँ फेंककर, हिलते पत्तोंवाली सोनेकी कदलीके समान गिर पड़ी ॥२४॥

हतत्विषोऽन्याः शिथिलांसबाहवः स्त्रियो विषादेन विचेतना इव ।
न चुक्रुशुर्नाश्रु जहुर्न शश्वसुर्न चेलुरासुर्लिखिता इव स्थिताः ॥२५॥

अन्य निष्प्रभ स्त्रियोंने, जिनके कन्धे व भुजाएँ शिथिल थीं, विषादसे मानो बेहोश होकर न विलाप किया, न आँसू बहाये, न साँसें लीं, और न हिली-डुलीं ही; केवल चित्रित-सी खड़ी रहीं ॥२५॥

अधीरमन्याः पतिशोकमूर्छिता विलोचनप्रस्रवणैर्मुखैः स्त्रियः ।
सिषिञ्चिरे प्रोषितचन्दनान् स्तनान्धराधरः प्रस्रवणैरिवोपलान् ॥२६॥

दूसरी स्त्रियोंने, जो अधीर होकर पतिके शोकसे मूर्छित थीं, नेत्र-निर्झर मुखोंसे चन्दन-शून्य स्तनोंको सींचा, जैसे पर्वत अपने झरनोंसे शिलाओंको (सींचता है) ॥२६॥

मुखैश्च तासां नयनाम्बुताडितै रराज तद्राजनिवेशनं तदा ।
नवाम्बुकालेऽम्बुदवृष्टिताडितैः स्रवज्जलैस्तामरसैर्यथा सरः ॥२७॥

तब उनके अश्रुपूर्ण मुखोंसे वह राज-भवन वैसे ही शोभित हुआ, जैसे

कि सरोवर, जो वर्षाके आरम्भमें वृष्टि-जलसे ताड़ित हुए जल-स्रावी कमलोंसे भरा हो ॥२७॥

सुवृत्तपीनाङ्गुलिभिर्निरन्तरैरभूषणैर्गूढसिरैर्वराङ्गनाः ।
उरांसि जघ्नुः कमलोपमैः करैः स्वपल्लवैर्वातचला लता इव ॥२८॥

उत्तम स्त्रियोंने गोल, मोटी व सटी अँगुलियोंवाले कमलोपम करोंसे, जो भूषण-रहित थे और जिनकी सिराएँ (= धमनियाँ) छिपी हुई थीं, छाती पीटी, जैसे हवासे हिलती लताएँ अपने पल्लवोंसे (अपनेको ही पीटती हैं) ॥२८॥

करप्रहारप्रचलैश्च ता बभुस्तथापि नार्यः सहितोन्नतैः स्तनैः ।
घनानिलाघूर्णितपद्मकम्पितै रथाङ्गनाम्नां मिथुनैरिवापगाः ॥२९॥

हाथोंकी चोटोंसे हिलते हुए कठोर व उन्नत स्तनोंवाली वे स्त्रियाँ उन नदियोंके समान शोभित हुईं जिनके चक्रवाक-युगल जंगलकी हवासे हिलाये गये कमलोंसे काँप रहे हों ॥२९॥

यथा च वक्षांसि करैरपीडयंस्तथैव वक्षोभिरपीडयन् करान् ।
अकारयंस्तत्र परस्परं व्यथाः कराग्रवक्षांस्यबला दयालसाः ॥३०॥

और, जैसे हाथोंसे छातियोंको पीड़ित किया, वैसे ही छातियोंसे भी हाथोंको पीड़ित किया। निर्दय होकर अबलाओंने हाथों व छातियों द्वारा एक दूसरेको व्यथित कराया ॥३०॥

ततस्तु रोषप्रविरक्तलोचना विषादसंबन्धिकषायगद्गदम् ।
उवाच निश्वासचलत्पयोधरा विगाढशोकाश्रुधरा यशोधरा ॥३१॥

तब रोषसे लाल आँखोंवाली, साँसोंसे हिलते स्तनोंवाली गाढ़ शोकसे आँसू बहानेवाली यशोधराने विषाद-सम्बन्धी कसैलेपन (= कटुतासे) गद्‌गद होकर कहा:—॥३१॥

निशि प्रसुप्तामवशां विहाय मां गतः क स च्छन्दक मन्मनोरथः ।
उपागते च त्वयि कन्थके च मे समं गतेषु त्रिषु कम्पते मनः ॥३२॥

"रातको सोई हुई मुझ विवशको छोड़कर, हे छन्दक, मेरा वह मनोरथ (= प्रियतम) कहाँ गया? तीनों साथ गये थे, और कन्थक व तुम आ गये, मेरा मन काँप रहा है ॥३२॥

अनार्यमस्निग्धममित्रकर्म मे नृशंस कृत्वा किमिहाद्य रोदिषि।
नियच्छ बाष्पं भव तुष्टमानसो न संवदत्यश्रु च तच्च कर्म ते ॥३३॥

मेरे लिए अनार्य, अस्निग्ध और शत्रुतापूर्ण काम करके, हे क्रूर, क्यों आज यहाँ रो रहे हो ? आँसू रोको, सन्तुष्टचित्त होओ, आँसू और तुम्हारा वह काम (परस्पर) मेल नहीं खाते ॥३३॥

प्रियेण वश्येन हितेन साधुना त्वया सहायेन यथार्थकारिणा।
गतोऽर्यपुत्रो ह्यपुनर्निवृत्तये रमस्व दिष्ट्या सफलः श्रमस्तव ॥३४॥

प्रिय, वशवर्ती, हित, साधु और यथार्थकारी तुझ साथीके साथ आर्यपुत्र गये, फिर लौटनेके लिए नहीं। आनन्द करो, सौभाग्यसे तुम्हारा श्रम सफल (हुआ) ॥ ३४ ॥

वरं मनुष्यस्य विचक्षणो रिपुर्न मित्रमप्राज्ञमयोगपेशलम्।
सुहृद्ब्रुवेण ह्यविपश्चिता त्वया कृतः कुलस्यास्य महानुपप्लवः ॥३५॥

मनुष्यका चतुर शत्रु अच्छा है, न कि मूर्ख मित्र जो वियोग (कराने)में निपुण होता है। मित्र कहे जानेवाले तुझ मूर्खने इस कुलका बड़ा ही अनर्थ किया ॥ ३५ ॥

इमा हि शोच्या व्यवमुक्तभूषणाः प्रसक्तबाष्पाविलरक्तलोचनाः।
स्थितेऽपि पत्यौ हिमवन्महीसमे प्रनष्टशोभा विधवा इव स्त्रियः ॥३६॥

हिमालय और पृथिवीके समान (धैर्यशाली) स्वामीके रहनेपर भी, विधवाओंके सदृश शोभा-हीन हुई ये स्त्रियाँ दयनीय हैं, जिन्होंने गहने फेंक दिये हैं और जिनकी आँखें निरन्तर बहते अश्रु-जलसे मलिन और लाल हैं ॥ ३६ ॥

इमाश्च विक्षिप्तविटङ्कबाहवः प्रसक्तपारावतदीर्घनिस्वनाः।
विनाकृतास्तेन सहावरोधनैर्भृशं रुदन्तीव विमानपङ्क्तयः ॥३७॥

और कपोत-पालिका रूपी भुजाएँ फैलाये हुए ये प्रासाद-पङ्क्तियाँ, जो आसक्त कपोतोंसे लम्बी साँसें ले रही हैं, रनिवासोंके साथ उनके वियोगमें मानो खूब रो रही हैं ॥ ३७ ॥

अनर्थकामोऽस्य जनस्य सर्वथा तुरङ्गमोऽपि ध्रुवमेष कन्थकः।
जहार सर्वस्वमितस्तथा हि मे जने प्रसुप्ते निशि रत्नचौरवत् ॥३८॥

---

३५ "अयोग-पेशल"का दूसरा अर्थ होगा—"अनुचित करनेमें निपुण"।

निश्चय ही यह कन्थक घोड़ा भी इस व्यक्तिके अनर्थका सर्वथा इच्छुक था; क्योंकि लोगोंके सोये रहनेपर रातमें रत्न-चोरके समान इसने मेरे सर्वस्वका यहाँसे उस प्रकार हरण किया ॥ ३८ ॥

यदा समर्थः खलु सोढुमागतानिषुप्रहारानपि किं पुनः कशाः ।
गतः कशापातभयात्कथं न्वयं श्रियं गृहीत्वा हृदयं च मे समम् ॥३९॥

जब तीरोंके आये हुए प्रहार सहनेमें वह समर्थ है, कोड़ोंका क्या कहना, तब कोड़ेके भयसे यह मेरे हृदय और सौभाग्यको साथ लेकर कैसे गया ? ॥३९॥

अनार्यकर्मा भृशमद्य हेषते नरेन्द्रधिष्ण्यं प्रतिपूरयन्निव ।
यदा तु निर्वाहयति स्म मे प्रियं तदा हि मूकस्तुरगाधमोऽभवत् ॥४०॥

(यह) अनार्यकर्मा आज खूब हिनहिना रहा है, मानो राज-भवनको भर रहा हो । किंतु जब मेरे प्रियतमको ले जा रहा था, तब यह अधम अश्व गूँगा हो गया था ॥ ४० ॥

यदि ह्यहेषिष्यत बोधयन् जनं खुरैः क्षितौ वाप्यकरिष्यत ध्वनिम् ।
हनुस्वनं वाजनिष्यदुत्तमं न चाभविष्यन्मम दुःखमीदृशम् ॥४१॥

यदि हिनहिनाकर लोगोंको जगाता, या खुरोंसे पृथिवीपर शब्द करता, या जबड़ोंसे जोरोंका शब्द करता, तो मुझे ऐसा दुःख न होता ।" ॥ ४१ ॥

इतीह देव्याः परिदेविताश्रयं निशम्य बाष्पग्रथिताक्षरं वचः ।
अधोमुखः साश्रुकलः कृताञ्जलिः शनैरिदं छन्दक उत्तरं जगौ ॥४२॥

देवीका यह शोक-मूलक वचन, जिसके अक्षर आँसुओंसे ग्रथित थे, सुनकर अधोमुख छन्दकने, रोते हुए, हाथ जोड़कर, धीरे-धीरे यह उत्तर दियाः—॥४२॥

विगर्हितुं नार्हसि देवि कन्थकं न चापि रोषं मयि कर्तुमर्हसि ।
अनागसौ स्वः समवेहि सर्वशो गतो नृदेवः स हि देवि देववत् ॥४३॥

"हे देवि, आपको न कन्थककी निन्दा करनी चाहिए और न मुझपर ही रोष करना चाहिए । हम दोनोंको सर्वथा निर्दोष समझिये, हे देवि, वह नरदेव देवताके समान गये ॥ ४३ ॥

अहं हि जानन्नपि राजशासनं बलात्कृतः कैरपि दैवतैरिव ।
उपानयं तूर्णमिमं तुरङ्गमं तथान्वगच्छं विगतश्रमोऽध्वनि ॥४४॥

यद्यपि मैं राजाकी आज्ञाको जानता था, तो भी मानो किन्हीं देवताओंने

मुझसे बलात् कराया । जल्दीसे मैं इस घोड़ेको समीप ले आया । मार्गमें बिना थके ही उस प्रकार उसके पीछे-पीछे गया ॥४४॥

व्रजन्नयं वाजिवरोऽपि नास्पृशन्महीं खुराग्रैर्विधृतैरिवान्तरा।
तथैव दैवादिव संयताननो हनुस्वनं नाकृत नाप्यहेषत ॥४५॥

जाते हुए इस अश्व-श्रेष्ठने भी खुरोंके अग्रभागसे, जो मानो बीचमें ही (किसीके द्वारा) पकड़े हुए थे, धरतीका स्पर्श नहीं किया । उसी प्रकार मानो दैव-वश संयत-मुख होकर न जबड़ोंसे शब्द किया और न हिनहिनाया ॥४५॥

यतो बहिर्गच्छति पार्थिवात्मजे तदाभवद्द्वारमपावृतं स्वयम्।
तमश्च नैशं रविणेव पाटितं ततोऽपि दैवो विधिरेष गृह्यताम् ॥४६॥

क्योंकि जब राजाका पुत्र बाहर जा रहा था, तब द्वार आप ही आप खुल गया और रात्रिका अन्धकार दूर हो गया, जैसे सूर्य द्वारा विदीर्ण हुआ हो, इससे भी इसे दैव-विधान ही समझना चाहिए ॥४६॥

यदप्रमत्तोऽपि नरेन्द्रशासनाद्गृहे पुरे चैव सहस्रशो जनः।
तदा स नाबुध्यत निद्रया हृतस्ततोऽपि दैवो विधिरेष गृह्यताम् ॥४७॥

क्योंकि राजाकी आज्ञासे सावधान रहनेपर भी महल और नगरमें हजार हजार लोग नहीं जागे, नींदसे अभिभूत थे, इससे भी इसे दैव-विधान ही समझना चाहिए ॥४७॥

यतश्च वासो वनवाससंमतं निसृष्टमस्मै समये दिवौकसा।
दिवि प्रविद्धं मुकुटं च तद्धृतं ततोऽपि दैवो विधिरेष गृह्यताम् ॥४८॥

और, क्योंकि वन-वास-योग्य वस्त्र देवताने उन्हें समयपर दिया और आकाशमें फेंका गया वह मुकुट पकड़ा गया, इससे भी इसे दैव-विधान ही समझना चाहिए ॥४८॥

तदेवमावां नरदेवि दोषतो न तत्प्रयातं प्रति गन्तुमर्हसि।
न कामकारो मम नास्य वाजिनः कृतानुयात्रः स हि दैवतैर्गतः ॥४९॥

इसलिए, हे नर-देवि, इनके जानेके बारेमें आपको हमें दोषी नहीं समझना चाहिए । न मेरी इच्छासे (कुछ) हुआ और न इस घोड़ेकी इच्छासे ही । देवोंसे अनुगत होकर वह गये" ॥४९॥

इति प्रयाणं बहुदेवमद्भुतं निशम्य तास्तस्य महात्मनः स्त्रियः ।
प्रनष्टशोका इव विस्मयं ययुर्मनोज्वरं प्रव्रजनात्तु लेभिरे ॥५०॥

इस तरह उस महात्माका अनेक देवोंसे युक्त अद्भुत प्रयाण सुनकर वे स्त्रियाँ विस्मित हुईं, जैसे उनका शोक नष्ट हो गया हो; किन्तु उसके प्रव्रज्या ग्रहण करनेसे उन्हें मानसिक ताप हुआ ॥५०॥

विषादपारिप्लवलोचना ततः प्रनष्टपोता कुररीव दुःखिता ।
विहाय धैर्यं विरुराव गौतमी तताम चैवाश्रुमुखी जगाद च ॥५१॥

तब विषादसे चंचल आँखोंवाली गौतमी, उस कुररीके समान जिसके बच्चे खो गये हों, दुःखी और अधीर होकर रोई। वह मूर्छित हुई और रोती हुई बोली:—॥५१॥

महोर्मिमन्तो मृदवोऽसिताः शुभाः पृथक्पृथङ्मूलरुहाः समुद्गताः ।
प्रवेरितास्ते भुवि तस्य मूर्धजा नरेन्द्रमौलीपरिवेष्टनक्षमाः ॥५२॥

"क्या उसके वे अत्यन्त तरंगित कोमल काले और मङ्गलमय केश, जो पृथक्-पृथक् मूलसे उत्पन्न होकर ऊपर उठे थे और जो राजमुकुटके परिवेष्टनके योग्य थे, पृथिवीपर गिराये गये? ॥५२॥

प्रलम्बबाहुर्मृगराजविक्रमो महर्षभाक्षः कनकोज्ज्वलद्युतिः ।
विशालवक्षा घनदुन्दुभिस्वनस्तथाविधोऽप्याश्रमवासमर्हति ॥५३॥

उसकी भुजाएँ लम्बी हैं, मृगराजकी-सी गति है, महा वृषभकी-सी आँखें हैं। सोनेकी-सी उज्ज्वल द्युति है, वक्षःथल विशाल है, मेघरूपी दुन्दुभीकी-सी ध्वनि है; क्या ऐसा (कुमार) भी आश्रम-वासके योग्य है! ॥५३॥

अभागिनी नूनमियं वसुंधरा तमार्यकर्माणमनुत्तमं पतिम् ।
गतस्ततोऽसौ गुणवान् हि तादृशो नृपः प्रजाभाग्यगुणैः प्रसूयते ॥५४॥

निश्चय ही वह आर्यकर्मा अद्वितीय पति इस वसुन्धराके भागमें नहीं है, इसीलिए तो वह चला गया। ऐसा गुणवान् राजा प्रजाके सौभाग्यसे ही जन्म लेता है ॥ ५४ ॥

सुजातजालावतताङ्गुली मृदू निगूढगुल्फौ बिसपुष्पकोमलौ ।
वनान्तभूमिं कठिनां कथं नु तौ सचक्रमध्यौ चरणौ गमिष्यतः ॥५५॥

वे मृदु चरण—जिनकी अंगुलियोंपर सुन्दर (रेखा·) जाल बिछा हुआ

है, जिनकी पाद-ग्रन्थियाँ छिपी हुई हैं, जो कमल-तन्तु या फूलके समान कोमल हैं, जिनके मध्य भागमें चक्र हैं—वनकी कठिन भूमिपर कैसे चलेंगे ? ॥ ५५ ॥

विमानपृष्ठे शयनासनोचितं महार्हवस्त्रागुरुचन्दनार्चितम्।
कथं नु शीतोष्णजलागमेषु तच्छरीरमोजस्वि वने भविष्यति ॥५६॥

महलकी छतपरके शयन और आसनसे परिचित वह ओजस्वी शरीर, जो बहुमूल्य वस्त्र, अगुरु और चन्दनसे पूजित (=अलंकृत) हुआ है, जाड़े गर्मी व वर्षामें वनमें कैसे रहेगा ? ॥ ५६ ॥

कुलेन सत्त्वेन बलेन वर्चसा श्रुतेन लक्ष्म्या वयसा च गर्वितः।
प्रदातुमेवाभ्युचितो न याचितुं कथं स भिक्षां परतश्चरिष्यति ॥५७॥

कुल, सत्त्व, बल, रूप, विद्या, लक्ष्मी और वयस (=यौवन)से गौरवान्वितके लिए देना ही उचित है न कि माँगना; कैसे वह दूसरोंसे भिक्षा माँगेगा ! ॥५७॥

शुचौ शयित्वा शयने हिरण्मये प्रबोध्यमानो निशि तूर्यनिस्वनैः।
कथं बत स्वप्स्यति सोऽद्य मे व्रती पटैकदेशान्तरिते महीतले ॥५८॥

वह सोनेकी पवित्र शय्यापर सोता था और रातके अन्तमें तूर्यकी ध्वनिसे जगाया जाता था; मेरा वह व्रती कपड़ेके एक छोरसे ढकी धरतीपर आज कैसे सोयेगा ?" ॥ ५८ ॥

इमं प्रलापं करुणं निशम्य ता भुजैः परिष्वज्य परस्परं स्त्रियः।
विलोचनेभ्यः सलिलानि तत्यजुर्मधूनि पुष्पेभ्य इवेरिता लताः ॥५९॥

यह करुण प्रलाप सुनकर, उन स्त्रियोंने भुजाओंसे एक दूसरेका आलिङ्गन कर आँखोंसे आँसू बहाये, जैसे कम्पित लताएँ (अपने) फूलोंसे मधु (बहायें) ॥ ५९ ॥

ततो धरायामपतद्यशोधरा विचक्रवाकेव रथाङ्गसाह्वया।
शनैश्च तत्तद्विललाप विक्लवा मुहुर्मुहुर्गद्गदरुद्धया गिरा ॥६०॥

तब चक्रवाकसे वियुक्त चक्रवाकीके समान यशोधरा धरतीपर गिरी और विकल होकर बाष्पसे बार-बार रुकती वाणीमें धीरे-धीरे भाँति-भाँतिसे विलाप किया:—॥ ६० ॥

स मामनाथां सहधर्मचारिणीमपास्य धर्मं यदि कर्तुमिच्छति।
कुतोऽस्य धर्मः सहधर्मचारिणीं विना तपो यः परिभोक्तुमिच्छति॥६१॥

"मुझ अनाथा सहधर्मचारिणीको छोड़कर यदि वह धर्म करना चाहते हैं, तो कहाँसे इन्हें धर्म होगा जो सहधर्मचारिणीके विना ही तपस्या करना चाहते हैं ? ॥ ६१ ॥

शृणोति नूनं स न पूर्वपार्थिवान्महासुदर्शप्रभृतीन् पितामहान्
वनानि पत्नीसहितानुपेयुषस्तथा हि धर्मं मदृते चिकीर्षति ॥६२॥

अवश्य ही उन्होंने प्राचीन राजाओं, महासुदर्श-आदि अपने पितामहों, के बारेमें नहीं सुना है, जो पत्नी-सहित वन गये थे; क्योंकि वह मेरे विना इसी प्रकार धर्म करना चाहते हैं ॥ ६२ ॥

मखेषु वा वेदविधानसंस्कृतौ न दंपती पश्यति दीक्षिताबुभौ ।
समं बुभुक्षू परतोऽपि तत्फलं ततोऽस्य जातो मयि धर्ममत्सरः ॥६३॥

या यज्ञोंमें वेद-विधानके अनुसार संस्कृत तथा दीक्षित उभय दम्पतीको नहीं देख रहे हैं, जो परलोकमें भी यज्ञ-फलका साथ ही उपभोग करना चाहते हैं; अतः मेरे धर्मसे इन्हें द्वेष हो गया है ॥ ६३ ॥

ध्रुवं स जानन्मम धर्मवल्लभो मनः प्रियेर्ष्याकलहं मुहुर्मिथः ।
सुखं बिभीर्मामपहाय रोषणां महेन्द्रलोकेऽप्सरसो जिघृक्षति ॥६४॥

निश्चय ही वह धर्म-वल्लभ मेरे मनको एकान्तमें बार-बार ईर्ष्यालु और कलह-प्रिय जानकर सुख (न होनेके) डरसे मुझ कोपशीलाको छोड़कर इन्द्र-लोकमें अप्सराओंको पाना चाहते हैं ॥६४॥

इयं तु चिन्ता मम कीदृशं नु ता वपुर्गुणं बिभ्रति तत्र योषितः ।
वने यदर्थं स तपांसि तप्यते श्रियं च हित्वा मम भक्तिमेव च ॥६५॥

मेरी यह चिन्ता है कि वहाँ वे स्त्रियाँ कैसा उत्तम रूप धारण करती हैं, जिसके लिए लक्ष्मी और मेरी भक्तिको छोड़कर, वह वनमें तप कर रहे हैं ॥६५॥

न खल्वियं स्वर्गसुखाय मे स्पृहा न तज्जनस्यात्मवतोपि दुर्लभम् ।
स तु प्रियो मामिह वा परत्र वा कथं न जह्यादिति मे मनोरथः ॥६६॥

निश्चय ही स्वर्ग-सुखके लिए मेरी यह इच्छा नहीं है, वह सुख आत्मवान् व्यक्ति (संयतात्माके) लिए दुर्लभ नहीं; किन्तु वह प्रिय इस लोक या परलोकमें मुझे कैसे न छोड़ें, यही मेरा मनोरथ है ॥६६॥

अभागिनी यद्यहमायतेक्षणं शुचिस्मितं भर्तुरुदीक्षितुं मुखम्।
न मन्दभाग्योऽर्हति राहुलोऽप्ययं कदाचिदङ्के परिवर्तितुं पितुः ॥६७॥

यदि लम्बी आँखोंवाले पवित्र मुसकानवाले स्वामि-मुखको देखना मेरे भागमें नहीं है, तो क्या मन्दभाग्य यह राहुल भी पिताकी गोदमें कदाचित् लोटने योग्य नहीं ? ॥६७॥

अहो नृशंसं सुकुमारवर्चसः सुदारुणं तस्य मनस्विनो मनः।
कलप्रलापं द्विषतोऽपि हर्षणं शिशुं सुतं यस्त्यजतीदृशं बत ॥६८॥

अहो ! सुकुमार रूपवाले उस मनस्वीका मन कठोर और अतिदारुण है, जो शत्रुओंको भी हरसानेवाले तुतलाते हुए ऐसे बाल-सुतको छोड़ रहे हैं ॥६८॥

ममापि कामं हृदयं सुदारुणं शिलामयं वाप्ययसोऽपि वा कृतम्।
अनाथवच्छ्रीरहिते सुखोचिते वनं गते भर्तरि यन्न दीर्यते ॥६९॥

मेरा भी हृदय अतिदारुण है, पत्थरका बना है या लोहेका भी, जो, सुखसे परिचित स्वामीके श्री-रहित होकर अनाथके समान वन जानेपर, विदीर्ण नहीं हो रहा है" ॥६९॥

इतीह देवी पतिशोकमूर्छिता रुरोद दध्यौ विललाप चासकृत्।
स्वभावधीरापि हि सा सती शुचा धृतिं न सस्मार चकार नो ह्रियम्॥७०॥

इस तरह पतिके शोकसे मूर्छित होकर, देवी रोईं, चिन्तित हुईं, और बार-बार विलाप किया। स्वभावसे धीर होनेपर भी शोकके कारण वह धैर्य भूल गई और लाज नहीं की ॥७०॥

ततस्तथा शोकविलापविक्लवां यशोधरां प्रेक्ष्य वसुंधरागताम्।
महारविन्दैरिव वृष्टिताडितैर्मुखैः सबाष्पैर्वनिता विचुक्रुशुः ॥७१॥

तब उस प्रकार शोक व विलापसे विह्वल यशोधराको वसुन्धरापर आई देखकर, वृष्टि-ताड़ित बड़े-बड़े कमलोंके समान साश्रु मुखोंसे वनिताओंने क्रन्दन किया ॥७१॥

समाप्तजाप्यः कृतहोममङ्गलो नृपस्तु देवायतनाद्विनिर्ययौ।
जनस्य तेनार्तरवेण चाहतश्चचाल वज्रध्वनिनेव वारणः ॥७२॥

जप समाप्त कर, मंगलमय हवन-कर्म करके, राजा देव-मन्दिरसे बाहर

आया और लोगोंकी उस आर्त ध्वनिसे आहत होकर वैसे ही काँप उठा, जैसे वज्रके शब्दसे हाथी ॥७२॥

निशाम्य च च्छन्दककन्थकावुभौ सुतस्य संश्रुत्य च निश्चयं स्थिरम्।
पपात शोकाभिहतो महीपतिः शचीपतेर्वृत्त इवोत्सवे ध्वजः ॥७३॥

छन्दक व कन्थक दोनोंको देखकर और पुत्रका दृढ़ निश्चय सुनकर, शोकसे अभिभूत हो, राजा वैसे ही गिर पड़ा, जैसे उत्सव समाप्त होनेपर इन्द्रकी ध्वजा ॥७३॥

ततो मुहूर्तं सुतशोकमोहितो जनेन तुल्याभिजनेन धारितः।
निरीक्ष्य दृष्ट्या जलपूर्णया हयं महीतलस्थो विललाप पार्थिवः ॥७४॥

तब मुहूर्तभर पुत्रके शोकसे वह मूर्छित रहा, तुल्य कुलके लोगोंने उसे धारण किया; जलपूर्ण दृष्टिसे घोड़ेको देखकर, पृथिवीपर पड़े हुए राजाने विलाप किया:—॥ ७४ ॥

बहूनि कृत्वा समरे प्रियाणि मे महत्त्वया कन्थक विप्रियं कृतम्।
गुणप्रियो येन वने स मे प्रियः प्रियोऽपि सन्नप्रियवत्प्रवेरितः ॥७५॥

"युद्धमें मेरे बहुतेरे प्रिय (काम) करके, हे कन्थक, तुमने यह बड़ा अप्रिय (कर्म) किया, मेरे उस गुण-प्रिय प्रियको प्रिय होने पर भी अप्रियके समान वनमें फेंक दिया ॥ ७५ ॥

तदद्य मां वा नय तत्र यत्र स व्रज द्रुतं वा पुनरेनमानय।
ऋते हि तस्मान्मम नास्ति जीवितं विगाढरोगस्य सदौषधादिव ॥७६॥

अतः आज मुझे वहाँ ले चलो जहाँ वह है; या जल्दी जाओ, फिर उसे ले आओ क्योंकि उसके बिना मैं जीवित नहीं रहूँगा, जैसे अच्छी ओषधिके बिना रोग-ग्रस्त व्यक्ति (जीवित नहीं रह सकता) ॥ ७६ ॥

सुवर्णनिष्ठीविनि मृत्युना हृते सुदुष्करं यन्न ममार सृंजयः।
अहं पुनर्धर्मरतौ सुते गते मुमुक्षुरात्मानमनात्मवानिव ॥७७॥

सुवर्णनिष्ठीवीका मृत्युद्वारा हरण होनेपर संजय (=सृञ्जय) नहीं मरा, यह अति दुष्कर हुआ; किंतु मैं, धर्म-रत पुत्रके चले जानेपर, असंयतात्माके समान आत्मा (= प्राण) छोड़नेकी इच्छा कर रहा हूँ ॥ ७७ ॥

विभोर्दशक्षत्रकृतः प्रजापतेः परापरज्ञस्य विवस्वदात्मनः।
प्रियेण पुत्रेण सता विनाकृतं कथं न मुह्येद्धि मनो मनोरपि ॥७८॥

दस राज्योंके स्रष्टा, प्रभु, प्रजापति, पर व अपरको जाननेवाले, विवस्वान्के पुत्र, मनुका भी मन, अच्छे प्रिय पुत्रसे वियुक्त होकर, कैसे मूर्छित न हो ! ॥ ७८ ॥

अजस्य राज्ञस्तनयाय धीमते नराधिपायेन्द्रसखाय मे स्पृहा।
गते वनं यस्तनये दिवं गतो न मोघबाष्पः कृपणं जिजीव ह ॥७९॥

राजा अजके बुद्धिमान् पुत्र, इन्द्रके मित्र, नराधिप (दशरथ)से मुझे ईर्ष्या है जो पुत्रके वन जानेपर स्वर्ग चले गये, व्यर्थ आँसू बहाते हुए दीन होकर जीवित नहीं रहे ॥ ७९ ॥

प्रचक्ष्व मे भद्र तदाश्रमाजिरं हृतस्त्वया यत्र स मे जलाञ्जलिः।
इमे परीप्सन्ति हि तं पिपासवो ममासवः प्रेतगतिं यियासवः ॥८०॥

हे भद्र, मुझे वह आश्रम-स्थान बताओ जहाँ तुम मेरी उस जलाञ्जलि (= जलाञ्जलि देनेवाले)को ले गये हो; क्योंकि प्रेत गतिको जानेकी (=मरनेकी) इच्छा करनेवाले मेरे ये प्यासे प्राण उसे पाना चाहते हैं ।" ॥ ८० ॥

इति तनयवियोगजातदुःखः क्षितिसदृशं सहजं विहाय धैर्यम्।
दशरथ इव रामशोकवश्यो बहु विललाप नृपो विसंज्ञकल्पः ॥८१॥

इस तरह पुत्रके वियोगसे दुःखी होकर धरतीकी-सी स्वाभाविक धीरताको छोड़कर, रामके शोकसे परतंत्र दशरथके समान, राजाने मानो अचेत होकर बहुत विलाप किया ॥ ८१ ॥

श्रुतविनयगुणान्वितस्ततस्तं मतिसचिवः प्रवयाः पुरोहितश्च।
समधृतमिदमूचतुर्यथावन्न च परितप्तमुखौ न चाप्यशोकौ ॥८२॥

तब विद्या, विनय व गुणसे युक्त मंत्री तथा प्रौढ़ पुरोहितने, न संतप्तमुख होकर और न शोक-रहित होकर, तुल्य जनसे धारण किये गये राजाको ठीक-ठीक यों कहाः—॥ ८२ ॥

त्यज नरवर शोकमेहि धैर्यं कुधृतिरिवार्हसि धीर नाश्रु मोक्तुम्।
स्रजमिव मृदितामपास्य लक्ष्मीं भुवि बहवो नृपा वनान्यतीयुः ॥८३॥

"हे नर-श्रेष्ठ शोक छोड़िए, धैर्य धारण कीजिए । हे धीर, अधीरके समान

आपको आँसू न बहाना चाहिए। रौंदी गई मालाके समान लक्ष्मीको छोड़कर, (इस) पृथ्वीपर बहुतसे राजा वन चले गये ॥ ८३ ॥

अपि च नियत एष तस्य भावः स्मर वचनं तदृषेः पुरासितस्य ।
न हि स दिवि न चक्रवर्तिराज्ये क्षणमपि वासयितुं सुखेन शक्यः॥८४॥

और भी, उसका यह भाव तो नियत ही था; पूर्वके असित ऋषि का वह वचन स्मरण कीजिए। न स्वर्ग में, न चक्रवर्त्तिराज्यमें क्षणभरके लिए भी वह सुखसे रखा जा सकता है ॥८४॥

यदि तु नृवर कार्य एव यत्नस्त्वरितमुदाहर यावदत्र यावः ।
बहुविधमिह युद्धमस्तु तावत्तव तनयस्य विधेश्च तस्य तस्य ॥८५॥

हे नर-श्रेष्ठ, यदि यत्न करना ही है, तो तुरत कहिए, और हम वहाँ जायँ। तब आपके पुत्र और तरह-तरहके उपायके बीच भाँति भाँतिका युद्ध हो"॥८५॥

नरपतिरथ तौ शशास तस्माद्द्रुतमित एव युवामभिप्रयातम् ।
न हि मम हृदयं प्रयाति शान्तिं वनशकुनेरिव पुत्रलालसस्य ॥८६॥

इसलिए तब राजाने उन्हें आज्ञा दी—"यहींसे आप दोनों शीघ्र चले जायँ। क्योंकि, मेरा हृदय, पुत्रके लिए उत्सुक वन-पक्षीके हृदयके समान, शान्ति नहीं पा रहा है" ॥८६॥

परममिति नरेन्द्रशासनात्तौ ययतुरमात्यपुरोहितौ वनं तत् ।
कृतमिति सवधूजनः सदारो नृपतिरपि प्रचकार शेषकार्यम् ॥८७॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्येऽन्तःपुरविलापो नामाष्टमः सर्गः ।

"अच्छा" कहकर राजाकी आज्ञासे मंत्री और पुरोहित दोनों ही उस वनको चले गये। "अच्छा ही किया गया", ऐसा समझकर (पुत्र-) वधुओं और पत्नियोंके साथ राजाने भी शेष कार्य किया ॥८७॥

बुद्धचरित महाकाव्यका "अन्तःपुर-विलाप" नामक अष्टम सर्ग समाप्त।

नवम सर्ग

कुमार-अन्वेषण

ततस्तदा मन्त्रिपुरोहितौ तौ बाष्पप्रतोदाभिहतौ नृपेण।
विद्धौ सदश्वाविव सर्वयत्नात्सौहार्दशीघ्रं ययतुर्वनं तत् ॥१॥

तब उस समय मन्त्री और पुरोहित दोनों, राजाके द्वारा अश्रुरूप अङ्कुश से आहत होकर, विद्ध हुए अच्छे घोड़ोंके समान समस्त यत्नसे, सौहार्दके कारण वेगसे उस वनको चले ॥१॥

तमाश्रमं जातपरिश्रमौ तावुपेत्य काले सदृशानुयात्रौ।
राजर्द्धिमुत्सृज्य विनीतचेष्टावुपेयतुर्भार्गवधिष्ण्यमेव ॥२॥

समयपर योग्य अनुयायियोंके साथ उस आश्रमके पास वे थके हुए पहुँचे। राज-ऋद्धिको छोड़, विनीत-चेष्ट हो, वे भार्गवके स्थानपर गये ॥२॥

तौ न्यायतस्तं प्रतिपूज्य विप्रं तेनार्चितौ तावपि चानुरूपम्।
कृतासनौ भार्गवमासनस्थं छित्त्वा कथामूचतुरात्मकृत्यम् ॥३॥

उन दोनोंने उस विप्रकी उचित पूजा की और उसने उन दोनोंकी भी योग्य पूजा की। आसन ग्रहण कर, दोनोंने आसनपर स्थित भार्गवसे कथा काटकर (= संक्षिप्त कर) अपना काम कहा:—॥३॥

शुद्धौजसः शुद्धविशालकीर्तेरिक्ष्वाकुवंशप्रभवस्य राज्ञः।
इमं जनं वेत्तु भवानधीतं श्रुतग्रहे मन्त्रपरिग्रहे च ॥४॥

"शुद्ध ओजवाले, शुद्ध व विशाल कीर्तिवाले, इक्ष्वाकु-वंश-प्रसूत राजाके इस व्यक्तिको (= हम दोनोंको) आप शास्त्र और मंत्रणामें निपुण (= पुरोहित और मंत्री) जानें ॥४॥

तस्येन्द्रकल्पस्य जयन्तकल्पः पुत्रो जरामृत्युभयं तितीर्षुः।
इहाभ्युपेतः किल तस्य हेतोरावामुपेतौ भगवानवैतु ॥५॥

उस इन्द्र-तुल्यका जयन्त-तुल्य पुत्र जरा और मृत्युका भय पार करनेकी

इच्छासे यहाँ आया है, इस हेतु हम दोनों आये हैं, ऐसा भगवान जानें" ॥५॥

तौ सोऽब्रवीदस्ति स दीर्घबाहुः प्राप्तः कुमारो न तु नावबुद्धः।
धर्मोऽयमावर्तक इत्यवेत्य यातस्त्वराडाभिमुखो मुमुक्षुः ॥ ६ ॥

उसने उन दोनोंसे कहा—"वह दीर्घबाहु आया था, कुमार है, किन्तु बुद्धि-हीन नहीं। 'यह धर्म आवर्तक (= भ्रामक) है, ऐसा जानकर वह मुमुक्षु अराडके (आश्रमकी) ओर चला गया।" ॥६॥

तस्मात्ततस्तावुपलभ्य तत्त्वं तं विप्रमामन्त्र्य तदैव सद्यः।
खिन्नावखिन्नाविव राजभक्त्या प्रसस्रतुस्तेन यतः स यातः ॥ ७ ॥

तब उससे वे दोनों सच्ची बात जानकर, उस विप्रसे उसी समय तुरत विदा लेकर, उस ओर चल पड़े जिधर वह गया था, खिन्न होकर भी राज-भक्तिके कारण वे मानो अ-खिन्न थे ॥७॥

यान्तौ ततस्तौ मृजया विहीनमपश्यतां तं वपुषोज्ज्वलन्तम्।
उपोपविष्टं पथि वृक्षमूले सूर्यं घनाभोगमिव प्रविष्टम् ॥ ८ ॥

तब जाते हुए उन दोनोंने मार्जन-विहीन, किन्तु रूपसे जलते कुमारको देखा; रास्तेपर वृक्षकी जड़में वह बैठा हुआ था, जैसे बादलोंके फैलावमें सूर्य घुसा हुआ हो ॥८॥

यानं विहायोपययौ ततस्तं पुरोहितो मन्त्रधरेण सार्धम्।
यथा वनस्थं सहवामदेवो रामं दिदृक्षुर्मुनिरौर्वशेयः ॥ ९ ॥

तब रथ छोड़कर मन्त्रीके साथ पुरोहित उसके समीप गया, जैसे वनमें स्थित रामके समीप वामदेवके साथ दर्शनाभिलाषी और्वशेय मुनि (= वसिष्ठ) गया था ॥९॥

तावर्चयामासतुरर्हतस्तं दिवीव शुक्राङ्गिरसौ महेन्द्रम्।
प्रत्यर्चयामास स चार्हतस्तौ दिवीव शुक्राङ्गिरसौ महेन्द्रः ॥१०॥

उन दोनोंने उसकी उचित पूजा की, जैसे स्वर्गमें शुक और आङ्गिरस (= बृहस्पति)ने इन्द्रकी (पूजा की थी) और उसने उन दोनोंकी उचित पूजा की, जैसे स्वर्गमें इन्द्रने शुक और आङ्गिरसकी (पूजा की थी) ॥१०॥

कृताभ्यनुज्ञावभितस्ततस्तौ निषेदतुः शाक्यकुलध्वजस्य।
विरेजतुस्तस्य च संनिकर्षे पुनर्वसू योगगताविवेन्दोः ॥११॥

आज्ञा पाकर, शाक्य-कुलकी पताका (सिद्धार्थ)की दोनों ओर वे दोनों बैठ गये और उसके समीप ऐसे विराजे जैसे चन्द्रमाके समीप योगको प्राप्त पुनर्वसु-युगल ॥११॥

तं वृक्षमूलस्थमभिज्वलन्तं पुरोहितो राजसुतं बभाषे।
यथोपविष्टं दिवि पारिजाते बृहस्पतिः शक्रसुतं जयन्तम् ॥१२॥

वृक्ष मूलमें स्थित उस जलते हुए राज-पुत्रसे पुरोहितने कहा, जैसे स्वर्गमें पारिजात वृक्षके नीचे बैठे हुए शक्र-पुत्र जयन्तसे बृहस्पति (कह रहा हो):–॥१२॥

त्वच्छोकशल्ये हृदयावगाढे मोहं गतो भूमितले मुहूर्तम्।
कुमार राजा नयनाम्बुवर्षो यत्त्वामवोचत्तदिदं निबोध ॥१३॥

"तुम्हारा शोकरूप शल्य हृदयमें गड़नेपर, भूतलपर मुहूर्त भर मूर्छित होकर, हे कुमार, राजाने नयन-जल बरसाते हुए, तुम्हें जो कहा है वह यह है, सुनोः—॥१३॥

जानामि धर्मं प्रति निश्चयं ते परैमि ते भाविनमेतमर्थम्।
अहं त्वकाले वनसंश्रयात्ते शोकाग्निनाग्निप्रतिमेन दह्ये ॥१४॥

"धर्मके प्रति तुम्हारा निश्चय जानता हूँ, समझता हूँ कि यह तुम्हारा भावी लक्ष्य है, किन्तु असमयमें तुम वनका आश्रय ले रहे हो, अतः अग्नि-तुल्य शोकाग्निसे मैं जल रहा हूँ ॥१४॥

तदेहि धर्मप्रिय मत्प्रियार्थं धर्मार्थमेव त्यज बुद्धिमेताम्।
अयं हि मा शोकरयः प्रवृद्धो नदीरयः कूलमिवाभिहन्ति ॥१५॥

इसलिए, हे धर्मप्रिय, मेरा प्रिय करनेके लिए आओ, धर्मके लिए ही इस बुद्धिको छोड़ो। यह बढ़ा हुआ शोकका वेग मुझे वैसे ही मार रहा है, जैसे बढ़ा हुआ नदीका वेग किनारेको (काटता है) ॥ १५ ॥

मेघाम्बुकक्षाद्रिषु या हि वृत्तिः समीरणार्काग्निमहाशनीनाम्।
तां वृत्तिमस्मासु करोति शोको विकर्षणोच्छोषणदाहभेदैः ॥१६॥

मेघ, जल, तृण व पर्वतके प्रति (क्रमशः) पवन, सूर्य, अग्नि व महा-वज्र का जो काम होता है, विकर्षण, शोषण, दाह व भेदन द्वारा वही काम हमारे प्रति शोक कर रहा है ॥ १६ ॥

१९—देखिये, सौ० सन्द० ५९।

तद्भुङ्क्ष्व तावद्वसुधाधिपत्यं काले वनं यास्यसि शास्त्रदृष्टे।
अनिष्टबन्धौ कुरु मय्यपेक्षां सर्वेषु भूतेषु दया हि धर्मः ॥१७॥

इसलिए तबतक वसुधाके आधिपत्यका भोग करो, शास्त्र-सम्मत समयपर वन जाओगे। मुझ अवांछित पिताकी आकांक्षा करो, क्योंकि सब भूतोंपर दया (करना ही तो) धर्म है॥ १७॥

न चैष धर्मो वन एव सिद्धः पुरेऽपि सिद्धिर्नियता यतीनाम्।
बुद्धिश्च यत्नश्च निमित्तमत्र वनं च लिङ्गं च हि भीरुचिह्नम् ॥१८॥

और, यह धर्म (केवल) वनमें ही सिद्ध नहीं होता, नगरमें भी यतियों (= संयमियों) की सिद्धि नियत है। इसमें बुद्धि और यत्न निमित्त हैं, वन और (भिक्षु-) वेष तो कायरके चिह्न हैं॥ १८॥

मौलीधरैरंसविषक्तहारैः केयूरविष्टब्धभुजैर्नरेन्द्रैः।
लक्ष्म्यङ्कमध्ये परिवर्तमानैः प्राप्तो गृहस्थैरपि मोक्षधर्मः ॥१९॥

मुकुट धारण करनेवाले राजाओंने, जिनके गलोंमें हार लटकते थे और जिनकी भुजाएँ केयूरोंसे बँधी थीं, गृहस्थ होकर भी (= घरमें रहकर भी) लक्ष्मीकी गोदमें लोटते हुए मोक्ष-धर्म प्राप्त किया॥ १९॥

ध्रुवानुजौ यौ बलिवज्रबाहू वैभ्राजमाषाढमथान्तिदेवम्।
विदेहराजं जनकं तथैव (रामं) द्रुमं सेनजितश्च राज्ञः ॥२०॥

ध्रुवके जो दो छोटे भाई बलि और वज्रबाहु, वैभ्राज, आषाढ़ और अन्तिदेव, विदेह-राज जनक, राम, द्रुम और सेनजित् राजागण॥ २०॥

एतान् गृहस्थान्नृपतीनवेहि नैःश्रेयसे धर्मविधौ विनीतान्।
उभौऽपि तस्माद्युगपद्भजस्व ज्ञानाधिपत्यं च नृपश्रियं च ॥२१॥

विदित हो कि ये गृहस्थ राजा परम कल्याण-कारी धर्म-विधिमें शिक्षित थे। इसलिए एक ही साथ ज्ञानके आधिपत्य व राज्यलक्ष्मी दोनोंका सेवन करो॥ २१॥

इच्छामि हि त्वामुपगुह्य गाढं कृताभिषेकं सलिलार्द्रमेव।
धृतातपत्रं समुदीक्षमाणस्तेनैव हर्षेण वनं प्रवेष्टुम् ॥२२॥

मैं चाहता हूँ कि अभिषेक करनेपर जलसे आर्द्र रहनेपर ही तुम्हारा गाढ़

आलिङ्गन कर, छत्रके नीचे तुम्हें देखता हुआ उसी आनन्दसे वनमें प्रवेश करूँ" ॥ २२ ॥

इत्यब्रवीद्भूमिपतिर्भवन्तं वाक्येन बाष्पग्रथिताक्षरेण।
श्रुत्वा भवानर्हति तत्प्रियार्थं स्नेहेन तत्स्नेहमनुप्रयातुम् ॥२३॥

राजाने आपको ऐसा कहा; उसके वाक्यके अक्षर बाष्पसे ग्रथित थे। यह सुनकर उसका प्रिय करनेके लिए आपको स्नेहपूर्वक उसके स्नेहका अनुसरण करना चाहिए ॥ २३ ॥

शोकाम्भसि त्वत्प्रभवे ह्यगाधे दुःखार्णवे मज्जति शाक्यराजः।
तस्मात्तमुत्तारय नाथहीनं निराश्रयं मग्नमिवार्णवे नौः ॥२४॥

तुमसे उत्पन्न अगाध दुःख-सागरमें, जिसका जल शोक है, शाक्यराज डूब रहा है। उससे उस नाथ-हीनको उबारो, जैसे सागरमें डूबते हुए निराश्रय (व्यक्ति)को नाव (उबारती) है ॥ २४ ॥

भीष्मेण गङ्गोदरसंभवेन रामेण रामेण च भार्गवेण।
श्रुत्वा कृतं कर्म पितुः प्रियार्थं पितुस्त्वमप्यर्हसि कर्तुमिष्टम् ॥२५॥

गङ्गाके उदरसे उत्पन्न भीष्मने, रामने, और भार्गव रामने, पिताके प्रियके लिए काम किया, यह सुनकर तुम्हें भी पिताका प्रिय करना चाहिए ॥ २५ ॥

संवर्धयित्रीं समवेहि देवीमगस्त्यजुष्टां दिशमप्रयाताम्।
प्रनष्टवत्सामिव वत्सलां गामजस्रमार्तां करुणं रुदन्तीम् ॥२६॥

विदित हो कि तुम्हारा संवर्धन करनेवाली देवी, (गौतमी) जो (अब तक) अगस्त्यसे सेवित दिशाको नहीं गई है (= नहीं मरी है), उस वत्सल गायके समान, जिसका बछड़ा नष्ट हो गया हो, आर्त और करुण होकर निरन्तर रो रही है ॥ २६ ॥

हंसेन हंसीमिव विप्रयुक्तां त्यक्तां गजेनेव वने करेणुम्।
आर्तां सनाथामपि नाथहीनां त्रातुं वधूमर्हसि दर्शनेन ॥२७॥

हंससे वियुक्त हंसीके समान, हाथीसे वनमें परित्यक्त हथिनीके समान, आर्त पत्नीको, जो सनाथा होनेपर भी अनाथा है, तुम्हें दर्शन देकर बचाना चाहिए ॥ २७ ॥

एकं सुतं बालमनर्हदुःखं संतापमन्तर्गतमुद्वहन्तम्।
तं राहुलं मोक्षय बन्धुशोकाद्राहूपसर्गादिव पूर्णचन्द्रम् ॥२८॥

एकमात्र बाल-पुत्र, जो दुःखके योग्य नहीं है, भीतरी संताप वहन कर रहा । उस राहुलको पितृ-शोकसे मुक्त करो, जैसे राहुके ग्रहणसे पूर्ण चन्द्रको मुक्त किया जाय) ॥ २८ ॥

ोकाग्निना त्वद्विरहेन्धनेन निःश्वासधूमेन तमःशिखेन ।
वद्दर्शनाम्ब्विच्छति दह्यमानमन्तःपुरं चैव पुरं च कृत्स्नम् ॥२९॥

शोकरूप अग्निसे, जिसका इन्धन तुम्हारा विरह है, जिसका धुआँ लम्बी ाँसें हैं, जिसकी शिखा अन्धकार है, जलता हुआ अन्तःपुर और सम्पूर्ण नगर तुम्हारे दर्शन-जलकी इच्छा कर रहे हैं ।" ॥ २९ ॥

स बोधिसत्त्वः परिपूर्णसत्त्वः श्रुत्वा वचस्तस्य पुरोहितस्य ।
ध्यात्वा मुहूर्तं गुणवद्गुणज्ञः प्रत्युत्तरं प्रश्रितमित्युवाच ॥३०॥

उस पुरोहितका वचन सुनकर धैर्यशाली, गुणवान् व गुणज्ञ बोधिसत्त्वने मुहूर्त भर ध्यान किया और विनय-युक्त यह उत्तर दियाः—॥ ३० ॥

अवैमि भावं तनये पितॄणां विशेषतो यो मयि भूमिपस्य ।
जानन्नपि व्याधिजराविपद्भ्यो भीतस्त्वगत्या स्वजनं त्यजामि ॥३१॥

"पुत्रके प्रति पिताका भाव जानता हूँ, विशेष कर मेरे प्रति राजाका जो (भाव) है; यह जानता हुआ भी मैं रोग, बुढ़ापे व मौतसे डरकर, (अन्य) उपायके अभावमें स्वजनको छोड़ रहा हूँ ॥ ३१ ॥

द्रष्टुं प्रियं कः स्वजनं हि नेच्छेन्नान्ते यदि स्यात्प्रियविप्रयोगः ।
यदा तु भूत्वापि चिरं वियोगस्ततो गुरुं स्निग्धमपि त्यजामि ॥३२॥

यदि अन्तमें वियोग न हो, तो प्यारे स्वजनको देखना कौन नहीं चाहेगा ? जब कि देर होकर भी वियोग होता ही है, इसलिए स्नेही पिताको भी छोड़ रहा हूँ ॥ ३२ ॥

मद्धेतुकं यत्तु नराधिपस्य शोकं भवानाह न तत्प्रियं मे ।
यत्स्वप्नभूतेषु समागमेषु संतप्यते भाविनि विप्रयोगे ॥३३॥

मेरे कारण हुआ राजाका शोक आपने जो कहा वह मुझे प्रिय नहीं; क्योंकि समागम स्वप्न-सदृश होनेपर और वियोग अवश्यंभावी होनेपर वह संताप कर रहे हैं ॥ ३३ ॥

एवं च ते निश्चयमेतु बुद्धिर्दृष्ट्वा विचित्रं जगतः प्रचारम्।
संतापहेतुर्न सुतो न बन्धुरज्ञाननैमित्तिक एष तापः ॥३४॥

जगत्की विचित्र गति देखकर, आपकी बुद्धि इस प्रकार निश्चय करे— संतापका कारण न पुत्र है न पिता, इस संतापका निमित्त अज्ञान है ॥ ३४ ॥

यथाध्वगानामिह संगतानां काले वियोगो नियतः प्रजानाम्।
प्राज्ञो जनः को नु भजेत शोकं बन्धुप्रतिज्ञातजनैर्विहीनः ॥३५॥

पथिकोंके समान, इस संसारमें, सम्मिलित हुए लोगोंका वियोग नियत है; अतः बन्धु समझे जानेवाले लोगोंसे वियुक्त होकर कौन ज्ञानी जन शोक करे ? ॥ ३५ ॥

इहैति हित्वा स्वजनं परत्र प्रलभ्य चेहापि पुनः प्रयाति।
गत्वापि तत्राप्यपरत्र गच्छत्येवं जने त्यागिनि कोऽनुरोधः ॥३६॥

पूर्व जन्ममें स्वजनको छोड़कर मनुष्य यहाँ आता है और फिर यहाँ भी (स्वजनको) ठगकर वह यहाँसे (परलोक) चला जाता है, वहाँ भी जाकर वहाँसे अन्यत्र चला जाता है; इस प्रकार परित्याग करनेवाले आदमीमें आसक्ति क्यों की जाय ? ॥ ३६ ॥

यदा च गर्भात्प्रभृति प्रवृत्तः सर्वास्ववस्थासु वधाय मृत्युः।
कस्मादकाले वनसंश्रयं मे पुत्रप्रियस्तत्रभवानवोचत् ॥३७॥

और जब गर्भसे लेकर सब अवस्थाओंमें मौत मारनेके लिए तैयार रहती है, तब क्यों पुत्र-प्रिय पूज्य (पिताजी)ने कहा कि मैं अकालमें वनका आश्रय ले रहा हूँ ? ॥ ३७ ॥

भवत्यकालो विषयाभिपत्तौ कालस्तथैवार्थविधौ प्रदिष्टः।
कालो जगत्कर्षति सर्वकालान्निर्वाहके श्रेयसि नास्ति कालः ॥३८॥

विषय-सेवनके लिए अकाल होता है, उसी प्रकार धन (=अर्जन)के उपाय के लिए समय निर्दिष्ट है, सब समयमें काल संसारको लाचार करता रहा है, मोक्ष-प्रद कल्याणके लिए (कोई निश्चित) समय नहीं है ॥ ३८ ॥

राज्यं मुमुक्षुर्मयि यच्च राजा तदप्युदारं सदृशं पितुश्च।
प्रतिग्रहीतुं मम न क्षमं तु लोभादपथ्यान्नमिवातुरस्य ॥३९॥

मेरे ऊपर राजा राज्य छोड़ना चाहते हैं यह उनकी उदारता है और पिता

के अनुरूप है; किन्तु मेरे लिए इसे ग्रहण करना ठीक नहीं, जैसे रोगीके लिए लोभसे अपथ्य अन्न ग्रहण करना ठीक नहीं ॥ ३९ ॥

कथं नु मोहायतनं नृपत्वं क्षमं प्रपत्तुं विदुषा नरेण।
सोद्वेगता यत्र मदः श्रमश्च परापचारेण च धर्मपीडा ॥४०॥

किस प्रकार विद्वान् आदमीके लिए उस राजत्वका सेवन करना उचित है, जो मोहका मन्दिर है, जहाँ उद्वेग, मद व थकावट हैं, और जहाँ दूसरोंपर अनाचार करनेसे धर्ममें बाधा होती है ? ॥ ४० ॥

जाम्बूनदं हर्म्यमिव प्रदीप्तं विषेण संयुक्तमिवोत्तमान्नम्।
ग्राहाकुलं चाम्ब्विव सारविन्दं राज्यं हि रम्यं व्यसनाश्रयं च ॥४१॥

सोनेके जलते महलके समान, विष-युक्त उत्तम भोजनके समान, घड़ियालोंसे भरे कमल-युक्त जलाशयके समान, राज्य रमणीय है और विपत्तियोंका आश्रय है ॥ ४१ ॥

इत्थं च राज्यं न सुखं न धर्मः पूर्वं यथा जातघृणा नरेन्द्राः।
वयःप्रकर्षेऽपरिहार्यदुःखे राज्यानि मुक्त्वा वनमेव जग्मुः ॥४२॥

इस प्रकार, राज्यसे न सुख होता है, न धर्म; पूर्वमें घृणा (= अरुचि) उत्पन्न होनेपर राजा लोग वृद्धावस्थामें, जिसमें दुःख अवश्यंभावी है, राज्य छोड़कर वनको ही गये ॥ ४२ ॥

वरं हि भुक्तानि तृणान्यरण्ये तोषं परं रत्नमिवोपगुह्य।
सहोषितं श्रीसुलभैर्न चैव दोषैरदृश्यैरिव कृष्णसर्पैः ॥४३॥

जंगलमें तृण खाकर मानो रत्न-स्पर्शका परम संतोष पाना अच्छा है, न कि श्री-सुलभ उन दोषोंके साथ रहना जो कृष्ण-सर्पोंके समान देखे जाने योग्य नहीं ॥ ४३ ॥

श्लाघ्यं हि राज्यानि विहाय राज्ञां धर्माभिलाषेण वनं प्रवेष्टुम्।
भग्नप्रतिज्ञस्य न तूपपन्नं वनं परित्यज्य गृहं प्रवेष्टुम् ॥४४॥

राज्य छोड़कर धर्मकी अभिलाषासे राजाओंका वनमें प्रवेश करना श्लाघ्य है; किंतु प्रतिज्ञा तोड़ करके, वन छोड़कर, घरमें प्रवेश करना उचित नहीं ॥४४॥

जातः कुले को हि नरः ससत्त्वो धर्माभिलाषेण वनं प्रविष्टः।
काषायमुत्सृज्य विमुक्तलज्जः पुरंदरस्यापि पुरं श्रयेत ॥४५॥

(उत्तम) कुलमें उत्पन्न हुआ कौन धैर्यशाली आदमी, जिसने धर्मकी अभिलाषासे वनमें प्रवेश किया है, काषाय-वस्त्र छोड़, निर्लज्ज हो इन्द्रके भी नगरमें जायगा ? ॥४५॥

लोभाद्धि मोहादथवा भयेन यो वान्तमन्नं पुनराददीत।
लोभात्स मोहादथवा भयेन संतज्य कामान् पुनराददीत ॥४६॥

लोभसे, मोहसे अथवा भयसे जो उगले हुए अन्नको फिर ग्रहण करेगा, वही लोभसे, मोह अथवा भयसे काम-भोगोंको छोड़कर फिर ग्रहण करेगा ॥४६॥

यश्च प्रदीप्ताच्छरणात्कथंचिन्निष्क्रम्य भूयः प्रविशेत्तदेव।
गार्हस्थ्यमुत्सृज्य स दृष्टदोषो मोहेन भूयोऽभिलषेद्ग्रहीतुम् ॥४७॥

और, जो जलते घरसे किसी प्रकार निकलकर फिर उसीमें प्रवेश करे वही मनुष्य, दोष देखकर गार्हस्थ्य (= घरमें रहना) छोड़नेके बाद, मोहसे फिर उसे ग्रहण करना चाहेगा ॥ ४७ ॥

या च श्रुतिर्मोक्षमवाप्तवन्तो नृपा गृहस्था इति नैतदस्ति।
शमप्रधानः क्व च मोक्षधर्मो दण्डप्रधानः क्व च राजधर्मः ॥४८॥

यह (जन -) श्रुति कि गृहस्थ (= घरमें रहते हुए) राजाओंने मोक्ष पाया, यह सच नहीं है; कहाँ शम-प्रधान मोक्ष-धर्म और कहाँ दण्ड-प्रधान राज-धर्म ! ॥ ४८ ॥

शमे रतिश्चेच्छिथिलं च राज्यं राज्ये मतिश्चेच्छमविप्लवश्च।
शमश्च तैक्ष्ण्यं च हि नोपपन्नं शीतोष्णयोरैक्यमिवोदकाग्न्योः ॥४९॥

यदि शम (= शान्ति)में रति हो, तो राज्य शिथिल होगा; यदि राज्यमें मति हो, तो शान्तिमें विप्लव होगा। शान्ति व तीक्ष्णताका मेल नहीं, जैसे शीतल जल व गर्म आगकी एकता नहीं होती ॥ ४९ ॥

४७—नेपाल दरबारके हस्तलिखित ग्रन्थमें ४७ के बाद और तिब्बती अनुवादमें ४९ के बाद निम्नलिखित पद्य है—

वह्नेश्च तोयस्य च नास्ति संधिः शठस्य सत्यस्य च नास्ति संधिः।
आर्यस्य पापस्य च नास्ति संधिः शमस्य दण्डस्य च नास्ति संधिः॥

अग्नि और जलका मेल नहीं है, शठ और सत्यका मेल नहीं है, आर्य और पापका मेल नहीं है, शम और दण्डका मेल नहीं है।

तन्निश्चयाद्वा वसुधाधिपास्ते राज्यानि मुक्त्वा शममाप्तवन्तः ।
राज्याङ्किता वा निभृतेन्द्रियत्वादनैष्ठिके मोक्षकृताभिमानाः ॥५०॥

इसलिए उन वसुधाधिपोंने या तो निश्चय-पूर्वक राज्य छोड़कर शम प्राप्त किया, या राज्यके स्वामी होकर (केवल) इन्द्रिय-संयम होनेके कारण अनैष्ठिक अवस्थामें ही मोक्ष पानेका अभिमान किया ॥ ५० ॥

तेषां च राज्येऽस्तु शमो यथावत्प्राप्तो वनं नाहमनिश्चयेन ।
छित्त्वा हि पाशं गृहबन्धुसंज्ञं मुक्तः पुनर्न प्रविविक्षुरस्मि ॥५१॥

उन्हें राज्यमें सम्यक् शान्ति मिली हो, मैंने अनिश्चयसे वनमें प्रवेश नहीं किया है। गृह व बन्धु नामक बन्धन काटकर मुक्त हुआ मैं फिर (बन्धन में) प्रवेश करना नहीं चाहता हूँ ।" ॥ ५१ ॥

इत्यात्मविज्ञानगुणानुरूपं मुक्तस्पृहं हेतुमदूर्जितं च ।
श्रुत्वा नरेन्द्रात्मजमुक्तवन्तं प्रत्युत्तरं मन्त्रधरोऽप्युवाच ॥५२॥

इस तरह राजाके पुत्रका अपने ज्ञान व गुणोंके अनुरूप निरभिलाष युक्ति-युक्त व बलवान् उत्तर सुनकर, मन्त्रीने भी प्रति-उत्तर दिया:—॥ ५२ ॥

यो निश्चयो धर्मविधौ तवायं नायं न युक्तो न तु कालयुक्तः ।
शोकाय दत्त्वा पितरं वयःस्थं स्याद्धर्मकामस्य हि ते न धर्मः ॥५३॥

"धर्मके उपायके लिए तुम्हारा जो यह निश्चय है, यह अनुचित नहीं; किन्तु यह समय इसके लिए उचित नहीं। वृद्ध पिताको शोक देकर, तुम धर्माभिलाषीको धर्म नहीं हो सकता ॥ ५३ ॥

नूनं च बुद्धिस्तव नातिसूक्ष्मा धर्मार्थकामेष्वविचक्षणा वा ।
हेतोरदृष्टस्य फलस्य यस्त्वं प्रत्यक्षमर्थं परिभूय यासि ॥५४॥

अवश्य ही धर्म, अर्थ, व काममें तुम्हारी बुद्धि या तो अति सूक्ष्म नहीं, या मन्द है, जो अदृष्ट फलके हेतु तुम प्रत्यक्ष अर्थ (वस्तु)का तिरस्कार करके जा रहे हो ॥ ५४ ॥

पुनर्भवोऽस्तीति च केचिदाहुर्नास्तीति केचिन्नियतप्रतिज्ञाः ।
एवं यदा संशयितोऽयमर्थस्तस्मात्क्षमं भोक्तुमुपस्थिता श्रीः ॥५५॥

५०—ग–रा० 'राज्याश्रिता'—जौन्स्टन ।

कुछ लोग कहते हैं कि पुनर्जन्म है, कुछ लोग प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं नहीं है। इस तरह जब यह बात संशय-युक्त है, तब उपस्थित श्रीका भोग करना ही ठीक है ॥ ५५ ॥

भूयः प्रवृत्तिर्यदि काचिदस्ति रंस्यामहे तत्र यथोपपत्तौ।
अथ प्रवृत्तिः परतो न काचित्सिद्धोऽप्रयत्नाज्जगतोऽस्य मोक्षः ॥५६॥

यदि फिर कोई प्रवृत्ति है, तो वहाँ जो कुछ मिलेगा उसी में हम रमेंगे। यदि इससे परे कोई प्रवृत्ति नहीं है, तो इस जगत्का मोक्ष अनायास ही सिद्ध है ॥ ५६ ॥

अस्तीति केचित्परलोकमाहुर्मोक्षस्य योगं न तु वर्णयन्ति।
अग्नेर्यथा ह्यौष्ण्यमपां द्रवत्वं तद्वत्प्रवृत्तौ प्रकृतिं वदन्ति ॥५७॥

कोई कहते हैं कि परलोक है, किन्तु मोक्षका उपाय नहीं बताते हैं। वे कहते हैं जैसे अग्निमें उष्णता है, पानीमें द्रवत्व है वैसे ही प्रवृत्तिमें प्रकृति (= स्वभाव) है ॥ ५७ ॥

केचित्स्वभावादिति वर्णयन्ति शुभाशुभं चैव भवाभवौ च।
स्वाभाविकं सर्वमिदं च यस्मादतोऽपि मोघो भवति प्रयत्नः ॥५८॥

कोई बताते हैं कि शुभ-अशुभ और उत्पत्ति-अनुत्पत्ति स्वभावसे होती है। क्योंकि यह सब स्वाभाविक है, इसलिए भी प्रयत्न व्यर्थ है ॥ ५८ ॥

यदिन्द्रियाणां नियतः प्रचारः प्रियाप्रियत्वं विषयेषु चैव।
संयुज्यते यज्जरयार्तिभिश्च कस्तत्र यत्नो ननु स स्वभावः ॥५९॥

इन्द्रियोंका चलना (= काम करना) नियत है, प्रिय व अप्रिय लगना (इन्द्रिय-) विषयोंमें है और लोग बुढ़ापे व रोगसे युक्त होते हैं। इन सबमें यत्न क्या ? वह तो स्वभाव है ॥ ५९ ॥

अद्भिर्हुताशः शममभ्युपैति तेजांसि चापो गमयन्ति शोषम्।
भिन्नानि भूतानि शरीरसंस्थान्यैक्यं च गत्वा जगदुद्वहन्ति ॥६०॥

जलसे अग्नि शान्त होती है और तेज जलको सोखते हैं। शरीरमें स्थित (पाँचो) तत्त्व (स्वभावसे) पृथक्-पृथक् हैं और एक होकर जगत्को बनाते हैं ॥ ६० ॥

यत्पाणिपादोदरपृष्ठमूर्ध्नां निवर्तते गर्भगतस्य भावः ।
यदात्मनस्तस्य च तेन योगः स्वाभाविकं तत्कथयन्ति तज्ज्ञाः ॥६१॥

गर्भमें जानेपर (व्यक्तिके) हाथ, पाँव, पेट, पीट व मस्तक होते हैं, आत्मासे उसका योग होता है, पण्डित यह सब स्वाभाविक बताते हैं ॥ ६१ ॥

कः कण्टकस्य प्रकरोति तैक्ष्ण्यं विचित्रभावं मृगपक्षिणां वा ।
स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न कामकारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः ॥६२॥

कौन काँटेकी तीक्ष्णता या पशु-पक्षियोंकी विचित्रता (का सृजन) करता है ? यह सब स्वभावसे हुआ है, अपनी इच्छा काम नहीं करती, प्रयत्न कहाँसे ? ॥६२॥

सर्गं वदन्तीश्वरतस्तथान्ये तत्र प्रयत्ने पुरुषस्य कोऽर्थः ।
य एव हेतुर्जगतः प्रवृत्तौ हेतुर्निवृत्तौ नियतः स एव ॥६३॥

उसी तरह दूसरे कहते हैं ईश्वरसे सृष्टि होती है, उसमें पुरुषके प्रयत्नका क्या प्रयोजन ? जगत्‌की प्रवृत्तिमें जो कोई भी हेतु है, निश्चय ही उसकी निवृत्तिमें भी वही हेतु है ॥ ६३ ॥

केचिद्वदन्त्यात्मनिमित्तमेव प्रादुर्भवं चैव भवक्षयं च ।
प्रादुर्भवं तु प्रवदन्त्ययत्नाद्यत्नेन मोक्षाधिगमं ब्रुवन्ति ॥६४॥

कोई कहते हैं जन्म व विनाशका निमित्त आत्मा ही है। वे कहते हैं कि जन्म विना यत्नके होता है और मोक्ष-प्राप्ति यत्नसे होती है ॥ ६४ ॥

नरः पितॄणामनृणः प्रजाभिर्वेदैर्ऋषीणां क्रतुभिः सुराणाम् ।
उत्पद्यते सार्धमृणैस्त्रिभिस्तैर्यस्यास्ति मोक्षः किल तस्य मोक्षः ॥६५॥

मनुष्य सन्तान द्वारा पितृ-ऋणसे, वेद द्वारा ऋषि-ऋणसे और यज्ञ द्वारा देव-ऋणसे मुक्त होता है, वह तीन-ऋणोंके साथ उत्पन्न होता है, जो उनसे मुक्त होता है उसीको मोक्ष है ॥ ६५ ॥

इत्येवमेतेन विधिक्रमेण मोक्षं सयत्नस्य वदन्ति तज्ज्ञाः ।
प्रयत्नवन्तोऽपि हि विक्रमेण मुमुक्षवः खेदमवाप्नुवन्ति ॥६६॥

इस प्रकार इस विधि-क्रमसे यत्न करनेवालेको मोक्ष मिलता है, ऐसा पण्डित कहते हैं, अपनी शक्तिसे मोक्ष चाहनेवाले प्रयत्न करनेपर भी थकावट ही पाते हैं ॥ ६६ ॥

तत्सौम्य मोक्षे यदि भक्तिरस्ति न्यायेन सेवस्व विधिं यथोक्तम्।
एवं भविष्यत्युपपत्तिरस्य संतापनाशश्च नराधिपस्य ॥६७॥

इसलिए, हे सौम्य, यदि मोक्षमें भक्ति हो, तो कही गई विधिका उचित रीतिसे सेवन करो; इस प्रकार इसकी प्राप्ति होगी और राजाका संतापनाश होगा ॥ ६७ ॥

या च प्रवृत्ता तव दोषबुद्धिस्तपोवनेभ्यो भवनं प्रवेष्टुम्।
तत्रापि चिन्ता तव तात मा भूत् पूर्वेऽपि जग्मुः स्वगृहान्वनेभ्यः॥६८॥

तपोवनसे घर प्रवेश करनेमें तुम जो दोष समझते हो, उसके लिए भी, हे तात, तुम्हें चिन्ता न करनी चाहिए; पूर्वमें भी लोग वनसे अपने घर गये हैं ॥ ६८ ॥

तपोवनस्थोऽपि वृतः प्रजाभिर्जगाम राजा पुरमम्बरीषः।
तथा महीं विप्रकृतामनार्यैस्तपोवनादेत्य ररक्ष रामः ॥६९॥

तपोवनमें रहनेपर भी राजा अम्बरीष प्रजाओंसे घिरकर नगरको गया। उसी प्रकार अनार्योंसे सताई जाती पृथ्वीकी रक्षा रामने वनसे आकर की ॥६९॥

तथैव शाल्वाधिपतिर्द्रुमाख्यो वनात्ससूनुर्नगरं विवेश।
ब्रह्मर्षिभूतश्च मुनेर्वसिष्ठाद्दध्रे श्रियं सांकृतिरन्तिदेवः ॥७०॥

उसी प्रकार द्रुमनामक शाल्व-राजने पुत्रके साथ वनसे नगरमें प्रवेश किया और ब्रह्मर्षि हुए सांकृति अन्तिदेवने मुनि वसिष्ठसे राज्य-लक्ष्मी ग्रहण की ॥७०॥

एवंविधा धर्मयशःप्रदीप्ता वनानि हित्वा भवनान्यतीयुः।
तस्मान्न दोषोऽस्ति गृहं प्रयातुं तपोवनाद्धर्मनिमित्तमेव ॥७१॥

धर्मके यशसे जलते हुए ऐसे व्यक्ति वन छोड़कर घर गये। इसलिए धर्मके निमित्त ही तपोवनसे घर जानेमें दोष नहीं है।" ॥ ७१ ॥

ततो वचस्तस्य निशम्य मन्त्रिणः प्रियं हितं चैव नृपस्य चक्षुषः।
अनूनमव्यस्तमसक्तमद्रुतं धृतौ स्थितो राजसुतोऽब्रवीद्वचः ॥७२॥

तब राजाके नेत्रस्वरूप उस मंत्रीका प्रिय व हितकारी वचन सुनकर, राजाके पुत्रने धैर्यपूर्वक परिपूर्ण, सुलझा हुआ, आसक्ति-रहित व ठोस उत्तर दियाः—॥ ७२ ॥

इहास्ति नास्तीति य एष संशयः परस्य वाक्यैर्न ममात्र निश्चयः ।
अवेत्य तत्त्वं तपसा शमेन च स्वयं ग्रहीष्यामि यदत्र निश्चितम् ॥७३॥

"है, नहीं है, इस संसारमें जो यह संशय है, इसमें दूसरोंके वचनसे मुझे निश्चय नहीं होगा । तपस्या और शान्तिसे तत्त्वको जानकर इस विषयमें जो निश्चय होगा वह मैं स्वयं ग्रहण करूँगा ॥ ७३ ॥

न मे क्षमं संशयजं हि दर्शनं ग्रहीतुमव्यक्तपरस्पराहतम् ।
बुधः परप्रत्ययतो हि को व्रजेज्जनोऽन्धकारेऽन्ध इवान्धदेशिकः ॥७४॥

संशयसे उत्पन्न, अस्पष्ट व परस्पर-विरोधी दर्शन ग्रहण करना मेरे लिए ठीक नहीं । अँधेरेमें अंधा गुरुवाले अंधेके समान कौन बुद्धिमान् दूसरोंपर विश्वास-कर चलेगा ? ॥ ७४ ॥

अदृष्टतत्त्वस्य सतोऽपि किं तु मे शुभाशुभे संशयिते शुभे मतिः ।
वृथापि खेदो हि वरं शुभात्मनः सुखं न तत्त्वेऽपि विगर्हितात्मनः ॥७५॥

यद्यपि मैंने तत्त्वको नहीं देखा है, तो भी शुभ व अशुभ संशययुक्त होनेपर शुभमें मेरी मति है । शुभात्मा (= शुभमें लगे हुए) का वृथा श्रम अच्छा है न कि अशुभात्माका सुख, यदि वास्तवमें वह सुख हो भी ॥७५॥

इमं तु दृष्ट्वागममव्यवस्थितं यदुक्तमाप्तैस्तदवेहि साध्विति ।
प्रहीणदोषत्वमवेहि चाप्ततां प्रहीणदोषो ह्यनृतं न वक्ष्यति ॥७६॥

इस शास्त्रको अव्यवस्थित देख रहे हैं, अतः आप्त-जनोंने जो कहा उसे ही ठीक समझिए और दोष-विनाश ही आप्तता है, क्योंकि जिसका दोष नष्ट हो गया है वह झूठ नहीं कहेगा ॥७६॥

गृहप्रवेशं प्रति यच्च मे भवानुवाच रामप्रभृतीन्निदर्शनम् ।
न ते प्रमाणं न हि धर्मनिश्चयेष्वलं प्रमाणाय परिक्षतव्रताः ॥७७॥

घर जानेके बारेमें आपने राम-आदिके जो उदाहरण दिये वे प्रमाण नहीं हैं; क्योंकि धर्मके निश्चयमें वे प्रमाण नहीं हो सकते जिनका व्रत भङ्ग हो गया ॥७७॥

तदेवमप्येव रविर्महीं पतेदपि स्थिरत्वं हिमवान् गिरिस्त्यजेत् ।
अदृष्टतत्त्वो विषयोन्मुखेन्द्रियः श्रयेय न त्वेव गृहान् पृथग्जनः ॥७८॥

इसलिए यदि सूर्य पृथ्वीपर गिर पड़े, हिमालय पर्वत अपनी स्थिरता छोड़ दे, तो भी तत्त्वको देखे विना इन्द्रियोंको विषयाभिमुख कर, मैं अज्ञानी घर नहीं जा सकता ॥७८॥

अहं विशेयं ज्वलितं हुताशनं न चाकृतार्थः प्रविशेयमालयम्।
इति प्रतिज्ञां स चकार गर्वितो यथेष्टमुत्थाय च निर्ममो ययौ ॥७९॥

जलती आगमें मैं प्रवेश करूँगा; किन्तु असफल होकर घरमें प्रवेश नहीं करूँगा।" अभिमानपूर्वक उसने यह प्रतिज्ञा की और इच्छानुसार उठकर वह निर्मम चला गया ॥७९॥

ततः सबाष्पौ सचिवद्विजावुभौ निशम्य तस्य स्थिरमेव निश्चयम्।
विषण्णवक्त्रावनुगम्य दुःखितौ शनैरगत्या पुरमेव जग्मतुः ॥८०॥

तब उसका स्थिर निश्चय सुनकर, रोते हुए मंत्री और विप्र विषण्ण-मुख व दुःखी होकर पीछे-पीछे गये, तब उपायके अभावमें वे धीरे-धीरे नगरकी ही ओर चले ॥८०॥

तत्स्नेहादथ नृपतेश्च भक्तितस्तौ सापेक्षं प्रतिययतुश्च तस्थतुश्च।
दुर्धर्षं रविमिव दीप्तमात्मभासा तं द्रष्टुं न हि पथि शेकतुर्न मोक्तुम् ॥८१॥

तब उसके स्नेहसे और राजाकी भक्तिसे वे दोनों उत्कण्ठित होकर लौटे और ठहर गये। आत्मतेजसे चमकते सूर्यके समान उस दुर्धर्षको रास्तेमें वे न देख सकते थे, न छोड़ सकते थे ॥८१॥

तौ ज्ञातुं परमगतेर्गतिं तु तस्य
प्रच्छन्नांश्चरपुरुषाञ्छुचीन्विधाय ।
राजानं प्रियसुतलालसं नु गत्वा
द्रक्ष्यावः कथमिति जग्मतुः कथंचित् ॥८२॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्ये कुमारान्वेषणो नाम नवमः सर्गः।

उस परमगतिकी गति जाननेके लिए उन्होंने पवित्र गुप्तचर रक्खे और "प्रिय पुत्रके लिए उत्सुक राजाको जाकर कैसे देखेंगे", यह सोचते हुए वे किसी-किसी तरह गये ॥ ८२ ॥

बुद्धचरित महाकाव्यका "कुमार-अन्वेषण" नामक
नवम सर्ग समाप्त।

दशम सर्ग

बिम्बसारका आगमन

स राजवत्सः पृथुपीनवक्षास्तौ हव्यमन्त्राधिकृतौ विहाय।
उत्तीर्य गङ्गां प्रचलत्तरङ्गां श्रीमद्गृहं राजगृहं जगाम ॥ १ ॥

हवन और मंत्रणाके उन अधिकारियोंको छोड़कर, चौड़ी व मोटी छातीवाला वह राज-कुमार चञ्चल तरंगोंवाली गंगाको पारकर, श्रीसम्पन्न गृहोंसे युक्त राजगृहको गया ॥ १ ॥

शैलैः सुगुप्तं च विभूषितं च धृतं च पूतं च शिवैस्तपोदैः।
पञ्चाचलाङ्कं नगरं प्रपेदे शान्तः स्वयंभूरिव नाकपृष्ठम् ॥ २ ॥

पर्वतोंसे सुरक्षित व विभूषित तथा कल्याण-कारी तपोदों (=गर्म जलके झरनों) से धारण और पवित्र किये गये नगर में, जो पाँच पहाड़ोंसे चिह्नित है, उसने शान्त होकर प्रवेश किया, जैसे स्वर्गमें स्वयंभू (प्रवेश कर रहा हो) ॥ २ ॥

गाम्भीर्यमोजश्च निशाम्य तस्य वपुश्च दीप्तं पुरुषानतीत्य।
विसिस्मिये तत्र जनस्तदानीं स्थाणुव्रतस्येव वृषध्वजस्य ॥ ३ ॥

कठोर-व्रत धारी शिवका-सा उसका गाम्भीर्य, ओज तथा असाधारण दीप्त रूप देखकर लोग उस समय वहाँ विस्मित हुए ॥ ३ ॥

तं प्रेक्ष्य योऽन्येन ययौ स तस्थौ यस्तत्र तस्थौ पथि सोऽन्वगच्छत्।
द्रुतं ययौ यः स जगाम धीरं यः कश्चिदास्ते स्म स चोत्पपात ॥४॥

उसे देखकर, जो दूसरी ओर जा रहा था वह ठहर गया, जो वहाँ रास्तेमें ठहरा हुआ था वह पीछे-पीछे गया, जो धीरे-धीरे जा रहा था वह शीघ्रतासे गया, जो कोई बैठा हुआ था वह उछल पड़ा ॥ ४ ॥

कश्चित्तमानर्च जनः कराभ्यां सत्कृत्य कश्चिच्छिरसा ववन्दे।
स्निग्धेन कश्चिद्वचसाभ्यनन्दन्नैनं जगामाप्रतिपूज्य कश्चित् ॥ ५ ॥

किसीने हाथ जोड़कर उसकी पूजा की, किसीने शिरसे प्रणाम कर

सत्कार किया, किसीने स्नेह-भरे वचनसे अभिनन्दन किया, उसकी पूजा किये विना कोई नहीं गया ॥ ५ ॥

तं जिह्रियुः प्रेक्ष्य विचित्रवेषाः प्रकीर्णवाचः पथि मौनमीयुः।
धर्मस्य साक्षादिव संनिकर्षे न कश्चिदन्यायमतिर्बभूव ॥ ६॥

उसे देखकर विचित्र वेषवाले लज्जित हुए, रास्तेमें बहुत बोलनेवाले चुप हो गये। साक्षात् धर्मके समान उसके समीप किसीकी अन्यायबुद्धि नहीं हुई ॥६॥

अन्यक्रियाणामपि राजमार्गे स्त्रीणां नृणां वा बहुमानपूर्वम्।
तं देवकल्पं नरदेवसूनुं निरीक्षमाणा न ततर्प दृष्टिः ॥ ७॥

राज-मार्गमें अन्य कार्योंमें व्यस्त रहनेपर भी स्त्रियों या पुरुषोंकी दृष्टि उस देव-तुल्य राज-कुमारको अति सम्मानपूर्वक देखती हुई तृप्त नहीं हुई ॥७॥

भ्रुवौ ललाटं मुखमीक्षणे वा वपुः करौ वा चरणौ गतिं वा।
यदेव यस्तस्य ददर्श तत्र तदेव तस्याथ बबन्ध चक्षुः ॥ ८॥

उसकी भौंहें, ललाट, मुख, आँखें, आकृति, हाथ, पाँव या गति जिसे हाँ जिसने देखा उसीमें उसकी आँखें बँध गईं ॥ ८ ॥

दृष्ट्वा च सोर्णभ्रुवमायताक्षं ज्वलच्छरीरं शुभजालहस्तम्।
तं भिक्षुवेषं क्षितिपालनार्हं संचुक्षुभे राजगृहस्य लक्ष्मीः ॥ ९॥

उसकी भौंहें लोमश थीं, आँखें लम्बी थीं, शरीर जल रहा था, हाथोंमें शुभसूचक (रेखा-) जाल थे, वह भिक्षु-वेषमें था, किन्तु पृथ्वी पालनके योग्य था; उसे देखकर राजगृहकी लक्ष्मी संक्षुब्ध हुई ॥ ९ ॥

श्रेण्योऽथ भर्ता मगधाजिरस्य बाह्याद्विमानाद्विपुलं जनौघम्।
ददर्श पप्रच्छ च तस्य हेतुं ततस्तमस्मै पुरुषः शशंस ॥१०॥

तब मगध-देशके स्वामी श्रेण्य (बिम्बसार) ने बाहरी महलसे विशाल जन-समूहको देखा और उसका कारण पूछा। तब किसी राजपुरुषने उसे कहा:— ॥ १० ॥

ज्ञानं परं वा पृथिवीश्रियं वा विप्रैर्य उक्तोऽधिगमिष्यतीति।
स एष शाक्याधिपतेस्तनूजो निरीक्ष्यते प्रव्रजितो जनेन ॥११॥

"शाक्य-राजका वह यही पुत्र है, जो विप्रोंके कथनानुसार परम ज्ञान

या पृथ्वीकी लक्ष्मी प्राप्त करेगा। उसने प्रव्रज्या ली है, लोग उसे देख रहे हैं" ॥ ११ ॥

ततः श्रुतार्थो मनसागतास्थो राजा बभाषे पुरुषं तमेव।
विज्ञायतां क्व प्रतिगच्छतीति तथेत्यथैनं पुरुषोऽन्वगच्छत् ॥१२॥

तब कारण जानकर राजाके मनमें आदर हुआ, उसने उसी राजपुरुष-से कहा—"मालूम करो कि वह कहाँ जा रहा है।" "बहुत अच्छा" कहकर वह उसके पीछे-पीछे गया ॥ १२ ॥

अलोलचक्षुर्युगमात्रदर्शी निवृत्तवाग्यन्त्रितमन्दगामी।
चचार भिक्षां स तु भिक्षुवर्यो निधाय गात्राणि चलं च चेतः ॥१३॥

उसकी आँखें स्थिर थीं, वह जुएकी दूरीतक ही देखता था, वाणी बन्द थी, चाल मन्द व नियन्त्रित थी, गात्र व चञ्चल चित्तको वशमें करके वह भिक्षु-श्रेष्ठ भिक्षा माँग रहा था ॥ १३ ॥

आदाय भैक्षं च यथोपपन्नं ययौ गिरेः प्रस्रवणं विविक्तम्।
न्यायेन तत्राभ्यवहृत्य चैनन्महीधरं पाण्डवमारुरोह ॥१४॥

जो कुछ मिली भिक्षा को लेकर, वह पर्वत के एकान्त झरनेकी ओर गया। वहाँ उसे उचित रीतिसे खाकर, वह पाण्डव-पर्वतपर चढ़ गया ॥ १४ ॥

तस्मिन्नवौ लोध्रवनोपगूढे मयूरनादप्रतिपूर्णकुञ्जे।
काषायवासाः स बभौ नृसूर्यो यथोदयस्योपरि बालसूर्यः ॥१५॥

लोध्र-वनसे युक्त उस पर्वतपर, जिसके कुञ्ज मोरोंकी ध्वनिसे भर रहे थे, काषाय-वस्त्र-धारी वह नर-सूर्य इस प्रकार शोभित हुआ, जैसे उदयाचलपर बाल-सूर्य ॥ १५ ॥

तत्रैनमालोक्य स राजभृत्यः श्रेण्याय राज्ञे कथयांचकार।
संश्रुत्य राजा स च बाहुमान्यात्तत्र प्रतस्थे निभृतानुयात्रः ॥१६॥

वहाँ उसे देखकर उस राजपुरुषने राजा श्रेण्यसे यह सब निवेदन किया। यह सुनकर अति सम्मानके कारण विनीत अनुचरोंके साथ वह राजा वहाँ चला ॥ १६ ॥

स पाण्डवं पाण्डवतुल्यवीर्यः शैलोत्तमं शैलसमानवर्ष्मा।
मौलीधरः सिंहगतिर्नृसिंहश्चलत्सटः सिंह इवारुरोह ॥१७॥

पाण्डवोंके समान उसकी वीरता थी, पर्वतके समान उसका शरीर था, वह पाण्डव नामक उत्तम पर्वतपर चढ़ा; वह नर-सिंह, जो मुकुट पहने हुए था और जिसकी चाल सिंहकी-सी थी, उस सिंहके समान था जिसके केसर हिल रहे हों ॥ १७ ॥

ततः स्म तस्योपरि शृङ्गभूतं शान्तेन्द्रियं पश्यति बोधिसत्त्वम्।
पर्यङ्कमास्थाय विरोचमानं शशाङ्कमुद्यन्तमिवाभ्रकुञ्जात् ॥१८॥

तब उस (पर्वत) के ऊपर शिखर-सदृश बोधिसत्त्वको देखा, जिसके इन्द्रिय शान्त थे; पर्यङ्क आसनमें बैठा हुआ वह, मेघ-कुञ्जसे उगते चाँदके समान चमक रहा था ॥ १८ ॥

तं रूपलक्ष्म्या च शमेन चैव धर्मस्य निर्माणमिवोपविष्टम्।
सविस्मयः प्रश्रयवान्नरेन्द्रः स्वयंभुवं शक्र इवोपतस्थे ॥१९॥

रूप-सम्पत्ति व शान्तिसे जान पड़ता था जैसे धर्मका बनाया हुआ कोई बैठा हो; विस्मय और विनयपूर्वक राजा उसके समीप उपस्थित हुआ, जैसे स्वयंभूके समीप इन्द्र (उपस्थित हो रहा हो) ॥ १९ ॥

तं न्यायतो न्यायविदां वरिष्ठं समेत्य पप्रच्छ च धातुसाम्यम्।
स चाप्यवोचत्सदृशेन साम्ना नृपं मनःस्वास्थ्यमनामयं च ॥२०॥

औचित्य जाननेवालोंमें वह श्रेष्ठ था, उसके समीप उचित रीतिसे जाकर उसका धातु-साम्य (= स्वास्थ्य) पूछा। उसने भी योग्य नम्रतापूर्वक राजासे मानसिक स्वास्थ्य और (शारीरिक) आरोग्य कहे ॥२०॥

ततः शुचौ वारणकर्णनीले शिलातले संनिषसाद राजा।
उपोपविश्यानुमतश्च तस्य भावं विजिज्ञासुरिदं बभाषे ॥२१॥

तब स्वच्छ शिला-तलपर, जो हाथीके कानके समान नीला था, राजा बैठ गया। समीपमें बैठकर और अनुमति पाकर उसका भाव जाननेकी इच्छासे यों कहाः—॥२१॥

प्रीतिः परा मे भवतः कुलेन क्रमागता चैव परीक्षिता च।
जाता विवक्षा स्ववयो यतो मे तस्मादिदं स्नेहवचो निबोध ॥२२॥

"आपके कुलसे मेरी बड़ी प्रीति है, वह परम्परागत है और परीक्षित है; अतः, हे मित्र, मुझे कुछ कहनेकी इच्छा हुई है। इसलिए यह स्नेह-वचन सुनियेः—॥२२॥

आदित्यपूर्वं विपुलं कुलं ते नवं वयो दीप्तमिदं वपुश्च।
कस्मादियं ते मतिरक्रमेण भैक्षाक एवाभिरता न राज्ये ॥२३॥

आपका कुल महान् है, सूर्यसे उत्पन्न हुआ है, आपकी अवस्था नई है और यह दीप्त रूप है। किस कारण क्रम तोड़कर आपकी बुद्धि भिक्षावृत्तिमें रत है, राज्यमें नहीं ? ॥२३॥

गात्रं हि ते लोहितचन्दनार्हं काषायसंश्लेषमनर्हमेतत्।
हस्तः प्रजापालनयोग्य एष भोक्तुं न चार्हः परदत्तमन्नम् ॥२४॥

आपका शरीर लाल चन्दनके योग्य है, काषाय-स्पर्शके योग्य यह नहीं। यह हाथ प्रजा-पालनके योग्य है, दूसरोंका दिया अन्न खाने योग्य नहीं ॥२४॥

तत्सौम्य राज्यं यदि पैतृकं त्वं स्नेहात्पितुर्नेच्छसि विक्रमेण।
न च क्रमं मर्षयितुं मतिस्ते भुङ्क्ष्वार्धमस्मद्विषयस्य शीघ्रम् ॥२५॥

इसलिए, हे सौम्य, यदि आप स्नेह-वश पितासे पैतृक राज्य पराक्रमपूर्वक नहीं (लेना) चाहते हैं और यदि क्रमको सहनेका (= क्रमसे राज्य प्राप्ति तक ठहरनेका) विचार आपका नहीं है, तो शीघ्र ही मेरे आधे राज्यका आप पालन करें ॥२५॥

एवं हि न स्यात्स्वजनावमर्दः कालक्रमेणापि शमश्रया श्रीः।
तस्मात्कुरुष्व प्रणयं मयि त्वं सद्भिः सहीया हि सतां समृद्धिः ॥२६॥

इस प्रकार स्वजनका उत्पीड़न नहीं होगा, काल-क्रमसे शान्तिमें रहनेवाली सम्पत्ति भी मिलेगी। इसलिए आप मुझसे प्रीति करें, क्योंकि सज्जनोंकी संगतिसे सज्जनोंकी समृद्धि होती है ॥२६॥

अथ त्विदानीं कुलगर्वितत्वादस्मासु विश्रम्भगुणो न तेऽस्ति।
व्यूढान्यनीकानि विगाह्य बाणैर्मया सहायेन परान् जिगीष ॥२७॥

यदि इस समय कुलके गर्वके कारण हमारे ऊपर आपका विश्वास नहीं है, तो मुझ सहायकके साथ बाणोंसे सैन्य-समूहोंमें प्रवेश कर शत्रुओंको जीतिये ॥२७॥

तद्बुद्धिमत्रान्यतरां वृणीष्व धर्मार्थकामान्विधिवद्भजस्व।
व्यत्यस्य रागादिह हि त्रिवर्गं प्रेत्येह च भ्रंशमवाप्नुवन्ति ॥२८॥

इसलिए दोमेंसे एक विचार स्वीकार कीजिये। धर्म, अर्थ और कामका

विधिवत् सेवन कीजिए, क्योंकि राग-वश यहाँ त्रिवर्गका उलट-पुलट होनेसे लोग यहाँ और परलोकमें भी भ्रष्ट होते हैं ॥२८॥

यो ह्यर्थधर्मौ परिपीड्य कामः स्याद्धर्मकामौ परिभूय चार्थः।
कामार्थयोश्चोपरमेण धर्मस्त्याज्यः स कृत्स्नो यदि काङ्क्षितोऽर्थः॥२९॥

अर्थ व धर्मको परिपीड़ित कर जो काम होगा, धर्म व कामको दबाकर जो अर्थ होगा और काम व अर्थके विनाशसे जो धर्म होगा उसे छोड़िये, यदि आप सम्पूर्ण लक्ष्य (की सिद्धि) चाहते हैं ॥२९॥

तस्मात्त्रिवर्गस्य निषेवणेन त्वं रूपमेतत्सफलं कुरुष्व।
धर्मार्थकामाधिगमं ह्यनूनं नृणामनूनं पुरुषार्थमाहुः ॥३०॥

इसलिए त्रिवर्गके सेवनसे आप इस रूपको सफल कीजिए; क्योंकि कहते हैं कि धर्म, अर्थ व काम की सम्पूर्ण प्राप्ति ही मनुष्यों का सम्पूर्ण पुरुषार्थ है ॥३०॥

तन्निष्फलौ नार्हसि कर्तुमेतौ पीनौ भुजौ चापविकर्षणार्हौ।
मान्धातृवज्जेतुमिमौ हि योग्यौ लोकानपि त्रीनिह किं पुनर्गाम् ॥३१॥

इसलिए धनुष खींचने योग्य इन मोटी भुजाओंको आपको निष्फल नहीं करना चाहिए; क्योंकि मान्धाताके समान ये तीनों लोक जीतने योग्य हैं, फिर इस पृथिवीका क्या कहना ॥३१॥

स्नेहेन खल्वेतदहं ब्रवीमि नैश्वर्यरागेण न विस्मयेन।
इमं हि दृष्ट्वा तव भिक्षुवेषं जातानुकम्पोऽस्म्यपि चागताश्रुः ॥३२॥

स्नेहसे मैं यह कह रहा हूँ, ऐश्वर्यके अनुरागसे नहीं, विस्मय (औद्धत्य ?) से नहीं। आपका यह भिक्षु-वेष देखकर मुझे अनुकम्पा हो गई है, और आँसू आ गये हैं ॥३२॥

यावत्स्ववंशप्रतिरूप रूपं न ते जराभ्येत्यभिभूय भूयः।
तद्भुङ्क्ष्व भिक्षाश्रमकाम कामान् कालेऽसि कर्ता प्रियधर्म धर्मम्॥३३॥

हे स्व-वंश-प्रतिबिम्ब, जबतक आपके रूपको दबाकर बुढ़ापा फिर नहीं आता, तबतक, हे भिक्षु-आश्रमके इच्छुक, कामोपभोग कीजिए। हे प्रियधर्म, समयपर धर्म कीजिएगा ॥३३॥

शक्नोति जीर्णः खलु धर्ममाप्तुं कामोपभोगेष्वगतिर्जरायाः।
अतश्च यूनः कथयन्ति कामान्मध्यस्य वित्तं स्थविराय धर्मम् ॥३४॥

वृद्ध धर्म प्राप्त कर सकता है, कामोपभोगमें बुढ़ापेकी गति नहीं है। और इस कारण युवकके लिए काम, मध्यके लिए वित्त, और बूढ़ेके लिए धर्म बताते हैं ॥३४॥

धर्मस्य चार्थस्य च जीवलोके प्रत्यर्थिभूतानि हि यौवनानि।
संरक्ष्यमाणान्यपि दुर्ग्रहाणि कामा यतस्तेन पथा हरन्ति ॥३५॥

जीव-लोकमें धर्म और अर्थका शत्रु यौवन है। यत्न करनेपर भी उसे पकड़ रखना कठिन है; क्योंकि काम अपने मार्गसे उसे ले जाते हैं ॥३५॥

वयांसि जीर्णानि विमर्शवन्ति धीराण्यवस्थानपरायणानि।
अल्पेन यत्नेन शमात्मकानि भवन्त्यगत्यैव च लज्जया च ॥३६॥

वृद्धावस्था विचारवती धीर और स्थिरता परायण होती है। उपायहीनता और लज्जाके कारण अल्प यत्नसे ही उसमें शान्ति मिलती है ॥३६॥

अतश्च लोलं विषयप्रधानं प्रमत्तमक्षान्तमदीर्घदर्शि।
बहुच्छलं यौवनमभ्यतीत्य निस्तीर्य कान्तारमिवाश्वसन्ति ॥३७॥

अतः चञ्चल, विषय-प्रधान, प्रमत्त (= प्रमादपूर्ण) असहनशील, अदीर्घ-दर्शी और अनेक छलोंसे युक्त यौवनको बिताकर लोग वैसे ही आश्वस्त होते हैं, जैसे जंगलको पार कर ॥३७॥

तस्मादधीरं चपलप्रमादि नवं वयस्तावदिदं व्यपैतु।
कामस्य पूर्वं हि वयः शरव्यं न शक्यते रक्षितुमिन्द्रियेभ्यः ॥३८॥

इसलिए अधीर, चपल और प्रमादपूर्ण यह नई वयस तबतक बीते; क्योंकि कामदेवका लक्ष्य नई जवानी है, जिसकी इन्द्रियोंसे रक्षा नहीं की जा सकती ॥३८॥

अथो चिकीर्षा तव धर्म एव यजस्व यज्ञं कुलधर्म एषः।
यज्ञैरधिष्ठाय हि नागपृष्ठं ययौ मरुत्वानपि नाकपृष्ठम् ॥३९॥

३९—"नाक" की जगह "नाग" रक्खा गया है। नमुचिके वधके बाद, यज्ञद्वारा ब्रह्म-हत्याके पापसे मुक्त होकर, इन्द्र स्वर्गको लौटा था।

यदि आपकी इच्छा धर्म करना ही है, तो यज्ञ कीजिए, यह आपका कुल-धर्म है। यज्ञों द्वारा हाथीकी पीठपर चढ़कर इन्द्र भी स्वर्गको गया था ॥३९॥

सुवर्णकेयूरविदष्टबाहवो मणिप्रदीपोज्ज्वलचित्रमौलयः।
नृपर्षयस्तां हि गतिं गता मखैः श्रमेण यामेव महर्षयो ययुः ॥४०॥

राजर्षि-गण, जिनकी भुजाएँ सुवर्ण-केयूरोंसे बँधी थीं और जिनके रंग-बिरंगे मुकुट मणि-प्रदीपोंसे उज्ज्वल थे, यज्ञों द्वारा उस गतिको प्राप्त हुए, जिसको ही महर्षि-गण तपस्या द्वारा प्राप्त हुए ॥४०॥

इत्येवं मगधपतिर्वचो बभाषे यः सम्यग्वलभिदिव ब्रुवन् बभासे।
तच्छ्रुत्वा न स विचचाल राजसूनुः कैलासो गिरिरिव नैकचित्रसानुः॥४१॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्येऽश्वघोषकृते श्रेण्याभिगमनो नाम दशमः सर्गः

इस प्रकार मगध-राजने वह वचन कहा। वह ठीक-ठीक बोलनेमें इन्द्रके समान शोभित हुआ। यह सुनकर वह राज-पुत्र विचलित नहीं हुआ, जैसे अनेक रंग-बिरंगी चोटियोंसे युक्त कैलास पर्वत (विचलित नहीं होता है) ॥४१॥

अश्वघोष-कृत बुद्धचरित महाकाव्यका "बिम्बिसारका आगमन" नामक दशम सर्ग समाप्त।

एकादश सर्ग

काम-निन्दा

अथैवमुक्तो मगधाधिपेन सुहृन्मुखेन प्रतिकूलमर्थम्।
स्वस्थोऽविकारः कुलशौचशुद्धः शौद्धोदनिर्वाक्यमिदं जगाद ॥ १ ॥

तब मगध-राजके द्वारा अपने मित्र-मुखसे इस तरह प्रतिकूल बात कही जानेपर, अपने कुलकी पवित्रतासे पवित्र शौद्धोदनि (= शुद्धोदनके पुत्र) ने शान्ति और धैर्यपूर्वक यह वचन कहा:—॥ १ ॥

नाश्चर्यमेतद्भवतोऽभिधातुं जातस्य हर्यङ्ककुले विशाले।
यन्मित्रपक्षे तव मित्रकाम स्याद्वृत्तिरेषा परिशुद्धवृत्तेः ॥ २ ॥

"आप विशाल हर्यङ्क-कुलमें पैदा हुए हैं, अतः आपके लिए ऐसा कहना आश्चर्यजनक नहीं; हे मित्रेच्छु, मित्रोंके प्रति आप शुद्धाचारका यह व्यवहार आश्चर्यजनक नहीं ॥ २ ॥

असत्सु मैत्री स्वकुलानुवृत्ता न तिष्ठति श्रीरिव विक्लवेषु।
पूर्वैः कृतां प्रीतिपरंपराभिस्तामेव सन्तस्तु विवर्धयन्ति ॥ ३ ॥

अपने कुलमें (पूर्वजों द्वारा) पालित मैत्री असज्जनोंके पास नहीं रहती, जैसे (अपने कुलमें पालित) लक्ष्मी विह्वलोंके पास नहीं रहती; किन्तु सज्जन पूर्वजों द्वारा की गई उसी (मैत्री) को प्रीतिपरम्परासे बढ़ाते हैं ॥ ३ ॥

ये चार्थकृच्छ्रेषु भवन्ति लोके समानकार्याः सुहृदां मनुष्याः।
मित्राणि तानीति परैमि बुद्ध्या स्वस्थस्य वृद्धिष्विह को हि न स्यात् ॥४॥

धन कम होनेपर संसारमें जो मनुष्य मित्रोंके काममें हाथ बँटाते हैं, अपनी बुद्धिसे मैं उन्हींको मित्र समझता हूँ; क्योंकि जो स्वस्थ है (= अच्छी अवस्थामें है) उसकी बढ़तीमें कौन (साथ) नहीं रहेगा ? ॥ ४ ॥

२—हर्यङ्क = उस कुलके किसी राजाका नाम, या वह कुल जिसका चिह्न सिंह है।

एवं च ये द्रव्यमवाप्य लोके मित्रेषु धर्मे च नियोजयन्ति।
अवाप्तसाराणि धनानि तेषां भ्रष्टानि नान्ते जनयन्ति तापम् ॥ ५ ॥

इस प्रकार संसारमें धन पाकर जो लोग मित्रों और धर्ममें लगाते हैं, उनके धन सारवान् हैं, नष्ट होनेपर अन्तमें वे (धन) ताप नहीं पैदा करते ॥ ५ ॥

सुहृत्तया चार्यतया च राजन् खल्वेष यो मां प्रति निश्चयस्ते।
अत्रानुनेष्यामि सुहृत्तयैव ब्रूयामहं नोत्तरमन्यदत्र ॥ ६ ॥

मित्रता और आर्यता (सज्जनता, उदारता)से, हे राजन्, मेरे प्रति आपका जो यह निश्चय हुआ है, इसमें मित्रतासे ही अनुनय करूँगा, इसमें दूसरा उत्तर नहीं दूँगा ॥ ६ ॥

अहं जरामृत्युभयं विदित्वा मुमुक्षया धर्ममिमं प्रपन्नः।
बन्धून् प्रियानश्रुमुखान्विहाय प्रागेव कामानशुभस्य हेतून् ॥ ७ ॥

जरा व मृत्युका भय जानकर मोक्षकी इच्छासे मैं इस धर्मकी शरणमें, अश्रु-मुख प्रिय बन्धुओंको छोड़कर, अशुभके कारण-स्वरूप कामको तो पहले ही (छोड़कर), आया हूँ ॥ ७ ॥

नाशीविषेभ्यो हि तथा बिभेमि नैवाशनिभ्यो गगनाच्च्युतेभ्यः।
न पावकेभ्योऽनिलसंहितेभ्यो यथा भयं मे विषयेभ्य एव ॥ ८ ॥

सर्पोंसे मैं उतना नहीं डरता, न आकाशसे गिरे वज्रोंसे, न हवासे मिली आगसे, जितना कि विषयोंसे डरता हूँ ॥ ८ ॥

कामा ह्यनित्याः कुशलार्थचौरा रिक्ताश्च मायासदृशाश्च लोके।
आशास्यमाना अपि मोहयन्ति चित्तं नृणां किं पुनरात्मसंस्थाः ॥ ९ ॥

काम अनित्य हैं, कुशलरूप धनके चोर हैं, खाली हैं और संसारमें मायाके समान हैं। उनकी चिन्ता करनेपर भी वे मनुष्योंके चित्त मूढ़ करते हैं, फिर अपनेमें उनके स्थित रहनेपर क्या कहना ? ॥ ९ ॥

कामाभिभूता हि न यान्ति शर्म त्रिपिष्टपे किं बत मर्त्यलोके।
कामैः सतृष्णस्य हि नास्ति तृप्तिर्यथेन्धनैर्वातसखस्य वह्नेः ॥१०॥

जो कामसे अभिभूत हैं वे, मर्त्य-लोकमें क्या, स्वर्गमें भी शान्ति नहीं पाते। तृष्णावान्को कामसे तृप्ति नहीं होती, जैसे हवाका साथ पाकर आगको इन्धनसे (तृप्ति नहीं होती) ॥१०॥

जगत्यनर्थो न समोऽस्ति कामैर्मोहाच्च तेष्वेव जनः प्रसक्तः ।
तत्त्वं विदित्वैवमनर्थभीरुः प्राज्ञः स्वयं कोऽभिलषेदनर्थम् ॥११॥

जगत्में काम (= विषय)के समान अनर्थ (बुराई, विपत्ति) नहीं और मोहसे आदमी उसीमें आसक्त होता है। तत्त्वको जानकर अनर्थसे डरनेवाला कौन बुद्धिमान् स्वयं अनर्थकी अभिलाषा करे ? ॥११॥

समुद्रवस्त्रामपि गामवाप्य पारं जिगीषन्ति महार्णवस्य ।
लोकस्य कामैर्न वितृप्तिरस्ति पतद्भिरम्भोभिरिवार्णवस्य ॥१२॥

समुद्र-वसना पृथिवीको भी पाकर लोग महासागरके पार जीतनेकी इच्छा करते हैं। संसारको काम (= उपभोग)से तृप्ति नहीं होती, जैसे गिरती जल राशिसे महासागरकी (तृप्ति नहीं होती) ॥१२॥

देवेन वृष्टेऽपि हिरण्यवर्षे द्वीपान्समग्रांश्चतुरोऽपि जित्वा ।
शक्रस्य चार्धासनमप्यवाप्य मान्धातुरासीद्विषयेष्वतृप्तिः ॥१३॥

देव द्वारा सुवर्ण-वृष्टि की जानेपर भी, चारों समग्र द्वीपोंको जीतकर भी और इन्द्रका आधा आसन पाकर भी, मान्धाताको विषयोंमें तृप्ति नहीं हुई ॥१३॥

भुक्त्वापि राज्यं दिवि देवतानां शतक्रतौ वृत्रभयात्प्रनष्टे ।
दर्पान्महर्षीनपि वाहयित्वा कामेष्वतृप्तो नहुषः पपात ॥१४॥

वृत्रके भयसे इन्द्रके छिपनेपर, स्वर्गमें देवताओंका राज्य भोगकर भी, दर्पसे महर्षियोंद्वारा भी (अपनेको) वहन कराकर, नहुष (स्वर्गसे) गिर पड़ा, विषयोंमें अतृप्त ही रहा ॥ १४ ॥

ऐडश्च राजा त्रिदिवं विगाह्य नीत्वापि देवीं वशमुर्वशीं ताम् ।
लोभादृषिभ्यः कनकं जिहीर्षुर्जगाम नाशं विषयेष्वतृप्तः ॥१५॥

और, राजा ऐड (इडाका पुत्र पुरुरवा) स्वर्गमें प्रवेशकर, उस देवी उर्वशी-को वशमें लाकर भी, लोभवश ऋषियोंसे सुवर्ण हरण करनेकी इच्छासे नाशको प्राप्त हुआ, विषयोंमें अतृप्त ही रहा ॥ १५ ॥

बलेर्महेन्द्रं नहुषं महेन्द्रादिन्द्रं पुनर्ये नहुषादुपेयुः ।
स्वर्गे क्षितौ वा विषयेषु तेषु को विश्वसेद्भाग्यकुलाकुलेषु ॥१६॥

जो विषय बलिसे महेन्द्रके पास, महेन्द्रसे नहुषके पास, फिर नहुषसे (महा-)

इन्द्रके पास गये, भाग्यसे परेशान रहनेवाले उन विषयोंमें, स्वर्गमें या पृथिवीपर, कौन विश्वास करे ? ॥ १६ ॥

चीराम्बरा मूलफलाम्बुभक्षा जटा वहन्तोऽपि भुजङ्गदीर्घाः।
यैर्नान्यकार्या मुनयोऽपि भग्नाः कः कामसंज्ञान्मृगयेत शत्रून् ॥१७॥

वल्कल-वस्त्र पहननेवाले, जल-फल-मूल भक्षण करनेवाले, साँपके समान लम्बी जटा धारण करनेवाले मुनि लोग भी, जिन्हें (तप आदिके अतिरिक्त) दूसरा काम नहीं था, जिनके द्वारा भग्न किए गये, उन कामसंज्ञक शत्रुओंको कौन खोज करे ? ॥ १७ ॥

उग्रायुधश्चोग्रधृतायुधोऽपि येषां कृते मृत्युमवाप भीष्मात्।
चिन्तापि तेषामशिवा वधाय सद्वृत्तिनां किं पुनरव्रतानाम् ॥१८॥

उग्र अस्त्र धारण करनेवाले उग्रायुधने भी जिनके कारण भीष्मसे मौत पाई, उनकी चिन्ता भी अमङ्गलजनक है, और सदाचारियोंके लिये भी घातक है, फिर अव्रतियोंका क्या कहना ! ॥ १८ ॥

आस्वादमल्पं विषयेषु मत्वा संयोजनोत्कर्षमतृप्तिमेव।
सद्भ्यश्च गर्हां नियतं च पापं कः कामसंज्ञं विषमाददीत ॥१९॥

विषयोंमें स्वाद कम है, बन्धन अधिक है, केवल अतृप्ति है, सज्जनों द्वारा निन्दा होती है, और पाप नियत है—ऐसा समझकर कौन कामनामक विषको ग्रहण करे ! ॥ १९ ॥

कृष्यादिभिः कर्मभिरर्दितानां कामात्मकानां च निशम्य दुःखम्।
स्वास्थ्यं च कामेष्वकुतूहलानां कामान्विहातुं क्षममात्मवद्भिः ॥२०॥

कृषि आदि कर्मोंसे पीड़ित रहनेवालोंका स्वास्थ्य (= सुख, शान्ति, प्रसन्नता) देखकर, आत्मवान् (= संयतात्मा) लोगोंके लिए कामका त्याग करना ही उचित है ॥ २० ॥

ज्ञेया विपत्कामिनि कामसंपत्सिद्धेषु कामेषु मदं ह्युपैति।
मदादकार्यं कुरुते न कार्यं येन क्षतो दुर्गतिमभ्युपैति ॥२१॥

कामी व्यक्तिमें कामरूपी सम्पत्तिको विपत्ति ही समझना चाहिए; क्योंकि काम सिद्ध होनेपर मद होता है। मदसे मनुष्य अकार्य करता है, कार्य नहीं, जिससे घायल होकर वह दुर्गतिको प्राप्त होता है ॥ २१ ॥

त्नेन लब्धाः परिरक्षिताश्च ये विप्रलभ्य प्रतियान्ति भूयः।
त्वात्मवान्याचितकोपमेषु कामेषु विद्वानिह को रमेत॥२२॥

यत्नपूर्वक पाये गये और रखे गये जो (काम) ठगकर फिर चले जाते हैं, स संसारमें माँगी हुई वस्तुओंके समान उन कामों (= विषयों)में कौन आत्मवान् (= संयतात्मा) बुद्धिमान रत होगा? ॥ २२ ॥

न्विष्य चादाय च जाततर्षा यानत्यजन्तः परियान्ति दुःखम्।
लोके तृणोल्कासदृशेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात्॥२३॥

जिन्हें खोजकर और पाकर तृष्णा होती है, जिन्हें नहीं छोड़नेमें (लोग) दुःख पाते हैं, संसारमें तृणोंकी उल्काके समान उन कामों (= विषयों)में किस आत्मवान्को आनन्द होगा? ॥ २३ ॥

अनात्मवन्तो हृदि यैर्विदष्टा विनाशमर्छन्ति न यान्ति शर्म।
क्रुद्धोग्रसर्पप्रतिमेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात्॥२४॥

अनात्मवान् (= असंयतात्मा) जिनके द्वारा हृदयमें डँसे जानेपर नष्ट हो जाते हैं, शान्ति नहीं पाते, क्रुद्ध उग्र सर्पोंके समान उन कामोंमें किस आत्मवान्को आनन्द होगा? ॥ २४ ॥

अस्थि क्षुधार्ता इव सारमेया भुक्त्वापि यान्नैव भवन्ति तृप्ताः।
जीर्णास्थिकङ्कालसमेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात्॥२५॥

जैसे हड्डी चबाकर भी भूखे कुत्ते तृप्त नहीं होते हैं वैसे ही जिन्हें भोगकर भी (लोग) तृप्त नहीं होते हैं, जीर्ण अस्थि-पञ्जर (= पुरानी ठटरी)के समान उन कामोंमें किस आत्मवान्को आनन्द होगा? ॥ २५ ॥

ये राजचौरोदकपावकेभ्यः साधारणत्वाज्जनयन्ति दुःखम्।
तेषु प्रविद्धामिषसंनिभेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात्॥२६॥

राजा चोर जल व अग्निका समान अधिकार होनेके कारण जो (काम) दुःख पैदा करते हैं, फेंके हुए मांसके समान उन कामोंमें किस आत्मवान्को आनन्द होगा? ॥२६॥

२६, २७—काम = उपभोगकी वस्तुएँ। सोने चाँदीके लाखों-करोड़ों सिक्कोंको मैं श्रेष्ठ धन नहीं कहता। उसमें तो भय-ही-भय है—राजाका,

यत्र स्थितानामभितो विपत्तिः शत्रोःसकाशादपि बान्धवेभ्यः।
हिंस्रेषु तेष्वायतनोपमेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥२७॥

जहाँ रहनेवालों (जिनमें रमनेवालों) पर चारों ओरसे विपत्ति है, शत्रुके समीपसे, और बन्धुओंके समीपसे, यज्ञशालाओंके समान उन हिंसक कामोंमें किस आत्मवान्‌को आनन्द होगा ? ॥२७॥

गिरौ वने चाप्सु च सागरे च यान् भ्रंशमर्छन्ति विलङ्घमानाः।
तेषु द्रुमप्राग्रफलोपमेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥२८॥

पर्वतपर, वनमें, जलमें और सागरमें जिन्हें खोजते हुए भ्रष्ट होते हैं, वृक्ष-शिखरपरके फलोंके समान उन कामोंमें किस आत्मवान्‌को आनन्द होगा ? ॥२८॥

तीव्रैः प्रयत्नैर्विविधैरवाप्ताः क्षणेन ये नाशमिह प्रयान्ति।
स्वप्नोपभोगप्रतिमेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥२९॥

विविध तीव्र प्रयत्नोंसे प्राप्त होकर जो क्षण-भरमें इस संसारमें नष्ट हो जाते हैं, स्वप्न-उपभोगके समान उन कामोंमें किस आत्मवान्‌को आनन्द होगा ? ॥२९॥

यानर्जयित्वापि न यान्ति शर्म विवर्धयित्वा परिपालयित्वा।
अङ्गारकर्षूप्रतिमेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥३०॥

जिन्हें अर्जनकर, बढ़ाकर और पालकर भी (लोग) शान्ति नहीं पाते, अंगारेकी आगके समान उन कामोंमें किस आत्मवान्‌को आनन्द होगा ? ॥३०॥

विनाशमीयुः कुरवो यदर्थं वृष्ण्यन्धका मेखलदण्डकाश्च।
सूनासिकाष्ठप्रतिमेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥३१॥

जिनके लिए कौरव वृष्ण्यन्धक व मेखलदण्डक विनाशको प्राप्त हुए,

अग्निका, जलका, चोरका, लुटेरेका और अपने सगे संबन्धियों तकका भय है—बु० चा०।

३१-३२—जुएके लिए कौरवोंका, मद्यपानके लिए वृष्ण्यन्धकोंका और स्त्रीके लिए सुन्द-उपसुन्दका विनाश हुआ।

…-स्थलके छुरे व काठके समान उन कामोंमें किस आत्मवान्को आनन्द …गा ? ॥३१॥

…न्दोपसुन्दावसुरौ यदर्थमन्योन्यवैरप्रसृतौ विनष्टौ।
…हार्दविश्लेषकरेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥३२॥

जिनके लिए सुन्द और उपसुन्द नामक दो असुर, एक दूसरेके प्रति …र बढ़नेपर, नष्ट हुए, मैत्री बिलगानेवाले उन कामोंमें किस आत्मवान्को …आनन्द होगा ? ॥३२॥

…षां कृते वारिणि पावके च क्रव्यात्सु चात्मानमिहोत्सृजन्ति।
…सपत्नभूतेष्वशिवेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥३३॥

जिनके लिए जलमें, अग्निमें व हिंसक जीवोंके आगे (लोग) अपनेको …उत्सर्ग (=समर्पित) कर देते हैं, शत्रु-सदृश व अमङ्गलजनक उन कामोंमें किस आत्मवान्को आनन्द होगा ? ॥३३॥

कामार्थमज्ञः कृपणं करोति प्राप्नोति दुःखं वधबन्धनादि।
कामार्थमाशाकृपणस्तपस्वी मृत्युं श्रमं चार्छति जीवलोकः ॥३४॥

काम (= विषय)के लिए अज्ञानी क्षुद्रता करता है और वध-बन्धन आदि दुःख पाता है। तृष्णासे दीन हुआ बेचारा प्राणि-जगत् कामके लिए मौत व थकावट पाता है ॥ ३४ ॥

गीतैर्ह्रियन्ते हि मृगा वधाय रूपार्थमग्नौ शलभाः पतन्ति।
मत्स्यो गिरत्यायसमामिषार्थी तस्मादनर्थं विषयाः फलन्ति ॥३५॥

गीतोंसे मृग वधके लिए अपहृत होते हैं; रूपके लिए पतंग अग्निमें गिरते हैं; मांस चाहनेवाली मछली लोहेकी काँटिया निगलती है; इसलिए विषयोंका फल विपत्ति है ॥ ३५ ॥

कामास्तु भोगा इति यन्मतिः स्याद्भोगा न केचित्परिगण्यमानाः।
वस्त्रादयो द्रव्यगुणा हि लोके दुःखप्रतीकार इति प्रधार्याः ॥३६॥

काम भोग हैं, ऐसा जो विचार है सो कोई भी काम भोग नहीं गिने जा सकते; क्योंकि वस्त्र आदि विषय दुःखके प्रतीकार हैं, ऐसा समझना चाहिए॥३६॥

इष्टं हि तर्षप्रशमाय तोयं क्षुन्नाशहेतोरशनं तथैव।
वातातपाम्ब्वावरणाय वेश्म कौपीनशीतावरणाय वासः ॥३७॥

प्यास मिटानेके लिए पानी इष्ट (= चाहा जाता) है, उसी प्रकार भूख मिटानेके लिए भोजन, हवा धूप व पानीसे बचनेके लिए घर, शीत-निवारण और लंगोटेके लिए वस्त्र ॥ ३७ ॥

निद्राविघाताय तथैव शय्या यानं तथाध्वश्रमनाशनाय।
तथासनं स्थानविनोदनाय स्नानं मृजारोग्यबलाश्रयाय ॥३८॥

उसी प्रकार नींद (की बाधा) दूर करनेके लिए शय्या, उसी तरह रास्ते की थकावट नष्ट करनेके लिए गाड़ी, उसी तरह खड़ा रहना दूर करनेके लिए आसन और मार्जन आरोग्य व बल प्राप्त करनेके लिए स्नान (इष्ट है) ॥३८॥

दुःखप्रतीकारनिमित्तभूतास्तस्मात्प्रजानां विषया न भोगाः।
अश्नामि भोगानिति कोऽभ्युपेयात्प्राज्ञः प्रतीकारविधौ प्रवृत्तः ॥३९॥

इसलिए दुःख-प्रतीकारके कारणस्वरूप विषय लोगोंके लिए भोग नहीं हो सकते। (दुःख-) प्रतिकार-विधिमें लगा हुआ कौन बुद्धिमान् यह मानेगा— "मैं भोग कर रहा हूँ" ॥ ३९ ॥

यः पित्तदाहेन विदह्यमानः शीतक्रियां भोग इति व्यवस्येत्।
दुःखप्रतीकारविधौ प्रवृत्तः कामेषु कुर्यात्स हि भोगसंज्ञाम् ॥४०॥

पित्तज्वरसे जलता हुआ जो (आदमी) शीतोपचारको भोग समझेगा, दुःख-प्रतीकार-उपायमें लगा हुआ वही (आदमी) कामों (=विषयों) को भोग समझेगा ॥ ४० ॥

कामेष्वनैकान्तिकता च यस्मादतोऽपि मे तेषु न भोगसंज्ञा।
य एव भावा हि सुखं दिशन्ति त एव दुःखं पुनरावहन्ति ॥४१॥

क्योंकि कामों (= विषयों) में ऐकान्तिकता (= एक अंत) नहीं है, इस लिए भी मैं कामोंको भोग नहीं समझता। जो ही पदार्थ सुख देते हैं, वे ही फिर दुःख लाते हैं ॥ ४१ ॥

गुरूणि वासांस्यगुरूणि चैव सुखाय शीते ह्यसुखाय घर्मे।
चन्द्रांशवश्चन्दनमेव चोष्णे सुखाय दुःखाय भवन्ति शीते ॥४२॥

क्योंकि, भारी वस्त्र और अगुरुसे जाड़ेमें सुख होता है और गर्मीमें असुख; चन्द्र-किरणों व चन्दनसे गर्मीमें सुख होता है और जाड़ेमें असुख ॥ ४२ ॥

द्धानि सर्वस्य यतः प्रसक्तान्यलाभलाभप्रभृतीनि लोके।
तोऽपि नैकान्तसुखोऽस्ति कश्चिन्नैकान्तदुःखः पुरुषः पृथिव्याम् ॥४३॥

क्योंकि संसारमें हानि-लाभ आदि द्वन्द्व सबमें लगे हुए हैं, इसलिए भी थिवीपर कोई पुरुष न तो एकान्त (= केवल) सुखी है और न एकान्त :खी ॥ ४३ ॥

ष्ट्वा विमिश्रां सुखदुःखतां मे राज्यं च दास्यं च मतं समानम्।
नित्यं हसत्येव हि नैव राजा न चापि संतप्यत एव दासः ॥४४॥

दुःख व सुखको मिला हुआ देखकर, राज्य व दासत्वको मैं समान मानता हूँ। न तो राजा ही नित्य हँसता है और न दास ही नित्य संतप्त होता है ॥४४॥

आज्ञा नृपत्वेऽभ्यधिकेति यत्स्यान्महान्ति दुःखान्यत एव राज्ञः।
आसङ्गकाष्ठप्रतिमो हि राजा लोकस्य हेतोः परिखेदमेति ॥४५॥

यह कि राजत्वमें आज्ञा अधिक है, इसीलिए तो राजाको बड़े-बड़े दुःख होते हैं। आसङ्ग-काष्ठ (?)के समान राजा संसारके लिए थकता है ॥ ४५ ॥

राज्ये नृपस्त्यागिनि बह्वमित्रे विश्वासमागच्छति चेद्विपन्नः।
अथापि विश्रम्भमुपैति नेह किं नाम सौख्यं चकितस्य राज्ञः ॥४६॥

त्याग करनेवाले (= क्षण-भंगुर) व बहुत शत्रुओंसे भरे राज्यमें यदि (राजा) विश्वास करता है, तो मरता है और यदि उस (राज्य)में विश्वास नहीं करता है, तो भय-भीत रहनेवाले राजाको सुख क्या ? ॥ ४६ ॥

यदा च जित्वापि महीं समग्रां वासाय दृष्टं पुरमेकमेव।
तत्रापि चैकं भवनं निषेव्यं श्रमः परार्थे ननु राजभावः ॥४७॥

और जब कि सारी पृथ्वीको जीतकर भी रहनेके लिए वह एक ही नगरको देखता है, और उसमें भी उसे एक ही महलका सेवन करना पड़ता है, तब अवश्य ही राजत्व दूसरोंके लिए (परि-) श्रम (करना) है ॥ ४७ ॥

राज्ञोऽपि वासोयुगमेकमेव क्षुत्संनिरोधाय तथान्नमात्रा।
शय्या तथैकासनमेकमेव शेषा विशेषा नृपतेर्मदाय ॥४८॥

राजाके लिए भी एक ही जोड़ा वस्त्र, उसी तरह क्षुधा-निवृत्तिके लिए कुछ अन्न, उसी तरह एक शय्या और एक ही आसन (आवश्यक है); राजाकी शेष विशेषताएँ तो मद (पैदा करने) के लिए हैं ॥ ४८ ॥

तुष्ट्यर्थमेतच्च फलं यदीष्टमृतेऽपि राज्यान्मम तुष्टिरस्ति।
तुष्टौ च सत्यां पुरुषस्य लोके सर्वे विशेषा ननु निर्विशेषाः ॥४९॥

और यदि संतोषके लिए यह फल इष्ट है, तो राज्यके विना भी मुझे संतोष है। संसारमें मनुष्यको संतोष होनेपर सब विशेषताएँ विशेषता-रहित हैं॥ ४९॥

तन्नास्मि कामान् प्रति संप्रतार्यः क्षेमं शिवं मार्गमनुप्रपन्नः।
स्मृत्वा सुहृत्त्वं तु पुनः पुनर्मां ब्रूहि प्रतिज्ञां खलु पालयेति ॥५०॥

इसलिए कामोंके प्रति मैं बहकाया नहीं जा सकता; मङ्गलमय व कल्याणकारी मार्गकी शरणमें हूँ। मित्रताको स्मरण कर आप बार-बार मुझसे कहें—"अवश्य प्रतिज्ञा पालन करो" ॥ ५० ॥

न ह्यस्म्यमर्षेण वनं प्रविष्टो न शत्रुबाणैरवधूतमौलिः।
कृतस्पृहो नापि फलाधिकेभ्यो गृह्णामि नैतद्वचनं यतस्ते ॥५१॥

न तो क्रोधसे मैंने वनमें प्रवेश किया है, और न शत्रुके बाणोंसे मुकुट कँपाये जानेपर ही। न तो अधिक फलके लिए अभिलाषा करता हूँ, जिससे आपकी यह बात न मान रहा हूँ ॥ ५१ ॥

यो दन्दशूकं कुपितं भुजङ्गं मुक्त्वा व्यवस्येद्धि पुनर्ग्रहीतुम्।
दाहात्मिकां वा ज्वलितां तृणोल्कां संत्यज्य कामान्स पुनर्भजेत ॥५२॥

जो डँसनेवाले कुपित साँपको, या जलानेवाली जलती उल्काको छोड़कर फिरसे पकड़नेका विचार करे, वही कामोंको छोड़कर फिर उनका सेवन करे ॥ ५२ ॥

अन्धाय यश्च स्पृहयेदनन्धो बद्धाय मुक्तो विधनाय चाढ्यः।
उन्मत्तचित्ताय च कल्यचित्तः स्पृहां स कुर्याद्विषयात्मकाय ॥५३॥

जो दृष्टिवान् दृष्टि-हीन (होनेके) लिए और जो मुक्त (पुरुष) बन्दी (होनेके) लिए, और जो धनी निर्धन (होनेके) लिए और जो स्वस्थ-चित्त उन्मत्त-चित्त (होनेके) लिए अभिलाषा करे, वही विषयी (होनेके) लिए अभिलाषा करे ॥५३॥

भैक्षोपभोगीति च नानुकम्प्यः कृती जरामृत्युभयं तितीर्षुः।
इहोत्तमं शान्तिसुखं च यस्य परत्र दुःखानि च संवृतानि ॥५४॥

"भिक्षापर रहता है" इसलिए वह बुद्धिमान् अनुकम्पाके योग्य नहीं जो

रा व मृत्युका भय पार करना चाहता है, जिसको इस संसारमें उत्तम शान्ति-
ख प्राप्त है और परलोकमें जिसके दुःख नष्ट हैं ॥५४॥

क्ष्म्यां महत्यामपि वर्तमानस्तृष्णाभिभूतस्त्वनुकम्पितव्यः ।
प्नोति यः शान्तिसुखं न चेह परत्र दुःखैः प्रतिगृह्यते च ॥५५॥

महती लक्ष्मीकी (गोदमें) रहता हुआ भी तृष्णासे अभिभूत पुरुष
नुकम्पाके योग्य है, जो इस लोकमें शान्ति-सुख नहीं पाता और जो परलोकमें
दुःखोंसे ग्रस्त होता है ॥५५॥

एवं तु वक्तुं भवतोऽनुरूपं सत्त्वस्य वृत्तस्य कुलस्य चैव ।
ममापि वोढुं सदृशं प्रतिज्ञां सत्त्वस्य वृत्तस्य कुलस्य चैव ॥५६॥

ऐसा कहना आपके सत्त्व आचार और कुलके अनुरूप है, मेरे लिए भी
प्रतिज्ञा पालन करना मेरे सत्त्व, आचार और कुलके योग्य है ॥५६॥

अहं हि संसारशरेण विद्धो विनिःसृतः शान्तिमवाप्तुकामः ।
नेच्छेयमाप्तुं त्रिदिवेऽपि राज्यं निरामयं किं बत मानुषेषु ॥५७॥

संसाररूप तीरसे विद्ध होकर शान्ति पानेकी इच्छासे मैं (घरसे) निकला
हूँ, स्वर्गका भी निष्कण्टक राज्य नहीं पाना चाहता हूँ, मर्त्यलोकका क्या
कहना ! ॥५७॥

त्रिवर्गसेवां नृप यत्तु कृत्स्नतः परो मनुष्यार्थ इति त्वमात्थ माम् ।
अनर्थ इत्येव ममात्र दर्शनं क्षयी त्रिवर्गो हि न चापि तर्पकः ॥५८॥

पूरा-पूरा त्रिवर्ग-सेवन परम पुरुषार्थ है, हे राजन्, यह जो आपने मुझे
कहा, इसमें मैं अनर्थ ही देखता हूँ; क्योंकि त्रिवर्ग नाशवान् है और तृप्ति-
दायक भी नहीं है ॥५८॥

पदे तु यस्मिन्न जरा न भीर्न रुङ् न जन्म नैवोपरमो न चाधयः ।
तमेव मन्ये पुरुषार्थमुत्तमं न विद्यते यत्र पुनः पुनः क्रिया ॥५९॥

जिसमें न जरा है, न भय, न रोग, न जन्म, न मृत्यु, और न आधि,
उसी पदको मैं उत्तम पुरुषार्थ मानता हूँ जिसमें बार-बार कर्म नहीं करना
पड़ता है ॥५९॥

यदप्यवोचः परिपाल्यतां जरा नवं वयो गच्छति विक्रियामिति ।
अनिश्चयोऽयं बहुशो हि दृश्यते जराप्यधीरा धृतिमच्च यौवनम् ॥६०॥

यह जो कहा कि जराकी प्रतीक्षा करो, नई वयसमें विकार होता है, यह निश्चित नहीं है; क्योंकि बहुधा देखा जाता है कि बुढ़ापेमें भी अधैर्य है और जवानीमें भी धैर्य ॥६०॥

स्वकर्मदक्षश्च यदान्तको जगद् वयःसु सर्वेष्ववशं विकर्षति।
विनाशकाले कथमव्यवस्थिते जरा प्रतीक्ष्या विदुषा शमेप्सुना ॥६१॥

जब कि अपने कर्ममें निपुण यम विवश जगत्को सब अवस्थाओंमें दूर खींच रहा है, तब विनाश-काल अनिश्चित होनेपर शान्ति पानेका इच्छुक बुद्धिमान् क्यों बुढ़ापेकी प्रतीक्षा करे ! ॥६१॥

जरायुधो व्याधिविकीर्णसायको यदान्तको व्याध इवाशिवः स्थितः।
प्रजामृगान् भाग्यवनाश्रितांस्तुदन् वयःप्रकर्षं प्रति को मनोरथः ॥६२॥

जब कि जरा-रूप-शस्त्र धारी यम अमङ्गल व्याधके समान खड़ा होकर व्याधिरूप तीरोंको बिखेरता हुआ भाग्य-रूप वनमें आश्रित प्रजा रूप मृगोंको पीड़ित कर रहा है, तब बुढ़ापे(में धर्म करने)की क्या चाह हो सकती ! ॥६२॥

अतो युवा वा स्थविरोऽथवा शिशुस्तथा त्वरावानिह कर्तुमर्हति।
यथा भवेद्धर्मवतः कृतात्मनः प्रवृत्तिरिष्टा विनिवृत्तिरेव वा ॥६३॥

इसलिए युवा हो, या वृद्ध, या शिशु, वह यहाँ शीघ्र ऐसा करे, जिससे धर्मात्मा व शुद्धात्मा होकर (स्वर्ग-प्राप्ति-द्वारा) इष्ट प्रवृत्ति या (मोक्ष-प्राप्ति-द्वारा) इष्ट निवृत्ति प्राप्त करे ॥६३॥

यदात्थ चापीष्टफलां कुलोचितां कुरुष्व धर्माय मखक्रियामिति।
नमो मखेभ्यो न हि कामये सुखं परस्य दुःखक्रियया यदिष्यते ॥६४॥

यह जो कहा कि इष्ट फल देनेवाली कुलोचित यज्ञ-क्रिया धर्मके लिए करो; यज्ञोंको प्रणाम है, मैं वह सुख नहीं चाहता, जो दूसरोंको दुःख देकर चाहा जाता है ॥ ६४ ॥

परं हि हन्तुं विवशं फलेप्सया न युक्तरूपं करुणात्मनः सतः।
क्रतोः फलं यद्यपि शाश्वतं भवेत्तथापि कृत्वा किमु यत्क्षयात्मकम् ॥६५॥

जो दयावान् है उसके लिए फल पानेकी इच्छासे दूसरे विवश जीवकी

१०—"चपलं"की जगह "बहुशः" रखा गया है ।

या करना ठीक नहीं। यदि यज्ञका फल शाश्वत भी हो, तो भी वह करके
या जो हिंसात्मक है? ॥ ६५ ॥

वेद्य धर्मो यदि नापरो विधिर्व्रतेन शीलेन मनःशमेन वा।
थापि नैवार्हति सेवितुं क्रतुं विशस्य यस्मिन् परमुच्यते फलम् ॥६६॥

यदि व्रत, शील या मानसिक शान्ति द्वारा धर्म प्राप्त होनेका दूसरा उपाय
न हो, तो भी यज्ञका सेवन नहीं करना चाहिए, जिसमें दूसरेको मारकर फल
प्राप्त होता है ऐसा कहा जाता है ॥ ६६ ॥

इहापि तावत्पुरुषस्य तिष्ठतः प्रवर्तते यत्परहिंसया सुखम्।
तदप्यनिष्टं सघृणस्य धीमतो भवान्तरे किं बत यन्न दृश्यते ॥६७॥

इस लोकमें रहते हुए पुरुषको पर-हिंसासे जो सुख होता है, वह भी दया-
वान् बुद्धिमान्के लिए इष्ट (वांछनीय) नहीं; दूसरे जन्ममें जो दिखाई नहीं
पड़ रहा है उसका क्या? ॥ ६७ ॥

न च प्रतार्योऽस्मि फलप्रवृत्तये भवेषु राजन् रमते न मे मनः।
लता इवाम्भोधरवृष्टिताडिताः प्रवृत्तयः सर्वगता हि चञ्चलाः ॥६८॥

और फलके लिए प्रवृत्तिकी ओर मैं नहीं बहकाया जा सकता हूँ, जन्म-
चक्रमें, हे राजन्, मेरा मन नहीं लग रहा है। बादलकी वृष्टिसे ताड़ित लताके
समान यह सर्वव्यापी प्रवृत्ति चञ्चल है ॥ ६८ ॥

इहागतश्चाहमितो दिदृक्षया मुनेरराडस्य विमोक्षवादिनः।
प्रयामि चाद्यैव नृपास्तु ते शिवं वचः क्षमेथा मम तत्त्वनिष्ठुरम् ॥६९॥

यहाँ आया हूँ और मोक्ष-वादी मुनि अराडको देखनेकी इच्छासे आज ही
यहाँसे जा रहा हूँ। हे राजन्, आपका कल्याण हो, मेरे सत्यनिष्ठुर वचनको
क्षमा कीजिए ॥ ६९ ॥

अवेन्द्रवद्दिव्यव शश्वदर्कवद्गुणैरव श्रेय इहाव गामव।
अवायुरार्यैरव सत्सुतानव श्रियश्च राजन्नव धर्ममात्मनः ॥७०॥

६८—किसी जीवका जन्म बराबर एक ही योनिमें नहीं होता है, वह भिन्न-भिन्न योनिमें पैदा होता रहता है, और कभी वह स्वर्गमें रहता है तो कभी नरकमें; इसलिए प्रवृत्तिको सर्वव्यापी और चञ्चल कहा गया है।

इन्द्रके समान रक्षा कीजिए, आकाशके सूर्यके समान सदा रक्षा कीजिए, अपने आर्य (= उत्तम) गुणोंसे इस लोकमें कल्याणकी रक्षा कीजिए, पृथ्वीकी रक्षा कीजिए, आयुकी रक्षा कीजिये, सत्पुत्रोंकी रक्षा कीजिए, हे राजन्, लक्ष्मी व अपने धर्मकी रक्षा कीजिए ॥ ७० ॥

हिमारिकेतूद्भवसंभवान्तरे यथा द्विजो याति विमोक्षयंस्तनुम्।
हिमारिशत्रुक्षयशत्रुघातने तथान्तरे याहि विमोक्षयन्मनः ॥७१॥

जैसे अग्नि-पताका (= धूम)से उत्पन्न होनेवाले (=बादल)से वृष्टि होने पर अग्नि अपनी बाहरी आकृति को छोड़ देती है (या साँप अपनी केंचुल छोड़ता है), वैसे ही सूर्य-शत्रु (= तम) का विनाश करनेमें जो शत्रु (=विघ्न) हैं उनकी हत्या करके अपना मन मुक्त कीजिए" ॥ ७१ ॥

नृपोऽब्रवीत्साञ्जलिरागतस्पृहो यथेष्टमाप्नोतु भवानविघ्नतः।
अवाप्य काले कृतकृत्यतामिमां ममापि कार्यो भवता त्वनुग्रहः ॥७२॥

राजाने हाथ जोड़कर अभिलाषापूर्वक कहा—"आप यथेष्ट सफलता निर्विघ्न प्राप्त करें और इसे प्राप्त कर समयपर मेरे ऊपर भी आप अनुग्रह कीजिएगा" ॥ ७२ ॥

स्थिरं प्रतिज्ञाय तथेति पार्थिवे ततः स वैश्वंतरमाश्रमं ययौ।
परिव्रजन्तं तमुदीक्ष्य विस्मितो नृपोऽपि वव्राज पुरं गिरिव्रजम् ॥७३॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्ये कामविगर्हणो नामैकादशः सर्गः।

तब "वैसा ही हो" इस तरह राजाके लिए दृढ़ प्रतिज्ञा कर, वह वैश्वंतर आश्रमकी ओर गया। उसे जाते देखकर विस्मित हुआ राजा भी गिरि-व्रज पुरी (= राजगृह)को चला गया ॥ ७३ ॥

बुद्धचरित महाकाव्यका "काम-निन्दा" नामक एकादश सर्ग समाप्त।

द्वादश सर्ग

अराड-दर्शन

ततः शमविहारस्य मुनेरिक्ष्वाकुचन्द्रमाः ।
अराडस्याश्रमं भेजे वपुषा पूरयन्निव ॥ १ ॥

तब इक्ष्वाकु- (वंशका) चन्द्रमा शम-धर्ममें विहार करनेवाले अराडके आश्रममें गया, उस (आश्रम)को वह (राज-कुमार) अपने रूपसे मानो भर रहा था ॥ १ ॥

स कालामसगोत्रेण तेनालोक्यैव दूरतः ।
उच्चैः स्वागतमित्युक्तः समीपमुपजग्मिवान् ॥ २ ॥

कालाम गोत्रके उस मुनिने दूरसे ही उसे देखकर जोरसे 'स्वागत' शब्द कहा, और वह (कुमार) उसके समीप गया ॥ २ ॥

तावुभौ न्यायतः पृष्ट्वा धातुसाम्यं परस्परम् ।
दारव्योर्मेध्ययोर्वृष्योः शुचौ देशे निषेदतुः ॥ ३ ॥

वे दोनों न्यायपूर्वक परस्पर धातु-साम्य (= स्वास्थ्य) पूछकर पवित्र स्थानमें काठके दो पवित्र आसनोंपर बैठ गये ॥ ३ ॥

तमासीनं नृपसुतं सोऽब्रवीन्मुनिसत्तमः ।
बहुमानविशालाभ्यां दर्शनाभ्यां पिबन्निव ॥ ४ ॥

उस मुनि-श्रेष्ठने, सम्मानके कारण अपनी विकसित आँखोंसे, बैठे हुए उस राज कुमारको मानो पीते हुए कहाः—॥ ४ ॥

विदितं मे यथा सौम्य निष्क्रान्तो भवनादसि ।
छित्त्वा स्नेहमयं पाशं पाशं दृप्त इव द्विपः ॥ ५ ॥

"हे सौम्य, मुझे मालूम है कि आप किस प्रकार घरसे निकले हैं। जैसे गर्वीला हाथी बन्धनको काटकर (निकलता है), वैसे ही स्नेहमय बन्धनको काटकर आप निकले हैं ॥ ५ ॥

सर्वथा धृतिमच्चैव प्राज्ञं चैव मनस्तव।
यस्त्वं प्राप्तः श्रियं त्यक्त्वा लतां विषफलामिव ॥ ६ ॥

आपका मन सब प्रकारसे धैर्यवान् व ज्ञानवान् है जो आप विषाक्त फल-वाली लताकी तरह लक्ष्मीको तजकर आये हैं ॥ ६ ॥

नाश्चर्यं जीर्णवयसो यज्जग्मुः पार्थिवा वनम्।
अपत्येभ्यः श्रियं दत्त्वा भुक्तोच्छिष्टामिव स्रजम् ॥ ७ ॥

(इसमें कुछ) आश्चर्य नहीं कि बूढ़े होनेपर राजा लोग अपनी संतानोंको उपभोग की गई जूठी मालाकी तरह राज्य-लक्ष्मी सौंपकर वन गये ॥ ७ ॥

इदं मे मतमाश्चर्यं नवे वयसि यद्भवान्।
अभुक्त्वैव श्रियं प्राप्तः स्थितो विषयगोचरे ॥ ८ ॥

इसे मैं आश्चर्य मानता हूँ कि आप, नई वयसमें विषयोंकी गोचर-भूमिमें रहते हुए, लक्ष्मीका उपभोग किए विना ही आ गये हैं ॥ ८ ॥

तद्विज्ञातुमिमं धर्मं परमं भाजनं भवान्।
ज्ञानप्लवमधिष्ठाय शीघ्रं दुःखार्णवं तर ॥ ९ ॥

इसलिए इस परम धर्मको जाननेके लिए आप उत्तम पात्र हैं; ज्ञानरूप नावपर चढ़कर दुःखरूप सागरको शीघ्र पार कीजिए ॥ ९ ॥

शिष्ये यद्यपि विज्ञाते शास्त्रं कालेन वर्ण्यते।
गाम्भीर्याद्व्यवसायाच्च न परीक्ष्यो भवान्मम ॥१०॥

यद्यपि शिष्यको जाननेके बाद समयपर शास्त्र बताया जाता है, किंतु आपकी गम्भीरता व निश्चयके कारण मैं आपकी परीक्षा नहीं करूँगा" ॥१०॥

इति वाक्यमराडस्य विज्ञाय स नरर्षभः।
बभूव परमप्रीतः प्रोवाचोत्तरमेव च ॥११॥

अराडकी यह बात जानकर वह नर-श्रेष्ठ परम प्रसन्न हुआ और उत्तर दिया:—॥ ११ ॥

विरक्तस्यापि यदिदं सौमुख्यं भवतः परम्।
अकृतार्थोऽप्यनेनास्मि कृतार्थ इव संप्रति ॥१२॥

"विरक्त होनेपर भी आपकी जो यह अत्यन्त अनुकूलता है, अकृतार्थ होनेपर भी मैं इससे इस समय कृतार्थ-सा हूँ ॥ १२ ॥

दिदृक्षुरिव हि ज्योतिर्यियासुरिव दैशिकम्।
त्वद्दर्शनमहं मन्ये तितीर्षुरिव च प्लवम् ॥१३॥

आपके दर्शनको मैं वैसा ही मान रहा हूँ, जैसा कि देखनेकी इच्छा करनेवाला प्रकाशको, यात्राकी इच्छा करनेवाला (मार्ग) बतानेवालेको, और (नदी) पार करनेकी इच्छा करनेवाला नावको मानता है ॥ १३ ॥

तस्मादर्हसि तद्वक्तुं वक्तव्यं यदि मन्यसे।
जरामरणरोगेभ्यो यथायं परिमुच्यते ॥१४॥

इसलिए यदि आप कहने योग्य समझें, तो आपको वह कहना चाहिए जिससे यह व्यक्ति जरा मरण व रोगसे मुक्त हो जाय" ॥ १४ ॥

इत्यराडः कुमारस्य माहात्म्यादेव चोदितः।
संक्षिप्तं कथयांचक्रे स्वस्य शास्त्रस्य निश्चयम् ॥१५॥

कुमारके माहात्म्यसे ही प्रेरित होकर, अराडने अपने शास्त्रका संक्षिप्त निश्चय इस प्रकार कहा:—॥ १५ ॥

श्रूयतामयमस्माकं सिद्धान्तः शृण्वतां वर।
यथा भवति संसारो यथा चैव निवर्तते ॥१६॥

"हे श्रोताओंमें श्रेष्ठ, हमारा यह सिद्धान्त सुनिये कि कैसे यह संसार प्रवृत्त होता है और कैसे निवृत्त होता है ॥ १६ ॥

प्रकृतिश्च विकारश्च जन्म मृत्युर्जरैव च।
तत्तावत्सत्त्वमित्युक्तं स्थिरसत्त्व परेहि तत् ॥१७॥

हे स्थिर-सत्त्व, इसे समझिये; प्रकृति, विकार, जन्म, जरा व मृत्युको ही सत्त्व कहा गया है ॥ १७ ॥

तत्र तु प्रकृतिं नाम विद्धि प्रकृतिकोविद।
पञ्च भूतान्यहंकारं बुद्धिमव्यक्तमेव च ॥ १८ ॥

हे प्रकृतिको जाननेवाले, उसमें पाँच (महा-) भूतों, अहङ्कार, बुद्धि और अव्यक्तको प्रकृति जानिये ॥ १८ ॥

विकार इति बुध्यस्व विषयानिन्द्रियाणि च।
पाणिपादं च वाचं च पायूपस्थं तथा मनः ॥ १९ ॥

विषयों, इन्द्रियों, हाथ-पाँव, वाणी, गुदा, जननेन्द्रिय व मनको विकार समझिये ॥ १९ ॥

अस्य क्षेत्रस्य विज्ञानात्क्षेत्रज्ञ इति संज्ञि च।
क्षेत्रज्ञ इति चात्मानं कथयन्त्यात्मचिन्तकाः ॥२०॥

और संज्ञावान् (= चेतनावान्, होशवाला) इस क्षेत्रको जाननेके कारण क्षेत्रज्ञ है। और आत्माकी चिन्ता करनेवाले लोग आत्माको क्षेत्रज्ञ कहते हैं ॥ २० ॥

सशिष्यः कपिलश्चेह प्रतिबुद्ध इति स्मृतः
सपुत्रः प्रतिबुद्धस्तु प्रजापतिरिहोच्यते ॥२१॥

और इस संसारमें शिष्यों सहित कपिल ज्ञानी स्मरण किया गया है, उसने पुत्रों सहित ज्ञान प्राप्त किया और वह इस संसारमें प्रजापति कहा जाता है ॥ २१ ॥

जायते जीर्यते चैव बाध्यते म्रियते च यत्।
तद्व्यक्तमिति विज्ञेयमव्यक्तं तु विपर्ययात् ॥२२॥

जो जन्म लेता है, बूढ़ा होता है, पीड़ित होता है और मरता है उसे व्यक्त समझना चाहिए और जो इसका विपरीत (उलटा) है उसे अव्यक्त समझना चाहिए ॥ २२ ॥

अज्ञानं कर्म तृष्णा च ज्ञेयाः संसारहेतवः।
स्थितोऽस्मिंस्त्रितये जन्तुस्तत्सत्त्वं नातिवर्तते ॥२३॥

अज्ञान, कर्म व तृष्णा संसारके कारण-स्वरूप हैं। इन तीनोंमें रहनेवाला प्राणी उस सत्त्व (= प्रकृति विकार जन्म जरा व मृत्यु) के पार नहीं जा सकता ॥ २३ ॥

२१—"प्रतिबुद्धिरिति स्मृतिः" के स्थान में "प्रतिबुद्ध इति स्मृतः" रक्खा गया है। यह एक दुर्बोध श्लोक है। इस दुर्बोधता का कारण पाठ-दोष ही जान पड़ता है। श्लोक-संख्या २९, ४० और २२ को देखते हुए, इसके तीसरे चरण में "प्रतिबुद्ध" की जगह "अप्रतिबुद्ध" पढ़ना ठीक होगा। तब अर्थ यों हो—"और, इस संसार में शिष्यों-सहित कपिल ज्ञानी स्मरण किया गया है और पुत्रों सहित प्रजापति (भूतात्मा, मार) अज्ञानी कहा जाता है।"

विप्रत्ययादहङ्कारात्संदेहादभिसंप्लवात् ।
अविशेषानुपायाभ्यां सङ्गादभ्यवपाततः ॥२४॥

विप्रत्यय, अहङ्कार, संदेह, अभिसंप्लव, अविशेष, अनुपाय, सङ्ग और अभ्यवपातके कारण (प्राणी उस सत्त्वके पार नहीं जा सकता) ॥ २४ ॥

तत्र विप्रत्ययो नाम विपरीतं प्रवर्तते ।
अन्यथा कुरुते कार्यं मन्तव्यं मन्यतेऽन्यथा ॥२५॥

उसमें विप्रत्यय (= अविश्वास, मिथ्या विश्वास) विपरीत आचरण करता है, जो करना है उसे अन्यथा करता है, जो विचारना है उसे अन्यथा विचारता है ॥ २५ ॥

ब्रवीम्यहमहं वेद्मि गच्छाम्यहमहं स्थितः ।
इतीहैवमहंकारस्त्वनहंकार वर्तते ॥२६॥

हे अहङ्कार-रहित, मैं बोलता हूँ, मैं जानता हूँ, मैं जाता हूँ, मैं खड़ा हूँ, इस प्रकार इस संसार में अहङ्कार होता है ॥ २६ ॥

यस्तु भावानसंदिग्धानेकीभावेन पश्यति ।
मृत्पिण्डवदसंदेह संदेह स इहोच्यते ॥२७॥

हे सन्देह-रहित, जो परस्पर नहीं मिली हुई चीजोंको मिट्टीके ढेलेके समान एक (= ठोस) देखता है, वह इस संसारमें सन्देह कहा जाता है ॥२७॥

य एवाहं स एवेदं मनो बुद्धिश्च कर्म च ।
यश्चैवैष गणः सोऽहमिति यः सोऽभिसंप्लवः ॥२८॥

जो ही मैं हूँ वही यह मन बुद्धि व कर्म है, और (मन बुद्धि व कर्मका) जो यह समूह है वही मैं हूँ, ऐसा जो है वह अभिसंप्लव है ॥२८॥

अविशेषं विशेषज्ञ प्रतिबुद्धाप्रबुद्धयोः ।
प्रकृतीनां च यो वेद सोऽविशेष इति स्मृतः ॥२९॥

हे विशेषज्ञ, जो ज्ञानी व अज्ञानीके बीच तथा प्रकृतियोंके बीच अविशेष (= अभेद, भेद नहीं) जानता है वह अविशेष स्मरण किया गया है ॥२९॥

नमस्कारवषट्कारौ प्रोक्षणाभ्युक्षणादयः ।
अनुपाय इति प्राज्ञैरुपायज्ञ प्रवेदितः ॥३०॥

नमस्कार, वषट्कार (= आहुति), सिञ्चन-आदिको, हे उपायज्ञ, बुद्धिमानोंने अनुपाय (= अनुचित उपाय) बताया है ॥३०॥

सज्जते येन दुर्मेधा मनोवाग्बुद्धिकर्मभिः ।
विषयेष्वनभिष्वङ्ग सोऽभिष्वङ्ग इति स्मृतः ॥३१॥

जिससे दुर्बुद्धि पुरुष मन वाणी बुद्धि व कर्मद्वारा विषयोंमें आसक्त होता है, वह, हे आसक्ति-रहित, सङ्ग (= आसक्ति) स्मरण किया गया है ॥३१॥

ममेदमहमस्येति यद्दुःखमभिमन्यते ।
विज्ञेयोऽभ्यवपातः स संसारे येन पात्यते ॥३२॥

"मेरा यह है, मैं इसका हूँ" इस दुःखके अभिमानको अभ्यवपात जानना चाहिए जिसके द्वारा संसारमें पतन होता है ॥३२॥

इत्यविद्यां हि विद्वान्स पञ्चपर्वां समीहते ।
तमो मोहं महामोहं तामिस्रद्वयमेव च ॥३३॥

वह विद्वान् कहता है कि अविद्या पाँच पर्वों (=ग्रन्थियों) की होती है—तम, मोह, महामोह और दो तामिस्र ॥ ३३ ॥

तत्रालस्यं तमो विद्धि मोहं मृत्युं च जन्म च ।
महामोहस्त्वसंमोह काम इत्येव गम्यताम् ॥३४॥

उनमें आलस्यको तम, जन्म व मृत्युको मोह जानिये । हे मोह-रहित, काम ही महामोह है, ऐसा समझिये ॥ ३४ ॥

यस्मादत्र च भूतानि प्रमुह्यन्ति महान्त्यपि ।
तस्मादेष महाबाहो महामोह इति स्मृतः ॥३५॥

जिस कारण इस (काम)में बड़े-बड़े प्राणी भी मूढ़ हो जाते हैं, इस कारण हे महाबाहो, यह महामोह स्मरण किया गया है ॥ ३५ ॥

तामिस्रमिति चाक्रोध क्रोधमेवाधिकुर्वते ।
विषादं चान्धतामिस्रमविषाद प्रचक्षते ॥३६॥

हे क्रोध-रहित, क्रोधको ही तामिस्र कहते हैं और हे विषाद-रहित, विषादको अन्ध-तामिस्र कहते हैं ॥ ३६ ॥

अनयाविद्यया बालः संयुक्तः पञ्चपर्वया ।
संसारे दुःखभूयिष्ठे जन्मस्वभिनिषिच्यते ॥३७॥

पाँच पर्वोंवाली इस अविद्यासे युक्त होकर मूर्ख मनुष्य दुःख-बहुल संसारमें बार-बार जन्म लेता है ॥ ३७ ॥

द्रष्टा श्रोता च मन्ता च कार्यकरणमेव च।
अहमित्येवमागम्य संसारे परिवर्तते ॥३८॥

"द्रष्टा श्रोता चिन्तक व कार्यका साधक मैं ही हूँ" ऐसा समझकर वह संसारमें भटकता है ॥ ३८ ॥

इहैभिर्हेतुभिर्धीमन् जन्मस्रोतः प्रवर्तते।
हेत्वभावात्फलाभाव इति विज्ञातुमर्हसि ॥३९॥

इस संसारमें इन कारणोंसे, हे धीमन्, जन्मका सोता चलता रहता है। कारण नहीं होनेसे फल नहीं हो सकता, ऐसा आपको जानना चाहिए ॥ ३९ ॥

तत्र सम्यङ्मतिर्विद्यान्मोक्षकाम चतुष्टयम्।
प्रतिबुद्धाप्रबुद्धौ च व्यक्तमव्यक्तमेव च ॥४०॥

इसमें, हे मोक्ष के इच्छुक, सम्यक् बुद्धिवाले को (यह) चार जानना चाहिए—ज्ञानी-अज्ञानी और व्यक्त-अव्यक्त ॥४०॥

यथावदेतद्विज्ञाय क्षेत्रज्ञो हि चतुष्टयम्।
आजवंजवतां हित्वा प्राप्नोति पदमक्षरम् ॥४१॥

इन चारों को ठीक ठीक जानकर क्षेत्रज्ञ जन्म-मरण की वेगवती धारा को छोड़ देता है और अविनाशी पद प्राप्त करता है ॥४१॥

इत्यर्थं ब्राह्मणा लोके परमब्रह्मवादिनः।
ब्रह्मचर्यं चरन्तीह ब्राह्मणान्वासयन्ति च ॥४२॥

इसके लिए संसारमें परमब्रह्म-वादी ब्राह्मण ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं और ब्राह्मणोंको इसकी शिक्षा देते हैं" ॥४२॥

इति वाक्यमिदं श्रुत्वा मुनेस्तस्य नृपात्मजः।
अभ्युपायं च पप्रच्छ पदमेव च नैष्ठिकम् ॥४३॥

उस मुनि की यह बात सुनकर राजाके पुत्रने उपाय और नैष्ठिक पद के बारेमें पूछाः—॥४३॥

ब्रह्मचर्यमिदं चर्यं यथा यावच्च यत्र च।
धर्मस्यास्य च पर्यन्तं भवान्व्याख्यातुमर्हति ॥४४॥

"इस ब्रह्मचर्यका आचरण जैसे जितना और जहाँ करना चाहिए, और इस धर्मका जो अन्त है उसकी आप व्याख्या कीजिए।" ॥४४॥

इत्यराडो यथाशास्त्रं विस्पष्टार्थं समासतः।
तमेवान्येन कल्पेन धर्ममस्मै व्यभाषत ॥४५॥

अराडने शास्त्रानुसार उसी धर्मको उसके लिए अन्य तरीकेसे संक्षेपमें स्पष्ट शब्दोंमें कहा:—॥४५॥

अयमादौ गृहान्मुक्त्वा भैक्षाकं लिङ्गमाश्रितः।
समुदाचारविस्तीर्णं शीलमादाय वर्तते ॥४६॥

"आरम्भमें घर छोड़कर वह भिक्षु वेष धारण करता है और सदाचार-व्यापी शील ग्रहण करता है ॥४६॥

संतोषं परमास्थाय येन तेन यतस्ततः।
विविक्तं सेवते वासं निर्द्वन्द्वः शास्त्रवित्कृती ॥४७॥

जहाँ-तहाँसे जो कुछ मिल जाता है उसीसे परम सन्तोष पाकर वह निर्द्वन्द्व शास्त्रज्ञ व बुद्धिमान् एकान्त निवासका सेवन करता है ॥४७॥

ततो रागाद्भयं दृष्ट्वा वैराग्याच्च परं शिवम्।
निगृह्णन्निन्द्रियग्रामं यतते मनसः शमे ॥४८॥

तब रागसे भयकी (उत्पत्ति) और वैराग्यसे परम कल्याणकी (उत्पत्ति) देखकर इन्द्रिय-समूहका निग्रह करता हुआ वह मानसिक शान्तिके लिए यत्न करता है ॥४८॥

अथो विविक्तं कामेभ्यो व्यापादादिभ्य एव च।
विवेकजमवाप्नोति पूर्वध्यानं वितर्कवत् ॥४९॥

तब वह काम व व्यापाद (= पर-द्रोह-चिन्तन, क्रोध) आदिसे रहित विवेक-जन्य और वितर्क-युक्त पूर्व ध्यान प्राप्त करता है ॥४९॥

तच्च ध्यानसुखं प्राप्य तत्तदेव वितर्कयन्।
अपूर्वसुखलाभेन ह्रियते बालिशो जनः ॥५०॥

और उस ध्यान-सुखको पाकर, उसीकी चिन्ता करता हुआ, मूर्ख आदमी अपूर्व सुखकी प्राप्तिद्वारा अपहृत (पथभ्रष्ट) होता है ॥५०॥

शमेनैवंविधेनायं कामद्वेषविगर्हिणा ।
ब्रह्मलोकमवाप्नोति परितोषेण वञ्चितः ॥५१॥

काम-द्वेष-विरोधिनी ऐसी शान्तिद्वारा वह सन्तुष्ट होकर ब्रह्म-लोक प्राप्त करता है ॥५१॥

ज्ञात्वा विद्वान्वितर्कांस्तु मनःसंक्षोभकारकान् ।
तद्वियुक्तमवाप्नोति ध्यानं प्रीतिसुखान्वितम् ॥५२॥

किन्तु वितर्क (= विचार) मनको क्षुब्ध करते हैं, ऐसा जानकर विद्वान् उन (वितर्कों)से वियुक्त और प्रीति-सुखसे युक्त ध्यान प्राप्त करता है ॥५२॥

ह्रियमाणस्तया प्रीत्या यो विशेषं न पश्यति ।
स्थानं भास्वरमाप्नोति देवेष्वाभास्वरेषु सः ॥५३॥

उस प्रीतिद्वारा हरण किया जाता हुआ जो विशेष को नहीं देखता है वह आभास्वर देवोंके बीच भास्वर (= उज्ज्वल) स्थान प्राप्त करता है ॥५३॥

यस्तु प्रीतिसुखात्तस्माद्विवेचयति मानसम् ।
तृतीयं लभते ध्यानं सुखं प्रीतिविवर्जितम् ॥५४॥

जो उस प्रीति-सुख (प्रीतिके सुखसे) अपने मनको अलग करता है वह, सुखमय, किन्तु प्रीति-रहित तृतीय ध्यान प्राप्त करता है ॥५४॥

यस्तु तस्मिन्सुखे मग्नो न विशेषाय यत्नवान् ।
शुभकृत्स्नैः स सामान्यं सुखं प्राप्नोति दैवतैः ॥५५॥

जो उस सुखमें मग्न होकर विशेषके लिए यत्न नहीं करता है वह शुभकृत्स्न देवताओंके साथ सामान्य सुख प्राप्त करता है ॥५५॥

तादृशं सुखमासाद्य यो न रज्यत्युपेक्षकः ।
चतुर्थं ध्यानमाप्नोति सुखदुःखविवर्जितम् ॥५६॥

वैसा सुख पाकर जो अनुरक्त नहीं होता है, उदासीन रहता है, वह सुख-दुःखसे रहित चतुर्थ ध्यान प्राप्त करता हैं ॥५६॥

तत्र केचिद्व्यवस्यन्ति मोक्ष इत्यभिमानिनः ।
सुखदुःखपरित्यागादव्यापाराच्च चेतसः ॥५७॥

---

५१ = "वञ्चित"के स्थानमें "सज्जितः" या "युक्त" बोधक कोई दूसरा शब्द होगा ।

उसमें सुख-दुःखका परित्याग होनेसे और चित्तका व्यापार नहीं होनेसे कुछ अभिमानी निश्चय करते हैं कि मोक्ष यही है ॥५७॥

अस्य ध्यानस्य तु फलं समं देवैर्बृहत्फलैः ।
कथयन्ति बृहत्कालं बृहत्प्रज्ञापरीक्षकाः ॥५८॥

ब्रह्म-ज्ञानके परीक्षक कहते हैं कि इस ध्यानका फल बृहत्फल देवोंके साथ दीर्घ कालतक रहता है ॥५८॥

समाधेर्व्युत्थितस्तस्माद्दृष्ट्वा दोषांश्छरीरिणाम् ।
ज्ञानमारोहति प्राज्ञः शरीरविनिवृत्तये ॥५९॥

उस समाधिसे उठकर, शरीर-धारियोंके दोष देखकर बुद्धिमान् पुरुष शरीर-निवृत्तिके लिए ज्ञान (-मार्ग) पर आरूढ़ होता है ॥५९॥

ततस्तद्ध्यानमुत्सृज्य विशेषे कृतनिश्चयः ।
कामेभ्य इव स प्राज्ञो रूपादपि विरज्यते ॥६०॥

तब उस ध्यानको छोड़कर, विशेषके लिए निश्चय कर बुद्धिमान् (पुरुष) कामकी तरह रूपसे भी विरक्त होता है ॥६०॥

शरीरे खानि यान्यस्मिन्तान्यादौ परिकल्पयन् ।
घनेष्वपि ततो द्रव्येष्वाकाशमधिमुच्यते ॥६१॥

इस शरीरमें जो शून्य स्थान हैं पहले उनकी कल्पना करता है, तब (इसके) ठोस पदार्थोंको भी शून्य समझता है ॥६१॥

आकाशगतमात्मानं संक्षिप्य त्वपरो बुधः ।
तदेवानन्ततः पश्यन्विशेषमधिगच्छति ॥६२॥

दूसरा बुद्धिमान् पुरुष आकाशमें स्थित अपनेको (या आकाशमें व्याप्त आत्माको) संक्षिप्त (= संकुचित) कर, उसीको अनन्तकी तरह देखता हुआ विशेषको प्राप्त करता है ॥६२॥

अध्यात्मकुशलस्त्वन्यो निवर्त्यात्मानमात्मना ।
किंचिन्नास्तीति संपश्यन्नाकिंचन्य इति स्मृतः ॥६३॥

अध्यात्म-कुशल दूसरा पुरुष आत्माद्वारा आत्माको निवृत्त कर "कुछ भी नहीं है" ऐसा देखता हुआ आकिंचन्य (= अकिंचन ?) स्मरण किया गया है ॥६३॥

ततो मुञ्जादिषीकेव शकुनिः पञ्जरादिव।
क्षेत्रज्ञो निःसृतो देहान्मुक्त इत्यभिधीयते ॥६४॥

तब मुञ्जसे (निकली) सींकके समान, पिंजड़ेसे (निकले) पक्षीके समान, देहसे निकला हुआ क्षेत्रज्ञ मुक्त कहा जाता है ॥६४॥

एतत्तत्परमं ब्रह्म निर्लिङ्गं ध्रुवमक्षरम्।
यन्मोक्ष इति तत्त्वज्ञाः कथयन्ति मनिषिणः ॥६५॥

यह परम ब्रह्म है, चिन्ह-रहित, ध्रुव और अविनाशी है, जिसे तत्त्वज्ञ मनीषी मोक्ष कहते हैं ॥६५॥

इत्युपायश्च मोक्षश्च मया संदर्शितस्तव।
यदि ज्ञातं यदि रुचिर्यथावत्प्रतिपद्यताम् ॥६६॥

इस तरह मोक्ष और उपाय मैंने आपको बतला दिये; यदि इसे समझा और यदि रुचि हो, तो उचित रीतिसे इसे प्राप्त कीजिए ॥६६॥

जैगीषव्योऽथ जनको वृद्धश्चैव पराशरः।
इमं पन्थानमासाद्य मुक्ता ह्यन्ये च मोक्षिणः ॥६७॥

जैगीषव्य, जनक, वृद्ध पराशर और दूसरे मोक्षवाले इस मार्गसे चलकर मुक्त हुए" ॥६७॥

इति तस्य स तद्वाक्यं गृहीत्वा तु विचार्य च।
पूर्वहेतुबलप्राप्तः प्रत्युत्तरमुवाच ह ॥६८॥

उसका यह वचन सुनकर और विचार करके पूर्व जन्मोंके हेतु-बल (=तीन कुशल-मूलों की शक्ति) से युक्त कुमारने उत्तर दियाः—॥६८॥

श्रुतं ज्ञानमिदं सूक्ष्मं परतः परतः शिवम्।
क्षेत्रज्ञस्यापरित्यागादवैम्येतदनैष्ठिकम् ॥६९॥

"यह सूक्ष्म ज्ञान सुना, जो उत्तरोत्तर कल्याण-कारी होता गया है। क्षेत्रज्ञका परित्याग नहीं होनेसे इसे मैं नैष्ठिक नहीं समझता हूँ ॥६९॥

विकारप्रकृतिभ्यो हि क्षेत्रज्ञं मुक्तमप्यहम्।
मन्ये प्रसवधर्माणं बीजधर्माणमेव च ॥७०॥

विकार व प्रकृतियोंसे मुक्त होनेपर भी क्षेत्रज्ञमें उत्पत्ति करनेका धर्म (=गुण, स्वभाव) और बीज होनेका धर्म रहता है, ऐसा मैं मानता हूँ ॥७०॥

विशुद्धो यद्यपि ह्यात्मा निर्मुक्त इति कल्प्यते ।
भूयः प्रत्ययसद्भावादमुक्तः स भविष्यति ॥७१॥

यद्यपि विशुद्ध आत्मा मुक्त समझा जाता है, प्रत्ययों (कारणों)के विद्यमा होनेसे वह फिर अमुक्त (= बद्ध) हो जायगा ॥ ७१ ॥

ऋतुभूम्यम्बुविरहाद्यथा बीजं न रोहति ।
रोहति प्रत्ययैस्तैस्तैस्तद्वत्सोऽपि मतो मम ॥७२॥

जैसे ऋतु भूमि व जलके अभावसे बीज अङ्कुरित नहीं होता है और उ उन प्रत्ययोंके होनेसे अङ्कुरित होता है, वैसे ही मैं उसे भी मानता हूँ ॥ ७२ ॥

यत्कर्माज्ञानतृष्णानां त्यागान्मोक्षश्च कल्प्यते ।
अत्यन्तस्तत्परित्यागः सत्यात्मनि न विद्यते ॥७३॥

यह कि कर्म अज्ञान व तृष्णाके त्यागसे मोक्ष होनेकी कल्पना की जाती है सो आत्माके रहनेपर उनका अत्यन्त (= सम्पूर्ण) त्याग नहीं हो सकता ॥७३॥

हित्वा हित्वा त्रयमिदं विशेषस्तूपलभ्यते ।
आत्मनस्तु स्थितिर्यत्र तत्र सूक्ष्ममिदं त्रयम् ॥७४॥

इन तीनोंको धीरे-धीरे छोडनेसे विशेषकी प्राप्ति होती है, किंतु जहाँ आत्मा की स्थिति है वहाँ ये तीनों सूक्ष्म रूपमें भी रहते ही हैं ॥ ७४ ॥

सूक्ष्मत्वाच्चैव दोषाणामव्यापाराच्च चेतसः ।
दीर्घत्वादायुषश्चैव मोक्षस्तु परिकल्प्यते ॥७५॥

दोषोंके सूक्ष्म होनेसे, चित्तका व्यापार नहीं होनेसे, और (उस अवस्थामें आयु लम्बी होनेसे मोक्षकी (केवल) कल्पना कर ली जाती है ॥ ७५ ॥

अहंकारपरित्यागो यश्चैष परिकल्प्यते ।
सत्यात्मनि परित्यागो नाहंकारस्य विद्यते ॥७६॥

और अहङ्कार-परित्यागकी जो यह कल्पना की जाती है, सो आत्माके रहने पर अहङ्कारका परित्याग नहीं हो सकता ॥ ७६ ॥

संख्यादिभिरमुक्तश्च निर्गुणो न भवत्ययम् ।
तस्मादसति नैर्गुण्ये नास्य मोक्षोऽभिधीयते ॥७७॥

और संख्या आदिसे मुक्त नहीं होनेपर वह (= आत्मा) निर्गुण नहीं होता है, इसलिए निर्गुण न होनेपर इसे मोक्ष हुआ, ऐसा नहीं कह सकते ॥ ७७ ॥

गुणिनो हि गुणानां च व्यतिरेको न विद्यते।
रूपोष्णाभ्यां विरहितो न ह्यग्निरुपलभ्यते ॥७८॥

गुणी व गुण जुदा-जुदा नहीं रह सकते। रूप व गर्मीसे रहित अग्नि नहीं पाई जाती ॥ ७८ ॥

प्राग्देहान्न भवेद्देही प्राग्गुणेभ्यस्तथा गुणी।
तस्मादादौ विमुक्तः सन् शरीरी बध्यते पुनः ॥७९॥

देहसे पूर्व देही नहीं, उसी तरह गुणोंसे पूर्व गुणी नहीं, इसलिए शुरूमें मुक्त होनेपर भी शरीरी (= आत्मा) फिर (शरीरमें) बद्ध होता है ॥ ७९ ॥

क्षेत्रज्ञो विशरीरश्च ज्ञो वा स्यादज्ञ एव वा।
यदि ज्ञो ज्ञेयमस्यास्ति ज्ञेये सति न मुच्यते ॥८०॥

और शरीर-रहित क्षेत्रज्ञ ज्ञ (= जाननेवाला) या अज्ञ है। यदि ज्ञ है, तो इसके लिए ज्ञेय (जाननेको शेष) है और ज्ञेय होनेपर यह मुक्त नहीं है ॥८०॥

अथाज्ञ इति सिद्धो वः कल्पितेन किमात्मना।
विनापि ह्यात्मनाज्ञानं प्रसिद्धं काष्ठकुड्यवत् ॥८१॥

यदि आपके अनुसार अज्ञ साबित होता है, तो आत्माकी कल्पना करनेसे क्या (प्रयोजन)? आत्माके विना भी अज्ञान (का अस्तित्व) काठ व दीवारके समान सिद्ध है ॥ ८१ ॥

परतः परतस्त्यागो यस्मात्तु गुणवान् स्मृतः।
तस्मात्सर्वपरित्यागान्मन्ये कृत्स्नां कृतार्थताम् ॥८२॥

क्योंकि एक एक करके त्याग करना गुणवान स्मरण किया गया है, इसलिए सर्व-त्यागसे पूर्ण कृतार्थता होती है, ऐसा मैं मानता हूँ।" ॥ ८२ ॥

इति धर्ममराडस्य विदित्वा न तुतोष सः।
अकृत्स्नमिति विज्ञाय ततः प्रतिजगाम ह ॥८३॥

अराडका यह धर्म जानकर वह संतुष्ट नहीं हुआ, यह (धर्म) अपूर्ण है ऐसा जानकर वहाँसे चला गया ॥ ८३ ॥

विशेषमथ शुश्रूषुरुद्रकस्याश्रमं ययौ।
आत्मग्राहाच्च तस्यापि जगृहे न स दर्शनम् ॥८४॥

तब विशेष सुननेकी इच्छासे वह उद्रकके आश्रममें गया और आत्मा (के सिद्धान्त)को माननेके कारण उसका भी दर्शन उसने ग्रहण नहीं किया ॥८४॥

संज्ञासंज्ञित्वयोर्दोषं ज्ञात्वा हि मुनिरुद्रकः।
आकिंचन्यात्परं लेभेऽसंज्ञासंज्ञात्मिकां मतिम् ॥८५॥

संज्ञा (= चेतना) व असंज्ञा (= अचेतना) का दोष जानकर उद्रक मुनि ने अकिंचनतासे परे संज्ञा असंज्ञा-रहित मार्गको प्राप्त किया ॥८५॥

यस्माच्चालम्बने सूक्ष्मे संज्ञासंज्ञे ततः परम्।
नासंज्ञी नैव संज्ञीति तस्मात्तत्रगतस्पृहः ॥८६॥

क्योंकि सूक्ष्म संज्ञा-असंज्ञा भी आलम्बन (= मानसिक या शारीरिक कर्मका आधार) है, उस (सूक्ष्म संज्ञा-असंज्ञा) से परे न असंज्ञा-युक्त और न संज्ञा-युक्त अवस्था है, इसलिए वह (उद्रक) उस (अवस्था) का अभिलाषी हुआ ॥८६॥

यतश्च बुद्धिस्तत्रैव स्थितान्यत्राप्रचारिणी।
सूक्ष्मापट्वी ततस्तत्र नासंज्ञित्वं न संज्ञिता ॥८७॥

और क्योंकि बुद्धि सूक्ष्म व अपटु (= कर्म रहित) होकर वहीं रहती है, अन्यत्र नहीं जाती; इसलिए वहाँ न असंज्ञा है, न संज्ञा ॥८७॥

यस्माच्च तदपि प्राप्य पुनरावर्तते जगत्।
बोधिसत्त्वः परं प्रेप्सुस्तस्मादुद्रकमत्यजत् ॥८८॥

और क्योंकि उसे भी प्राप्त कर आदमी फिर संसार में लौट आता है, इसलिए परम पद पानेके इच्छुक बोधिसत्वने उद्रक का त्याग किया ॥८८॥

ततो हित्वाश्रमं तस्य श्रेयोऽर्थी कृतनिश्चयः।
भेजे गयस्य राजर्षेर्नगरीसंज्ञमाश्रमम् ॥८९॥

तब श्रेय पाने की इच्छा से निश्चय कर, उसका आश्रम छोड़, उसने राजर्षि गयके नगरी नामक आश्रमका सेवन किया ॥८९॥

अथ नैरञ्जनातीरे शुचौ शुचिपराक्रमः।
चकार वासमेकान्तविहाराभिरतिर्मुनिः ॥९०॥

तब पवित्र पराक्रमवाले, एकान्त-विहारमें आनन्द पानेवाले उस मुनिने नैरञ्जना नदीके पवित्र तीरपर निवास किया ॥९०॥

(आगतान् तत्र) तत्पूर्वं पञ्चेन्द्रियवशोद्धतान् ।
तपः (-प्रवृत्तान्) व्रतिनो भिक्षून् पञ्च निरैक्षत ॥९१॥

अपनेसे पहले ही वहाँ आये हुए पाँच भिक्षुओंको देखा; वे तपस्वी और व्रती थे, पाँच इन्द्रियोंको वश करनेके अभिमानी थे ॥९१॥

ते चोपतस्थुर्दृष्ट्वात्र भिक्षवस्तं मुमुक्षवः ।
पुण्यार्जितधनारोग्यमिन्द्रियार्था इवेश्वरम् ॥९२॥

उसे वहाँ देखकर मोक्ष चाहनेवाले भिक्षु उसकी सेवामें उपस्थित हुए, जैसे इन्द्रिय-विषय उस ऐश्वर्यशालीकी सेवामें उपस्थित होते हैं जिसने अपने पुण्योंसे धन व आरोग्य अर्जित किये हों ॥९२॥

संपूज्यमानस्तैः प्रह्वैर्विनयादनुवर्तिभिः ।
तद्वशस्थायिभिः शिष्यैर्लोलैर्मन इवेन्द्रियैः ॥९३॥

अपने वशमें रहनेवाले उन शिष्यों द्वारा, जो विनयी होनेके कारण नम्र व आज्ञा-कारी थे, वह वैसे ही पूजित हुआ, जैसे चञ्चल इन्द्रियोंसे चित्त पूजित (= सेवित) होता है ॥९३॥

मृत्युजन्मान्तकरणे स्यादुपायोऽयमित्यथ ।
दुष्कराणि समारेभे तपांस्यनशनेन सः ॥९४॥

तब उसने उपवास-द्वारा दुष्कर तप शुरू किये, यह सोचते हुए कि मृत्यु व जन्मका अन्त करनेमें यह उपाय होगा ॥९४॥

उपवासविधीन्नैकान् कुर्वन्नरदुराचरान् ।
वर्षाणि षट् शमप्रेप्सुरकरोत्कार्श्यमात्मनः ॥९५॥

भाँति-भाँतिके उपवास, जो मनुष्यके लिए दुष्कर हैं; छः वर्षोंतक करते हुए, शम प्राप्त करनेकी इच्छासे उसने अपनेको कृश बनाया ॥९५॥

अन्नकालेषु चैकैकैः स कोलतिलतण्डुलैः ।
अपारपारसंसारपारं प्रेप्सुरपारयत् ॥९६॥

अपार-पार संसारका पार पानेकी इच्छासे भोजनके समय एक एक बेर तिल व चावलसे उसने पारण किया ॥ ९६ ॥

देहादपचयस्तेन तपसा तस्य यः कृतः ।
स एवोपचयो भूयस्तेजसास्य कृतोऽभवत् ॥९७॥

उस तपद्वारा उसके शरीरसे जितना ही क्षय हुआ, फिर तेजद्वारा उसकी उतनी ही वृद्धि हुई ॥ ९७ ॥

कृशोऽप्यकृशकीर्तिश्रीर्ह्लादं चक्रेऽन्यचक्षुषाम् ।
कुमुदानामिव शरच्छुक्लपक्षादिचन्द्रमाः ॥९८॥

(शरीरसे) क्षीण होनेपर भी उसकी श्री और कीर्ति क्षीण नहीं हुई और दूसरोंकी आँखोंको उसने वैसे ही आनन्दित किया, जैसे शरद् ऋतुके शुक्ल-पक्षके आरम्भका चन्द्रमा कुमुदोंको आनन्दित करता है ॥ ९८ ॥

त्वगस्थिशेषो निःशेषैर्मेदःपिशितशोणितैः ।
क्षीणोऽप्यक्षीणगाम्भीर्यः समुद्र इव स व्यभात् ॥९९॥

उसकी त्वचा व हड्डियाँ शेष रह गईं, मेद मांस व शोणित निःशेष हो गये; इस तरह क्षीण होनेपर भी वह अक्षीण-गाम्भीर्य (= जिसकी गम्भीरता क्षीण नहीं हुई) समुद्रके समान शोभित हुआ ॥ ९९ ॥

अथ कष्टतपःस्पष्टव्यर्थक्लिष्टतनुर्मुनिः ।
भवभीरुरिमां चक्रे बुद्धिं बुद्धत्वकाङ्क्षया ॥१००॥

तब कठोर तप-द्वारा, स्पष्ट ही, शरीरको व्यर्थ क्लेश देकर, जन्मसे डरनेवाले मुनिने बुद्धत्व (पाने)की आकाङ्क्षासे यह विचार किया:—॥ १०० ॥

नायं धर्मो विरागाय न बोधाय न मुक्तये ।
जम्बुमूले मया प्राप्तो यस्तदा स विधिर्ध्रुवः ॥१०१॥

"इस धर्मसे न विराग होगा, न बोध, न मुक्ति । उस समय जम्बु-वृक्षके मूलमें मैंने जो विधि प्राप्त की थी वही ध्रुव है ॥ १०१ ॥

न चासौ दुर्बलेनाप्तुं शक्यमित्यागतादरः ।
शरीरबलवृद्ध्यर्थमिदं भूयोऽन्वचिन्तयत् ॥१०२॥

दुर्बल उसे नहीं प्राप्त कर सकता", (शरीरके प्रति) ऐसा आदर होनेपर शरीर-बलकी वृद्धिके लिए उसने फिर यह सोचा:—॥ १०२॥

क्षुत्पिपासाश्रमक्लान्तः श्रमादस्वस्थमानसः ।
प्राप्नुयान्मनसावाप्यं फलं कथमनिर्वृतः ॥१०३॥

"जो भूख प्यास व थकावटसे ग्रस्त है, थकावटसे अस्वस्थचित्त अ-सुखी है, वह मनसे प्राप्त होनेवाला फल कैसे पायेगा ? ॥ १०३ ॥

निर्वृतिः प्राप्यते सम्यक् सततेन्द्रियतर्पणात् ।
संतर्पितेन्द्रियतया मनःस्वास्थ्यमवाप्यते ॥१०४॥

इन्द्रियोंको निरन्तर तृप्त करनेसे सुख ठीक-ठीक प्राप्त होता है; इन्द्रियोंको अच्छी तरह तृप्त करनेसे मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त होता है ॥ १०४ ॥

स्वस्थप्रसन्नमनसः समाधिरुपपद्यते ।
समाधियुक्तचित्तस्य ध्यानयोगः प्रवर्तते ॥१०५॥

जिसका मन स्वस्थ व प्रसन्न है उसे समाधि सिद्ध होती है, जिसका चित्त समाधिसे युक्त है उसे ध्यान-योग होता है ॥ १०५ ॥

ध्यानप्रवर्तनाद्धर्माः प्राप्यन्ते यैरवाप्यते ।
दुर्लभं शान्तमजरं परं तदमृतं पदम् ॥१०६॥

ध्यान होनेसे धर्म प्राप्त होते हैं, जिनसे वह परम पद प्राप्त होता है जो दुर्लभ, शान्त, अजर और अमर है ॥ १०६ ॥

तस्मादाहारमूलोऽयमुपाय इतिनिश्चयः ।
आहारकरणे धीरः कृत्वामितमतिर्मतिम् ॥१०७॥

इसलिए, यह उपाय आहार-मूलक है", ऐसा निश्चय कर अपरिमित बुद्धि वाले उस धीरने भोजन करनेका विचार किया ॥१०७॥

स्नातो नैरञ्जनातीरादुत्ततार शनैः कृशः ।
भक्त्यावनतशाखाग्रैर्दत्तहस्तस्तटद्रुमैः ॥१०८॥

स्नान कर, वह कृश-तनु नैरञ्जना नदीके तीरसे धीरे धीरे ऊपर चढ़ा; उस समय शाखाओंके अग्रभागोंको भक्तिपूर्वक झुकाकर तटवर्ती वृक्षोंने हाथ (=सहारा) दिया ॥१०८॥

अथ गोपाधिपसुता दैवतैरभिचोदिता ।
उद्भूतहृदयानन्दा तत्र नन्दबलागमत् ॥१०९॥

तब देवताओंसे प्रेरित होकर गोप-राजकी पुत्री नन्दबला आनन्दित हृदयसे वहाँ गई ॥१०९॥

सितशंखोज्ज्वलभुजा नीलकम्बलवासिनी ।
सफेनमाला नीलाम्बुर्यमुनेव सरिद्वरा ॥११०॥

उसकी भुजाएँ श्वेत शङ्खोंसे उज्ज्वल थीं, वह नीला वस्त्र पहने हुए थी,

जैसे फेन-मालाओंसे युक्त नील जलवाली सरिता-श्रेष्ठ यमुना (उपस्थित हुई) हो ॥११०॥

सा श्रद्धावर्जितप्रीतिर्विकसल्लोचनोत्पला।
शिरसा प्रणिपत्यैनं ग्राहयामास पायसम् ॥१११॥

श्रद्धासे उसकी प्रीति बढ़ी, नेत्ररूप उत्पल विकसित हुए। शिरसे प्रणाम कर उस (मुनि) के द्वारा उसने पायस ग्रहण कराया ॥१११॥

कृत्वा तदुपभोगेन प्राप्तजन्मफलां स ताम्।
बोधिप्राप्तौ समर्थोऽभूत्संतर्पितषडिन्द्रियः ॥११२॥

उस (पायस) का उपभोग कर उसने उस (कन्या) का जन्म सफल किया और छः इन्द्रियोंको अच्छी तरह तृप्त कर बोधि-प्राप्तिमें समर्थ हुआ ॥११२॥

पर्याप्ताप्यानमूर्तिश्च सार्धं स्वयशसा मुनिः।
कान्तिधैर्ये बभारैकः शशाङ्कार्णवयोर्द्वयोः ॥११३॥

अपने यशके साथ वह मुनि शरीरसे पर्याप्त वृद्धिको प्राप्त हुआ। उस एकने ही चन्द्रमा और सागर दोनोंकी (क्रमशः) कान्ति व धैर्य धारण किये ॥११३॥

आवृत्त इति विज्ञाय तं जहुः पञ्च भिक्षवः।
मनीषिणमिवात्मानं निर्मुक्तं पञ्च धातवः ॥११४॥

वह (धर्म से) निवृत्त हो गया, ऐसा जानकर पाँचों भिक्षुओंने उसे छोड़ दिया, जैसे मुक्त हुए मनीषी आत्माको पाँचों धातु छोड़ देते हैं ॥११४॥

व्यवसायद्वितीयोऽथ शाद्वलास्तीर्णभूतलम्।
सोऽश्वत्थमूलं प्रययौ बोधाय कृतनिश्चयः ॥११५॥

तब बुद्धत्वके लिए निश्चय कर, (अपने एकमात्र साथी) निश्चयके साथ वह पीपल वृक्षके नीचे गया, जहाँकी भूमि हरे तृणोंसे ढकी थी ॥११५॥

ततस्तदानीं गजराजविक्रमः पदस्वनेनानुपमेन बोधितः।
महामुनेरागतबोधिनिश्चयो जगाद कालो भुजगोत्तमः स्तुतिम् ॥११६॥

तब उस समय काल नामक उत्तम सर्प, जो गजराज के समान पराक्रमी था, अनुपम पद-ध्वनि द्वारा जगाया गया; बोधि (-प्राप्ति) के लिए निश्चय किया है, ऐसा जानकर उसने महामुनिकी स्तुति की:—॥११६॥

यथा मुने त्वच्चरणावपीडिता मुहुर्मुहुर्गर्जतीव मेदिनी।
यथा च ते राजति सूर्यवत्प्रभा ध्रुवं त्वमिष्टं फलमद्य भोक्ष्यसे ॥११७॥

"हे मुनि, आपके चरणों से पीड़ित होकर जिस प्रकार पृथ्वी मानो बार-बार गरज रही है और जिस प्रकार आपकी प्रभा सूर्य के समान चमक रही है, अवश्य ही आज आप इच्छित फल भोगेंगे ॥११७॥

यथा भ्रमन्त्यो दिवि चाषपङ्क्तयः प्रदक्षिणं त्वां कमलाक्ष कुर्वते।
यथा च सौम्या दिवि वान्ति वायवस्त्वमद्य बुद्धो नियतं भविष्यसि॥११८॥

हे कमल-लोचन, जिस प्रकार आकाशमें मँड़राते हुए चाष (= नीलकण्ठ) पक्षियोंके झुण्ड आपकी प्रदक्षिणा कर रहे हैं और जिस प्रकार आकाशमें सुन्दर हवा बह रही है, अवश्य ही आज आप बुद्ध होंगे" ॥ ११८ ॥

ततो भुजङ्गप्रवरेण संस्तुतस्तृणान्युपादाय शुचीनि लावकात्।
कृतप्रतिज्ञो निषसाद बोधये महातरोर्मूलमुपाश्रितः शुचेः ॥११९॥

तब सर्प-श्रेष्ठ द्वारा स्तुति की जानेपर, उसने (तृण) काटनेवालेसे पवित्र तृण ले लिया और बोधि (-प्राप्ति)के लिए प्रतिज्ञा कर, पवित्र महातरुके नीचे आश्रय लेकर बैठ गया ॥ ११९ ॥

ततः स पर्यंकमकम्प्यमुत्तमं बबन्ध सुप्तोरगभोगपिण्डितम्।
भिनद्मि तावद्भुवि नैतदासनं न यामि यावत्कृतकृत्यतामिति ॥१२०॥

तब उसने उत्तम अविचल पर्यंक आसन बाँधा, जो सोये हुए साँपके शरीरके समान पुञ्जीभूत था। (और कहा)—"तबतक पृथिवीपर इस आसनको नहीं तोड़ूँगा, जबतक कि सफलता नहीं प्राप्त करूँगा" ॥ १२० ॥

ततो ययुर्मुदमतुलां दिवौकसो ववाशिरे न मृगगणा न पक्षिणः।
न सस्वनुर्वनतरवोऽनिलाहताः कृतासने भगवति निश्चितात्मनि ॥१२१॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्येऽराडदर्शनो नाम द्वादशः सर्गः।

जब दृढ़ निश्चय करके भगवान्ने आसन ग्रहण किया, तब देवोंने अतुल आनन्द पाया, पशु-पक्षी बोले नहीं, और हवासे आहत होनेपर भी जंगलके पेड़ोंसे शब्द नहीं हुआ ॥ १२१ ॥

बुद्धचरित महाकाव्यका "अराड-दर्शन" नामक
द्वादश सर्ग समाप्त।

त्रयोदश सर्ग

मारकी पराजय

तस्मिन्विमोक्षाय कृतप्रतिज्ञे राजर्षिवंशप्रभवे महर्षौ।
तत्रोपविष्टे प्रजहर्ष लोकस्तत्रास सद्धर्मरिपुस्तु मारः ॥१॥

मोक्षके लिए प्रतिज्ञा कर जब राजर्षि-वंशमें उत्पन्न वह महर्षि वहाँ बैठ गया, तब संसारको हर्ष हुआ, किंतु सद्धर्म-शत्रु मारको भय हुआ ॥ १ ॥

यं कामदेवं प्रवदन्ति लोके चित्रायुधं पुष्पशरं तथैव।
कामप्रचाराधिपतिं तमेव मोक्षद्विषं मारमुदाहरन्ति ॥२॥

संसारमें जिसे कामदेव, चित्रायुध तथा पुष्पशर कहते हैं उसी मोक्ष-शत्रुको जो काम-संचारका अधिपति है, मार कहते हैं ॥ २ ॥

तस्यात्मजा विभ्रमहर्षदर्पास्तिस्रोऽरतिप्रीतितृषश्च कन्याः।
पप्रच्छुरेनं मनसो विकारं स तांश्च ताश्चैव वचोऽभ्युवाच ॥३॥

विभ्रम, हर्ष व दर्प नामक उसके पुत्रोंने तथा अरति, प्रीति व तृषा (=प्यास) नामक उसकी तीन कन्याओंने उससे मानसिक विकार (का कारण) पूछा। उसने उन पुत्रों व कन्याओंसे यह वचन कहा:—॥ ३ ॥

असौ मुनिर्निश्चयवर्म बिभ्रत्सत्त्वायुधं बुद्धिशरं विकृष्य।
जिगीषुरास्ते विषयान्मदीयान्तस्मादयं मे मनसो विषादः ॥४॥

"निश्चयरूप कवच धारण कर, बुद्धिरूप तीरवाला सत्त्वरूप अस्त्र (=धनुष) खींचकर, वह मुनि मेरा राज्य जीतना चाहता है; इसलिए मेरा यह मानसिक विषाद है ॥ ४ ॥

यदि ह्यसौ मामभिभूय याति लोकाय चाख्यात्यपवर्गमार्गम्।
शून्यस्ततोऽयं विषयो ममाद्य वृत्ताच्च्युतस्येव विदेहभर्तुः ॥५॥

यदि वह मुझे जीत जाता है और जगत्को अपवर्गका मार्ग बताता है, तो मेरा यह राज्य आज उसी प्रकार सूना हो जायगा जिस प्रकार सदाचारसे

च्युत होनेपर विदेह-राज (= कराल जनक या निमि विदेह) का राज्य (सूना हो गया था) ॥५॥

तद्यावदेवैष न लब्धचक्षुर्मद्गोचरे तिष्ठति यावदेव।
यास्यामि तावद्व्रतमस्य भेत्तुं सेतुं नदीवेग इवातिवृद्धः ॥६॥

इसलिए जबतक यह ज्ञान-चक्षु नहीं प्राप्त करता है: जबतक मेरे ही क्षेत्र-में रहता है, तबतक इसका व्रत भङ्ग करनेके लिए जाऊँगा जैसे नदी का अत्यन्त बढ़ा हुआ वेग पुलको तोड़ता है ॥६॥

ततो धनुः पुष्पमयं गृहीत्वा शरान् जगन्मोहकरांश्च पञ्च।
सोऽश्वत्थमूलं ससुतोऽभ्यगच्छदस्वास्थ्यकारी मनसः प्रजानाम् ॥७॥

तब फूलोंका धनुष तथा जगत्को मूढ़ करनेवाले पाँच तीर लेकर, प्रजाओंके मनको अस्वस्थ करनेवाला वह मार अपनी संतानोंके साथ अश्वत्थ वृक्षके नीचे गया ॥७॥

अथ प्रशान्तं मुनिमासनस्थं पारं तितीर्षुं भवसागरस्य।
विषज्य सव्यं करमायुधाग्रे क्रीडन् शरेणेदमुवाच मारः ॥८॥

तब अस्त्रके अग्रभागपर बाँया हाथ रखकर, तीरसे खेलते हुए मारने आसनपर स्थित प्रशान्त मुनिसे, जो भव-सागरके पारतक तैरनेको इच्छुक था, यह कहा:—॥८॥

उत्तिष्ठ भोः क्षत्रिय मृत्युभीत चर स्वधर्मं त्यज मोक्षधर्मम्।
बाणैश्च यज्ञैश्च विनीय लोकं लोकात्पदं प्राप्नुहि वासवस्य ॥९॥

"ऐ मौतसे डरनेवाले क्षत्रिय, उठो, स्वधर्मका आचरण करो, मोक्ष-धर्मका त्याग करो। बाणों व यज्ञोंसे संसारको जीतो और संसारसे इन्द्रका पद प्राप्त करो ॥९॥

पन्था हि निर्यातुमयं यशस्यो यो वाहितः पूर्वतमैर्नरेन्द्रैः।
जातस्य राजर्षिकुले विशाले भैक्षाकमश्लाघ्यमिदं प्रपत्तुम् ॥१०॥

(संसार से) निकलने का मार्ग यही है, यश देनेवाला मार्ग है, जिसपर पूर्वके राजा लोग चले थे। जो विशाल राजर्षि-कुलमें उत्पन्न हुआ है, उसके लिए इस भिक्षा-वृत्ति का अवलम्बन करना श्लाघ्य नहीं ॥१०॥

अथाद्य नोत्तिष्ठसि निश्चितात्मन् भव स्थिरो मा विमुचः प्रतिज्ञाम्।
मयोद्यतो ह्येष शरः स एव यः शूर्पके मीनरिपौ विमुक्तः ॥११॥

या यदि, हे स्थिरात्मन्, आज नहीं उठते हो, तो स्थिर हो जाओ, प्रतिज्ञा मत छोड़ो। मैंने यह वही तीर उठाया है, जो मछलियोंके शत्रु (= मछुए) शूर्पकपर छोड़ा गया था ॥११॥

स्पृष्टः स चानेन कथंचिदैडः सोमस्य नप्ताप्यभवद्विचित्तः।
स चाभवच्छन्तनुरस्वतन्त्रः क्षीणे युगे किं बत दुर्बलोऽन्यः ॥१२॥

इसके स्पर्शमात्रसे चन्द्रमाके नाती ऐडका भी चित्त विचलित हो गया और वह शन्तनु अपने वशमें नहीं रहा, फिर (इस) क्षीण युगमें दूसरे दुर्बलका क्या कहना ? ॥१२॥

तत्क्षिप्रमुत्तिष्ठ लभस्व संज्ञां बाणो ह्ययं तिष्ठति लेलिहानः।
प्रियाविधेयेषु रतिप्रियेषु यं चक्रवाकेष्विव नोत्सृजामि ॥१३॥

इसलिए शीघ्र उठो, होश सँभालो ; क्योंकि बार-बार विनाश करनेवाला वह बाण तैयार है। इसे मैं उनपर नहीं छोड़ता जो चक्रवाकोंके समान अपनी प्रियाओंके अनुकूल हैं और रति-प्रिय हैं ॥१३॥

इत्येवमुक्तोऽपि यदा निरास्थो नैवासनं शाक्यमुनिर्बिभेद।
शरं ततोऽस्मै विससर्ज मारः कन्याश्च कृत्वा पुरतः सुतांश्च ॥१४॥

इस प्रकार कहे जानेपर भी जब शाक्य-मुनिने न ध्यान दिया और न आसन तोड़ा, तब अपनी कन्याओं और पुत्रोंको आगे कर मारने उसके ऊपर तीर छोड़ा ॥ १४ ॥

तस्मिंस्तु बाणेऽपि स विप्रमुक्ते चकार नास्थां न धृतेश्चचाल।
दृष्ट्वा तथैनं विषसाद मारश्चिन्तापरीतश्च शनैर्जगाद ॥१५॥

किंतु उस बाणके छोड़े जानेपर भी उसने न ध्यान दिया और न वह धैर्यसे ही विचलित हुआ। उस प्रकार उसे देखकर, मारको विषाद हुआ और चिन्तित होकर उसने धीरे-धीरे कहा :—॥१५॥

शैलेन्द्रपुत्रीं प्रति येन विद्धो देवोऽपि शम्भुश्चलितो बभूव।
न चिन्तयत्येष तमेव बाणं किं स्यादचित्तो न शरः स एषः ॥१६॥

११— शूर्पकके लिए देखिए—सौ० आठ ४४, और दस ५३।

"जिससे विद्ध होकर महादेव भी शैलेन्द्र-पुत्री (पार्वती) के प्रति चलायमान हुआ, उसी बाणकी यह चिन्ता नहीं कर रहा है। क्या इसे चित्त ही नहीं है या यह वह तीर ही नहीं है? ॥१६॥

तस्मादयं नार्हति पुष्पबाणं न हर्षणं नापि रतेर्नियोगम्।
अर्हत्ययं भूतगणैरसौम्यैः संत्रासनातर्जनताडनानि ॥१७॥

इसलिए यह (मुनि) पुष्प-बाण, प्रसन्न करने, या रति-प्रयोगके योग्य नहीं। यह असौम्य भूतों द्वारा डराये, धमकाये और पीटे जाने योग्य है"॥१७॥

सस्मार मारश्च ततः स्वसैन्यं विघ्नं शमे शाक्यमुनेश्चिकीर्षन्।
नानाश्रयाश्चानुचराः परीयुः शूलद्रुमप्रासगदासिहस्ताः ॥१८॥

तब शाक्य-मुनिकी शान्तिमें विघ्न करनेकी इच्छासे मारने अपनी सेनाका स्मरण किया और विविध रूपोंमें अनुचरगण उसके चारों ओर आ गये; उनके हाथोंमें त्रिशूल, वृक्ष, भाले, गदाएँ और तलवारें थीं ॥१८॥

वराहमीनाश्वखरोष्ट्रवक्त्रा व्याघ्रर्क्षसिंहद्विरदाननाश्च।
एकेक्षणा नैकमुखास्त्रिशीर्षा लम्बोदराश्चैव पृषोदराश्च ॥१९॥

सूअर, मछली, घोड़े, गधे, ऊँट, बाघ, रीछ, सिंह और हाथीके-से उनके मुख थे। वे एक आँखवाले थे, उनके अनेक मुख थे, तीन तीन शिर थे, उदर लम्बे थे, पेटोंपर धब्बे थे ॥१९॥

अजानुसक्था घटजानवश्च दंष्ट्रायुधाश्चैव नखायुधाश्च।
करंकवक्त्रा बहुमूर्तयश्च भग्नार्धवक्त्राश्च महामुखाश्च ॥२०॥

उनके घुटने व जाँघें नहीं थीं, या घड़ोंके समान घुटने थे, दाँत ही उनके अस्त्र थे, नख ही हथियार थे, मस्तक-खप्पर ही मुँह थे, अनेक शरीर थे, मुखों के आधे भाग भग्न थे, या बड़े-बड़े मुख थे ॥२०॥

भस्मारुणा लोहितबिन्दुचित्राः खट्वाङ्गहस्ता हरिधूम्रकेशाः।
लम्बस्रजो वारणलम्बकर्णाश्चर्माम्बराश्चैव निरम्बराश्च ॥२१॥

वे भस्मसे रंगे थे, लाल बिन्दुओंसे रंग-बिरंगे थे, उनके हाथोंमें खट्वाङ्ग (= खाटके अंग या नर-पञ्जर) थे, केश वानरके समान धूम्रवर्णके थे, लम्बी (मुण्ड-) मालाएँ थीं, हाथीके समान लम्बे कान थे, वे चमड़ेके कपड़े पहने हुए थे या वस्त्र-हीन थे ॥२१॥

श्वेतार्धवक्त्रा हरितार्धकायास्ताम्राश्च धूम्रा हरयोऽसिताश्च।
व्यालोत्तरासङ्गभुजास्तथैव प्रघुष्टघण्टाकुलमेखलाश्च ॥२२॥

उनके आधे मुँह सफेद थे, आधे शरीर हरे थे, वे ताम्र-वर्ण व धूम्र-वर्ण थे, पीले व काले थे, उनकी भुजाएँ साँपोंसे ढकी थीं, बजती घण्टियोंसे उनके कटि-सूत्र आकुल थे ॥ २२ ॥

तालप्रमाणाश्च गृहीतशूला दंष्ट्राकरालाश्च शिशुप्रमाणाः।
उरभ्रवक्त्राश्च विहंगमाक्षा मार्जारवक्त्राश्च मनुष्यकायाः ॥२३॥

वे तालवृक्षके समान लम्बे थे और शूल पकड़े हुए थे, बच्चोंके आकारके थे और दाढ़ोंसे भयानक लगते थे। भेड़ोंके-से उनके मुँह थे और चिड़ियों की-सी आँख थीं, बिलाड़ोंके-से मुँह थे और मनुष्यके-से शरीर थे ॥ २३ ॥

प्रकीर्णकेशाः शिखिनोऽर्धमुण्डा रक्ताम्बरा व्याकुलवेष्टनाश्च।
प्रहृष्टवक्त्रा भृकुटीमुखाश्च तेजोहराश्चैव मनोहराश्च ॥२४॥

उनके बाल बिखरे हुए थे, वे शिखा-धारी थे, अधमुण्डे थे, लाल वस्त्र पहने थे, उनकी पगड़ियाँ उलटी-पुलटी थीं। उनके मुख उत्साहित थे, मुखों पर भृकुटी थी, वे तेज हरण करनेवाले थे और मन हरण करनेवाले थे ॥२४॥

केचिद्व्रजन्तो भृशमाववल्गुरन्योऽन्यमापुप्लुविरे तथान्ये।
चिक्रीडुराकाशगताश्च केचित्केचिच्च चेरुस्तरुमस्तकेषु ॥२५॥

कोई-कोई जाते हुए जोरों से कूदते थे और दूसरे एक-दूसरेपर उछलते थे। कोई आकाशमें जाकर खेलते थे और कोई वृक्ष-शिखरोंपर चलते थे ॥ २५ ॥

ननर्त कश्चिद्भ्रमयंस्त्रिशूलं कश्चिद्विपुस्फूर्ज गदां विकर्षन्।
हर्षेण कश्चिद्वृषवन्ननर्द कश्चित्प्रजज्वाल तनूरुहेभ्यः ॥२६॥

कोई त्रिशूल घुमाता हुआ नाचता था, कोई गदा खींचता हुआ गरजता था। कोई हर्षसे साँड़के समान गरजा और किसीके रोमसे ज्वाला निकली॥२६॥

एवंविधा भूतगणाः समन्तात्तद्बोधिमूलं परिवार्य तस्थुः।
जिघृक्षवश्चैव जिघांसवश्च भर्तुर्नियोगं परिपालयन्तः ॥२७॥

इस प्रकारके भूत उस बोधि-वृक्षके मूलको चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये। वे पकड़ना चाहते थे और हत्या करना चाहते थे, स्वामीकी आज्ञाकी प्रतीक्षा कर रहे थे ॥२७॥

तं प्रेक्ष्य मारस्य च पूर्वरात्रे शाक्यर्षभस्यैव च युद्धकालम् ।
न द्यौश्चकाशे पृथिवी चकम्पे प्रजज्वलुश्चैव दिशः सशब्दाः ॥२८॥

रात्रिके आरम्भमें मार व शाक्य-ऋषभका युद्ध-काल देखकर, आकाश चमका नहीं, पृथ्वी काँपी, एवं शब्द करती हुई दिशाएँ प्रज्वलित हुई ॥२८॥

विष्वग्ववौ वायुरुदीर्णवेगस्तारा न रेजुर्न बभौ शशाङ्कः ।
तमश्च भूयो वितताान रात्रिः सर्वे च संचुक्षुभिरे समुद्राः ॥२९॥

खुले वेगसे हवा चारों ओर बही, न तारे शोभित हुए और न चन्द्रमा। रात्रिने और भी अन्धकार फैलाया और सब समुद्रोंमें क्षोभ हुआ ॥२९॥

महीभृतो धर्मपराश्च नागा महामुनेर्विघ्नममृष्यमाणाः
मारं प्रति क्रोधविवृत्तनेत्रा निःशश्वसुश्चैव जजृम्भिरे च ॥३०॥

और पृथ्वीको धारण करनेवाले धर्मपरायण नागोंने महामुनिका विघ्न नहीं सहा; मारके प्रति क्रोधसे आँखें घुमाकर उन्होंने फुफकार किया और जँभाई ली ॥ ३० ॥

शुद्धाधिवासा विबुधर्षयस्तु सद्धर्मसिद्ध्यर्थमभिप्रवृत्ताः ।
मारेऽनुकम्पां मनसा प्रचक्रुर्विरागभावात्तु न रोषमीयुः ॥३१॥

किन्तु शुद्धाधिवास देवोंने, जो सद्धर्मकी सिद्धिमें लगे हुए थे, मारके ऊपर मनमें अनुकम्पा की, राग-रहित होनेके कारण उन्होंने क्रोध नहीं किया ॥३१॥

तद्बोधिमूलं समवेक्ष्य कीर्णं हिंसात्मना मारबलेन तेन ।
धर्मात्मभिर्लोकविमोक्षकामैर्बभूव हाहाकृतमन्तरीक्षे ॥३२॥

उस हिंसात्मक मार बलसे उस बोधि-वृक्षके मूलको भरा हुआ देखकर संसारका मोक्ष चाहनेवाले धर्मात्माओंने अन्तरिक्षमें हाहाकार किया ॥३२॥

उपप्लवं धर्मविधेस्तु तस्य दृष्ट्वा स्थितं मारबलं महर्षिः ।
न चुक्षुभे नापि ययौ विकारं मध्ये गवां सिंह इवोपविष्टः ॥३३॥

वहाँपर स्थित मार-बल उस धर्म-विधिमें बाधक है, यह देखकर गौओंके बीच बैठे हुए सिंहके समान, महर्षिको न क्षोभ हुआ, न विकार(=भय)॥३३॥

मारस्ततो भूतचमूमुदीर्णामाज्ञापयामास भयाय तस्य ।
स्वैः स्वैः प्रभावैरथ सास्य सेना तद्धैर्यभेदाय मतिं चकार ॥३४॥

तब खुली हुई भूत-सेनाको मारने उसे डरानेकी आज्ञा दी और उसकी उस

सेनाने अपने अपने प्रभावोंसे उसका धैर्य भङ्ग करनेका निश्चय किया ॥ ३४ ॥

केचिच्चलन्नैकविलम्बिजिह्वास्तीक्ष्णाग्रदंष्ट्रा हरिमण्डलाक्षाः।
विदारितास्याः स्थिरशंकुकर्णाः संत्रासयन्तः किल नाम तस्थुः ॥३५॥

कुछ (भूत) उसे डरानेकी कोशिश करते हुए खड़े रहे; उनकी लटकती हुई अनेक जीभें हिल रही थीं, दाँतोंके अग्रभाग तेज थे, आँखें सूर्य-मण्डलके समान थीं, मुँह खुले हुए थे और कान बर्छीके समान कठोर थे ॥३५॥

तेभ्यः स्थितेभ्यः स तथाविधेभ्यः रूपेण भावेन च दारुणेभ्यः।
न विव्यथे नोद्विविजे महर्षिः क्रीडत्सुबालेभ्य इवोद्धतेभ्यः ॥३६॥

खड़े हुए वैसे उन (भूतों)से, जो रूप व भावसे दारुण थे, महर्षिको न व्यथा हुई न भय, जैसे खेलमें उत्तेजित बालकोंसे (न व्यथा होती है, न भय) ॥३६॥

कश्चित्ततो रोषविवृत्तदृष्टिस्तस्मै गदामुद्यमयांचकार।
तस्तम्भ बाहुः सगदस्ततोऽस्य पुरंदरस्येव पुरा सवज्रः ॥३७॥

तब किसीने रोषसे आँखें घुमाकर उसके ऊपर गदा उठाई; किन्तु गदा-सहित उसकी बाहु वैसे ही स्तम्भित हो गई, जैसे प्राचीन समयमें इन्द्रकी वज्र-युक्त बाहु ॥ ३७ ॥

केचित्समुद्यम्य शिलास्तरूंश्च विषेहिरे नैव मुनौ विमोक्तुम्।
पेतुः सवृक्षाः सशिलास्तथैव वज्रावभग्ना इव विन्ध्यपादाः ॥३८॥

कतिपयोंने शिलाएँ व वृक्ष उठाये, किन्तु मुनिपर छोड़ न सके। वृक्षों व शिलाओंके साथ वे वैसे ही गिरे जैसे वज्रसे भग्न हुए विन्ध्याचलके पाद ॥३८॥

कैश्चित्समुत्पत्य नभो विमुक्ताः शिलाश्च वृक्षाश्च परश्वधाश्च।
तस्थुर्नभस्येव न चावपेतुः संध्याभ्रपादा इव नैकवर्णाः ॥३९॥

कतिपयोंने आकाशमें उड़कर जो शिलाएँ, वृक्ष व कुठार छोड़े, वे गिरे नहीं, आकाशमें ही रहे, जैसे संध्याकालीन बादलोंके रंग-बिरंगे टुकड़े हों ॥३९॥

चिक्षेप तस्योपरि दीप्तमन्यः कडङ्गरं पर्वतशृङ्गमात्रम्।
यन्मुक्तमात्रं गगनस्थमेव तस्यानुभावाच्छतधा पफाल ॥४०॥

दूसरेने उसके ऊपर पहाड़की चोटीके बराबर जलता कुंदा फेंका; जैसे ही यह फेंका गया कि उस (मुनि) के प्रभावसे आकाशमें ही इसके सौ टुकड़े हो गये ॥ ४० ॥

कश्चिज्ज्वलन्नर्क इवोदितः खादङ्गारवर्षं महदुत्ससर्ज ।
चूर्णानि चामीकरकन्दराणां कल्पात्यये मेरुरिव प्रदीप्तः ॥४१॥

उदय होते सूर्यके समान जलते हुए किसीने आकाशसे अङ्गारोंकी झड़ी लगा दी, जैसे कल्पके अन्तमें जलता हुआ मेरु पर्वत सुवर्ण-कन्दराओंके चूर्ण बरसा रहा हो ॥४१॥

तद्बोधिमूले प्रविकीर्यमाणमंगारवर्षं तु सविस्फुलिंगम् ।
मैत्रीविहारादृषिसत्तमस्य बभूव रक्तोत्पलपत्रवर्षः ॥४२॥

उस बोधि-वृक्षके मूलमें स्फुलिङ्गोंके साथ जो अङ्गार-वृष्टि की जा रही थी, वह ऋषि श्रेष्ठ के मैत्रीमें विहार करनेके कारण (= सबके प्रति मैत्री-भाव रखनेके कारण) लाल कमलोंके पत्तोंकी वृष्टि (में परिणत) हो गई ॥४२॥

शरीरचित्तव्यसनातपैस्तैरेवंविधैस्तैश्च निपात्यमानैः ।
नैवासनाच्छाक्यमुनिश्चचाल स्वनिश्चयं बन्धुमिवोपगुह्य ॥४३॥

यद्यपि शरीर व मनके लिए ऐसी विपत्तियाँ व पीड़ाएँ दी जा रही थीं, तो भी अपने निश्चयका बन्धुके समान आलिङ्गन कर शाक्यमुनि आसनसे विचलित नहीं हुआ ॥४३॥

अथापरे निर्जिगिलुर्मुखेभ्यः सर्पान्विजीर्णेभ्य इव द्रुमेभ्यः ।
ते मन्त्रबद्धा इव तत्समीपे न शश्वसुर्नोत्ससृपुर्न चेलुः ॥४४॥

तब दूसरोंने अपने मुखोंसे, जैसे जीर्ण वृक्षोंसे, साँप उगले । वे (सर्प) मानो मन्त्र-बद्ध होकर उसके समीप न फुफकारे, न ऊपर उठे और न चले ॥ ४४ ॥

भूत्वापरे वारिधरा बृहन्तः सविद्युतः साशनिचण्डघोषाः ।
तस्मिन्द्रुमे तत्यजुरश्मवर्षं तत्पुष्पवर्षं रुचिरं बभूव ॥४५॥

वज्रके प्रचण्ड घोष तथा बिजलीसे युक्त विशाल बादल बनकर दूसरोंने उस वृक्षपर अश्म-वृष्टि की, जो रुचिर पुष्प-वृष्टि (में परिणत) हो गई ॥४५॥

चापेऽथ बाणो निहितोऽपरेण जज्वाल तत्रैव न निष्पपात ।
अनीश्वरस्यात्मनि धूयमानो दुर्मर्षणस्येव नरस्य मन्युः ॥४६॥

दूसरेने धनुषपर बाण रखा, जो वहीं प्रज्वलित हुआ, छूटा नहीं, जैसे ऐश्वर्य-रहित क्रोधी मनुष्यका क्रोध अपनेमें ही व्रीजित होता है, वहीं धधकता है, निकलता नहीं है ॥४६॥

पञ्चेषवोऽन्येन तु विप्रमुक्तास्तस्थुर्नभस्येव मुनौ न पेतुः।
संसारभीरोर्विषयप्रवृत्तौ पञ्चेन्द्रियाणीव परीक्षकस्य ॥४७॥

दूसरेके द्वारा छोड़े गये पाँच बाण आकाशमें ही रहे, मुनिपर गिरे नहीं, जैसे विषय उपस्थित होनेपर संसार (= जन्म-चक्र) से डरनेवाले पारखी की पाँचों इन्द्रियाँ स्थिर रहती हैं, पतित नहीं होती हैं ॥४७॥

जिघांसयान्यः प्रससार रुष्टो गदां गृहीत्वाभिमुखो महर्षेः।
सोऽप्राप्तकामो विवशः पपात दोषेष्विवानर्थकरेषु लोकः ॥४८॥

दूसरा हत्या करनेकी इच्छासे रुष्ट हो गदा लेकर महर्षिके सामने दौड़ पड़ा; वह विफल-मनोरथ विवश होकर गिर पड़ा, जैसे (विफल मनोरथ) जगत् (विवश होकर) अनर्थकारी दोषोंमें गिरता है ॥४८॥

स्त्री मेघकाली तु कपालहस्ता कर्तुं महर्षेः किल चित्तमोहम्।
बभ्राम तत्रानियतं न तस्थौ चलात्मनो बुद्धिरिवागमेषु ॥४९॥

मेघके समान काली स्त्री हाथमें कपाल लेकर महर्षिका चित्त-मोह करनेके लिए वहाँ अनियंत्रित होकर घूमी, खड़ी नहीं रही, जैसे चञ्चल मनवालेकी बुद्धि (विविध) शास्त्रोंमें अनिश्चित होकर भटकती है, स्थिर नहीं होती है ॥४९॥

कश्चित्प्रदीप्तं प्रणिधाय चक्षुर्नेत्राग्निनाशीविषवद्दिधक्षुः।
तत्रैव नासीनमृषिं ददर्श कामात्मकः श्रेय इवोपदिष्टम् ॥५०॥

किसीने जलती आँखें (उसकी ओर) स्थिर करके आँखोंकी अग्निसे साँपके समान उसे जलाना चाहा; किन्तु वहीं पर बैठे हुए ऋषिको देखा नहीं, जैसे कामात्मा पुरुष बताये हुए कल्याणको नहीं देखता है ॥५०॥

गुर्वीं शिलामुद्यमयंस्तथान्यः शश्राम मोघं विहतप्रयत्नः।
निःश्रेयसं ज्ञानसमाधिगम्यं कायक्लमैर्धर्ममिवाप्तुकामः ॥५१॥

भारी शिलाको उठाते हुए दूसरेने व्यर्थ श्रम किया, उसका प्रयत्न नष्ट हुआ, जैसे ज्ञान व समाधिसे प्राप्य धर्मको शारीरिक क्लेशोंसे पानेकी इच्छा करनेवाला व्यर्थ श्रम करता है, उसका प्रयत्न नष्ट होता है ॥५१॥

तरक्षुसिंहाकृतयस्तथान्ये प्रणेदुरुच्चैर्महतः प्रणादान्।
सत्त्वानि यैः संचुकुचुः समन्ताद्वज्राहता द्यौः फलतीति मत्वा ॥५२॥

तेंदुए और सिंहकी आकृतिवाले दूसरोंने जोरोंसे महा-गर्जन किये, जिनसे

जीव (डरके मारे) चारों-ओर सिकुड़ गये, यह समझकर कि वज्रसे आहत होकर आकाश फट रहा है ॥५२॥

मृगा गजाश्चार्तरवान् सृजन्तो विदुद्रुवुश्चैव निलिल्यिरे च।
रात्रौ च तस्यामहनीव दिग्भ्यः खगा रुवन्तः परिपेतुरार्ताः ॥५३॥

मृग और हाथी आर्त-नाद करते हुए दौड़कर छिप गये और पक्षीगण आर्त होकर उस रातको दिनकी तरह बोलते हुए चारों ओर घूमे ॥५३॥

तेषां प्रणादैस्तु तथाविधैस्तैः सर्वेषु भूतेष्वपि कम्पितेषु।
मुनिर्न तत्रास न संचुकोच रवैर्गरुत्मानिव वायसानाम् ॥५४॥

किन्तु उनके वैसे उन शब्दोंसे सब जीवोंके काँपनेपर भी मुनि न डरा, न सिकुड़ा, जैसे कौओंके शब्दोंसे गरुड़ न डरता है, न सिकुड़ता है ॥५४॥

भयावहेभ्यः परिषद्गणेभ्यो यथा यथा नैव मुनिर्बिभाय।
तथा तथा धर्मभृतां सपत्नः शोकाच्च रोषाच्च ससाद मारः ॥५५॥

भय-प्रद परिषद्-गणोंसे जैसे-जैसे मुनि नहीं डरा, वैसे-वैसे धर्म-पालकोंके शत्रु मारको शोक और रोषसे ग्लानि हुई ॥५५॥

भूतं ततः किंचिददृश्यरूपं विशिष्टभूतं गगनस्थमेव।
दृष्ट्वर्षये द्रुग्धमवैररुष्टं मारं बभाषे महता स्वरेण ॥५६॥

तब अदृश्यरूप किसी विशिष्ट जीवने आकाशसे ही ऋषिके प्रति द्रोही व विना वैरके ही रुष्ट हुए मारको देखकर गम्भीर स्वरमें कहा—॥५६॥

मोघं श्रमं नार्हसि मार कर्तुं हिंस्रात्मतामुत्सृज गच्छ शर्म।
नैष त्वया कम्पयितुं हि शक्यो महागिरिर्मेरुरिवानिलेन ॥५७॥

"हे मार तुम्हें व्यर्थ श्रम नहीं करना चाहिए, हिंसा-भाव छोड़ो और शान्त हो जाओ; क्योंकि तुम इसे कँपा नहीं सकते, जैसे हवासे महापर्वत मेरु नहीं कँपाया जा सकता ॥५७॥

अप्युष्णभावं ज्वलनः प्रजह्यादापो द्रवत्वं पृथिवी स्थिरत्वम्।
अनेककल्पाचितपुण्यकर्मा न त्वेव जह्याद्व्यवसायमेषः ॥५८॥

अग्नि उष्णता छोड़ दे, पानी द्रवत्व छोड़ दे, पृथिवी स्थिरता छोड़ दे; किंतु यह, जिसने अनेक कल्पोंमें पुण्य एकत्र किये हैं, अपना निश्चय न छोड़ेगा ॥५८॥

यो निश्चयो ह्यस्य पराक्रमश्च तेजश्च यच्चा च दया प्रजासु।
अप्राप्य नोत्थास्यति तत्त्वमेष तमांस्यहत्त्वेव सहस्ररश्मिः ॥५९॥

क्योंकि इसका जो निश्चय है, जो पराक्रम है, जो तेज है और जीवोंके प्रति जो दया है, (उससे तो यही जान पड़ता है कि) तत्त्व को प्राप्त किये विना यह नहीं उठेगा जैसे अन्धकारको नष्ट किये विना सूर्य नहीं उगता है ॥५९॥

काष्ठं हि मथ्नन् लभते हुताशं भूमिं खनन्विन्दति चापि तोयम्।
निर्बन्धिनः किंचन नास्त्यसाध्यं न्यायेन युक्तं च कृतं च सर्वम् ॥६०॥

काठको रगड़नेवाला (आदमी) अग्नि प्राप्त करता है और पृथिवीको खोदनेवाला जल प्राप्त करता है। हठी (= आग्रही) के लिए कुछ भी असाध्य नहीं है। उचित तरीकेके साथ करनेपर सब कुछ किया जा सकता है ॥६०॥

तल्लोकमार्तं करुणायमानो रोगेषु रागादिषु वर्तमानम्।
महाभिषक् नार्हति विघ्नमेष ज्ञानौषधार्थं परिखिद्यमानः ॥६१॥

राग आदि रोगोंमें पड़े हुए आर्त जगत्‌के ऊपर करुणा करनेवाला महावैद्य ज्ञानरूप औषधके लिए कष्ट उठा रहा है, इसलिए यह विघ्नके योग्य नहीं है ॥ ६१ ॥

हृते च लोके बहुभिः कुमार्गैः सन्मार्गमन्विच्छति यः श्रमेण।
स दैशिकः क्षोभयितुं न युक्तं सुदेशिकः सार्थ इव प्रनष्टे ॥६२॥

अनेक कुमार्गों द्वारा संसारका अपहरण होनेपर जो श्रमपूर्वक सन्मार्गको खोज रहा है उस उपदेशक (=पथ-प्रदर्शक) को क्षुब्ध करना ठीक नहीं ॥६२॥

सत्त्वेषु नष्टेषु महान्धकारे ज्ञानप्रदीपः क्रियमाण एषः।
आर्यस्य निर्वापयितुं न साधु प्रज्वाल्यमानस्तमसीव दीपः ॥६३॥

महा-अन्धकारमें जीवोंके भटकनेपर यह ज्ञान-प्रदीप हो रहा है; अँधेरेमें जलाये जाते दीपके समान उसे निर्वापित करना (=शान्त करना, मार डालना, बुझाना) आर्यके लिए ठीक नहीं ॥ ६३ ॥

दृष्ट्वा च संसारमये महौघे मग्नं जगत्पारमविन्दमानम्।
यश्चेदमुत्तारयितुं प्रवृत्तः कश्चिन्तयेत्तस्य तु पापमार्यः ॥६४॥

जन्म-चक्ररूपी महाबाढ़में डूबा हुआ जगत् पार नहीं पा रहा है, यह देखकर इसे उबारनेमें जो लगा हुआ है उसके प्रति पाप-कर्मकी चिन्ता कौन आर्य पुरुष करेगा ! ॥ ६४ ॥

क्षमाशिफो धैर्यविगाढमूलश्चारित्रपुष्पः स्मृतिबुद्धिशाखः ।
ज्ञानद्रुमो धर्मफलप्रदाता नोत्पाटनं ह्यर्हति वर्धमानः ॥६५॥

यह बढ़ता हुआ ज्ञान-वृक्ष—क्षमा ही जिसकी जटा है, धैर्य ही जिसका गहरा मूल है, चरित्र ही जिसके फूल हैं, स्मृति व बुद्धि ही जिसकी शाखाएँ हैं और जो धर्मरूपी फल देता है—काटा जाने योग्य नहीं ॥६५॥

बद्धां दृढैश्चेतसि मोहपाशैर्यस्य प्रजां मोक्षयितुं मनीषा ।
तस्मिन् जिघांसा तव नोपपन्ना श्रान्ते जगद्बन्धनमोक्षहेतोः ॥६६॥

मनमें मोहके दृढ़ बन्धनोंसे बँधे हुए जीवोंको यह मुक्त करना चाहता है; जगत्‌का बन्धन खोलनेके लिए श्रम करनेवाले उस मुनिको मार डालनेकी तुम्हारी इच्छा उचित नहीं ॥६६॥

बोधाय कर्माणि हि यान्यनेन कृतानि तेषां नियतोऽद्य कालः ।
स्थाने तथास्मिन्नुपविष्ट एष यथैव पूर्वे मुनयस्तथैव ॥६७॥

इसने बुद्धत्वके लिए जो कर्म किये, उनके पकनेका आज नियत समय है। इस स्थानपर यह उसी प्रकार बैठा हुआ है, जिस प्रकार पूर्वके मुनि बैठे थे ॥६७॥

एषा हि नाभिर्वसुधातलस्य कृत्स्नेन युक्ता परमेण धाम्ना ।
भूमेरतोऽन्योऽस्ति हि न प्रदेशो वेगं समाधेर्विषहेत योऽस्य ॥६८॥

यह भूतल की नाभि है जो समस्त उत्तम प्रभावसे युक्त है; क्योंकि इस भूमिके अतिरिक्त दूसरा स्थान नहीं, जो इसकी समाधिका वेग सह सके ॥६८॥

तन्मा कृथाः शोकमुपेहि शान्तिं मा भून्महिम्ना तव मार मानः ।
विश्रम्भितुं न क्षममध्रुवा श्रीश्चले पदे किं मदमभ्युपैषि ॥६९॥

इसलिए शोक मत करो, शान्त हो जाओ; हे मार, अपनी महिमाका अभिमान मत करो। चपल श्रीपर विश्वास करना उचित नहीं; अपनी स्थिति अस्थिर होनेपर क्यों मद कर रहे हो ?" ॥६९॥

ततः स संश्रुत्य च तस्य तद्वचो महामुनेः प्रेक्ष्य च निष्प्रकम्पताम् ।
जगाम मारो विमनो हतोद्यमः शरैर्जगच्चेतसि यैर्विहन्यते ॥७०॥

तब उसकी यह बात सुनकर और महामुनिकी स्थिरता देखकर विफल-प्रयत्न

६९—"विस्मय" के स्थान में "किं मद" रक्खा गया है।

मार, उदास होकर अपने उन तीरोंके साथ, जिनसे लोगोंका चित्त घायल किया जाता है, चला गया ॥७०॥

गतप्रहर्षा विफलीकृतश्रमा प्रविद्धपाषाणकडङ्गरद्रुमा।
दिशः प्रदुद्राव ततोऽस्य सा चमूर्हताश्रयेव द्विषता द्विषच्चमूः ॥७१॥

तब उसकी वह सेना, जिसका आनन्द दूर हो गया था, जिसका श्रम विफल कर दिया गया था, जिसके पत्थर कुन्दे और वृक्ष बिखरे पड़े थे, चारों ओर वैसे ही भाग गई जैसे शत्रु-द्वारा नायकके मारे जानेपर विपक्षी सेना (भाग जाती है) ॥७१॥

द्रवति सपरिपक्षे निर्जिते पुष्पकेतौ
जयति जिततमस्के नीरजस्के महर्षौ।
युवतिरिव सहासा द्यौश्चकाशे सचन्द्रा
सुरभि च जलगर्भं पुष्पवर्षं पपात ॥७२॥

जब अपने पक्षके साथ पराजित होकर, मार भाग गया और जब (अज्ञान-रूपी) अन्धकारको जीतनेवाला निर्मल (= राग-रहित) महर्षि विजयी हुआ, तब चन्द्रयुक्त आकाश हँसती युवतीके समान शोभित हुआ और सुगन्धित जल-पूर्ण पुष्प-वृष्टि हुई ॥७२॥

तथापि पापीयसि निर्जिते गते दिशः प्रसेदुः प्रबभौ निशाकरः।
दिवो निपेतुर्भुवि पुष्पवृष्टयो रराज योषेव विकल्मषा निशा ॥७३॥

इति बुद्धचरिते महाकाव्येऽश्वघोषकृते मारविजयो नाम त्रयोदशः सर्गः।

उस प्रकार वह पापी जब हारकर चला गया, तब दिशाएँ प्रसन्न हुईं, चन्द्रमा शोभित हुआ, आकाशसे पृथ्वीपर पुष्प-वृष्टि हुई और निष्पाप स्त्रीके समान निर्मल रात्रिकी शोभा हुई ॥७३॥

अश्वघोष-कृत बुद्धचरित महाकाव्यका "मारकी पराजय"
नामक त्रयोदश सर्ग समाप्त।

७३—यह श्लोक चीनी अनुवादमें नहीं है। कुछ लोग इसे प्रक्षिप्त बताते हैं। कीथने "संस्कृत साहित्यके इतिहास" में "अश्वघोषकी शैली व भाषा" के अन्तर्गत इसे उद्धृत किया है।

चतुर्दश सर्ग

बुद्धत्व-प्राप्ति

ततो मारबलं जित्वा धैर्येण च शमेन च।
परमार्थं विजिज्ञासुः स दध्यौ ध्यानकोविदः ॥ १ ॥

तब धैर्य और शान्तिसे मारकी सेनाको जीतकर परमार्थ जाननेकी इच्छासे उस ध्यान-पटुने ध्यान किया ॥१॥

सर्वेषु ध्यानविधिषु प्राप्य चैश्वर्यमुत्तमम्।
सस्मार प्रथमे यामे पूर्वजन्मपरंपराम् ॥ २ ॥

और ध्यान-विधियोंपर उत्तम स्वामित्व (= अधिकार) प्राप्त कर प्रथम पहरमें पूर्व-जन्मोंकी परम्पराका स्मरण किया ॥२॥

अमुत्राहमयं नाम च्युतस्तस्मादिहागतः।
इति जन्मसहस्राणि सस्मारानुभवन्निव ॥ ३ ॥

"वहाँ मैं यह था, वहाँ से गिरकर यहाँ आया" इस तरह हजारों जन्मोंको मानो अनुभव करते हुए स्मरण किया ॥३॥

स्मृत्वा जन्म च मृत्युं च तासु तासूपपत्तिषु।
ततः सत्त्वेषु कारुण्यं चकार करुणात्मकः ॥ ४ ॥

तब उन जन्मोंमें उत्पत्ति व मौतका स्मरण कर करुणात्मकने जीवोंपर करुणा की ॥४॥

कृत्वेह स्वजनोत्सर्गं पुनरन्यत्र च क्रियाः।
अत्राणः खलु लोकोऽयं परिभ्रमति चक्रवत् ॥ ५ ॥

यहाँ स्वजनोंको छोड़, अन्यत्र (जन्म लेकर) कर्म करता है; इस तरह अवश्य ही यह संसार रक्षा-रहित है और पहिएके समान घूमता रहता है ॥५॥

इत्येवं स्मरतस्तस्य बभूव नियतात्मनः।
कदलीगर्भनिःसारः संसार इति निश्चयः ॥६॥

इस प्रकार स्मरण करते उस निश्चितात्माको यह निश्चय हुआ—"कदली गर्भ (= केलेके पेड़के भीतरी भाग) के समान संसार असार है" ॥६॥

द्वितीये त्वागते यामे सोऽद्वितीयपराक्रमः ।
दिव्यं लेभे परं चक्षुः सर्वचक्षुष्मतां वरः ॥७॥

दूसरा पहर आनेपर उस अद्वितीय पराक्रमवालेने, जो सब दृष्टिवानोंमें श्रेष्ठ था, परम दिव्य चक्षु पाया ॥ ७ ॥

ततस्तेन स दिव्येन परिशुद्धेन चक्षुषा ।
ददर्श निखिलं लोकमादर्श इव निर्मले ॥८॥

तब उस अत्यन्त शुद्ध दिव्य चक्षुसे उसने समस्त जगत्को इस तरह देखा, जैसे निर्मल दर्पणमें देख रहा हो ॥८॥

सत्त्वानां पश्यतस्तस्य निकृष्टोत्कृष्टकर्मणाम् ।
प्रच्युतिं चोपपत्तिं च ववृधे करुणात्मता ॥९॥

निकृष्ट व उत्कृष्ट कर्मवाले जीवोंका पतन व जन्म देखते हुए उसकी करुणा बढ़ी ॥९॥

इमे दुष्कृतकर्माणः प्राणिनो यान्ति दुर्गतिम् ।
इमेऽन्ये शुभकर्माणः प्रतिष्ठन्ते त्रिविष्टपे ॥१०॥

ये पाप-कर्मवाले प्राणी दुर्गतिको प्राप्त होते हैं, ये दूसरे शुभ-कर्मवाले स्वर्गमें स्थान पाते हैं ॥१०॥

उपपन्नाः प्रतिभये नरके भृशदारुणे ।
अमी दुःखैर्बहुविधैः पीड्यन्ते कृपणं बत ॥११॥

अत्यन्त दारुण व भयावह नरकमें उत्पन्न होकर वे (पापी) अनेक प्रकारके दुःखोंसे पीड़ित होते हैं ॥११॥

पाय्यन्ते कथितं केचिदग्निवर्णमयोरसम् ।
आरोप्यन्ते रुवन्तोऽन्ये निष्टप्तस्तम्भमायसम् ॥१२॥

कुछ लोगोंको पिघले हुए लोहेका पानी, जो आगके रंगका होता है, पिलाया जाता है; चिल्लाते हुए दूसरोंको लोहेके तपे खम्भेपर चढ़ाया जाता है ॥ १२ ॥

पच्यन्ते पिष्टवत्केचिदयस्कुम्भीष्ववाङ्मुखाः ।
दह्यन्ते करुणं केचिद्दीप्तेष्वङ्गारराशिषु ॥१३॥

कोई-कोई लोहेके कड़ाहोंमें औंधे-मुख, पुएके समान, पकाये जाते हैं; कोई-कोई जलते अँगारोंके ढेरपर कष्टपूर्वक जलाये जाते हैं ॥ १३ ॥

केचित्तीक्ष्णैरयोदंष्ट्रैर्भक्ष्यन्ते दारुणैः श्वभिः।
केचिद्धृष्टैरयस्तुण्डैर्वायसैरायसैरिव ॥१४॥

कोई-कोई लोहेके दाँतवाले तीक्ष्ण व दारुण कुत्तों द्वारा भक्षित होते हैं; कोई-कोई लोहेकी ढीठ चोंचों (= चञ्चुओं) द्वारा, मानो लोहेके बने कौओं द्वारा खाये जाते हैं ॥१४॥

केचिद्दाहपरिश्रान्ताः शीतच्छायाभिकाङ्क्षिणः।
असिपत्रवनं नीलं बद्धा इव विशन्त्यमी ॥१५॥

कोई-कोई दाहसे थककर शीतल छायाकी आकांक्षा करते हैं; वे नीले असि पत्र-वनमें (= तलवारोंके वनमें) बन्दीके समान प्रवेश करते हैं ॥ १५ ॥

पाट्यन्ते दारुवत्केचित्कुठारैर्बद्धबाहवः।
दुःखेऽपि न विपच्यन्ते कर्मभिर्धारितासवः ॥१६॥

कुछ, जिनकी भुजाएँ बँधी रहती हैं, कुठारों द्वारा लकड़ीके समान काटे जाते हैं। दुःखमें भी उनका अन्त नहीं होता है; कर्मोंसे उनके प्राण धारण किये जाते हैं ॥१६॥

सुखं स्यादिति यत्कर्म कृतं दुःखनिवृत्तये।
फलं तस्येदमवशैर्दुःखमेवोपभुज्यते ॥१७॥

"सुख होगा" इस आशासे दुःख-निवृत्तिके लिए उन्होंने जो कर्म किया था उसका यह दुःखमय फल ही वे बेचारे भोगते हैं ॥१७॥

सुखार्थमशुभं कृत्वा य एते भृशदुःखिताः।
आस्वादः स किमेतेषां करोति सुखमण्वपि ॥१८॥

सुख पानेके लिए अशुभ (कर्म) करके जो ये अत्यन्त दुःखी हो रहे हैं, क्या (अशुभका) वह आस्वाद थोड़ा-सा भी सुख इन्हें देता है ! ॥१८॥

हसद्भिर्यत्कृतं कर्म कलुषं कलुषात्मभिः।
एतत्परिणते काले क्रोशद्भिरनुभूयते ॥१९॥

पापात्मा हँसते हुए जो पाप-कर्म करते हैं, समय पकनेपर (उसका) यह (फल) वे रोते हुए अनुभव करते हैं ॥१९॥

यद्येवं पापकर्माणः पश्येयुः कर्मणां फलम् ।
वमेयुरुष्णं रुधिरं मर्मस्वभिहता इव ॥२०॥

यदि पाप-कर्म करनेवाले पाप-कर्मोंका ऐसा फल देखें, तो मर्मस्थलमें घायल हुएके समान उष्ण रुधिर वमन करें ॥२०॥

इमेऽन्ये कर्मभिश्चित्रैश्चित्तविस्पन्दसंभवैः ।
तिर्यग्योनौ विचित्रायामुपपन्नास्तपस्विनः ॥२१॥

ये दूसरे बेचारे चित्तकी चञ्चलतासे होनेवाले विविध कर्मोंके कारण पशु-पक्षियोंकी विविध योनिमें उत्पन्न होते हैं, ॥२१॥

मांसत्वग्वालदन्तार्थं वैरादपि मदादपि ।
हन्यन्ते कृपणं यत्र बन्धूनां पश्यतामपि ॥२२॥

जहाँ मांस त्वचा बाल व दाँतके लिए, या वैर व मदसे भी, और बन्धुओंके देखते रहने पर भी, वे दीनतापूर्वक मारे जाते हैं ॥२२॥

अशक्नुवन्तोऽप्यवशाः क्षुत्तर्षश्रमपीडिताः ।
गोऽश्वभूताश्च वाह्यन्ते प्रतोदक्षतमूर्तयः ॥२३॥

और बैल-घोड़े होनेपर, भूख प्यास व थकावटकी पीड़ासे विवश व अशक्त होनेपर भी, वे अंकुशोंसे क्षत-शरीर (घायल) होते हुए हाँके जाते हैं ॥२३॥

वाह्यन्ते गजभूताश्च बलीयांसोऽपि दुर्बलैः ।
अङ्कुशक्लिष्टमूर्धानस्ताडिताः पादपार्ष्णिभिः ॥२४॥

और हाथी होकर, बलवान् होनेपर भी, दुर्बलोंद्वारा अंकुशोंसे मस्तकों पर क्लेश पाते हुए तथा पाँवों व एड़ियोंसे ताड़ित होते हुए हाँके जाते हैं ॥२४॥

सत्स्वप्यन्येषु दुःखेषु दुःखं यत्र विशेषतः ।
परस्परविरोधाच्च पराधीनतयैव च ॥२५॥

अन्य दुःखोंके रहनेपर भी वहाँ (पशु पक्षियोंकी योनिमें) परस्पर विरोध और पराधीनताके कारण विशेष दुःख है ॥२५॥

खस्थाः खस्थैर्हि बाध्यन्ते जलस्था जलचारिभिः ।
स्थलस्थाः स्थलसंस्थैश्च प्राप्य चैवेतरेतरैः ॥२६॥

आकाश-वासी आकाश-वासियों द्वारा, जल-चारी जल-चारियों द्वारा, स्थल-वासी स्थल-वासियों द्वारा परस्पर पीड़ित होते हैं ॥२६॥

उपपन्नास्तथा चेमे मात्सर्याक्रान्तचेतसः।
पितृलोके निरालोके कृपणं भुञ्जते फलम् ॥२७॥

उसी प्रकार ये, जिनके चित्त परस्पर द्वेषसे आक्रान्त रहते हैं, आलोक-रहित प्रेत-लोकमें उत्पन्न होकर दीनतापूर्वक कर्म-फल भोगते हैं ॥२७॥

सूचीछिद्रोपममुखाः पर्वतोपमकुक्षयः।
क्षुत्तर्षजनितैर्दुःखैः पीड्यन्ते दुःखभागिनः ॥२८॥

सूईके छेदके समान मुखवाले और पर्वतके समान पेटवाले ये दुःख-भागी भूख-प्यासके उत्पन्न दुःखोंसे पीड़ित होते हैं ॥२८॥

आशया समतिक्रान्ता धार्यमाणाः स्वकर्मभिः।
लभन्ते न ह्यमी भोक्तुं प्रविद्धान्यशुचीन्यपि ॥२९॥

आशा द्वारा अतिक्रमण किये जानेपर (अर्थात् निराश होनेपर) भी वे अपने कर्मों द्वारा धारण किये जाते हैं; फेंकी गई अपवित्र वस्तु भी खानेको वे नहीं पाते ॥ २९ ॥

पुरुषो यदि जानीत मात्सर्यस्येदृशं फलं।
सर्वथा शिबिवद्दद्याच्छरीरावयवानपि ॥३०॥

पुरुष यदि द्वेषका ऐसा फल जानता, तो सब प्रकारसे शिबिके समान अपने शरीरके अवयव भी दान कर देता ॥३०॥

इमेऽन्ये नरकप्रख्ये गर्भसंज्ञेऽशुचिह्रदे।
उपपन्ना मनुष्येषु दुःखमर्छन्ति जन्तवः ॥३१॥

ये दूसरे जन्तु नरकतुल्य गर्भ-नामक अपवित्र सरोवरमें उत्पन्न होकर मनुष्योंके बीच दुःख पाते हैं ॥ ३१ ॥

* * * *

शुरूमें जन्म-घड़ीमें ही तीक्ष्ण हाथोंसे पकड़े जाते हुए, मानो तेज तलवारोंसे काटे जाते हुए, वे खूब रोते हैं ॥३२॥

स्वजन उन्हें प्यार करते हैं, उनका पालन-पोषण व रक्षा करते हैं, अत्यन्त सावधानीसे संवर्धन करते हैं, और पीछे दुःखसे महादुःखमें जाते हुए वे अपने ही विविध कर्मोंसे कलुषित ही होते हैं ॥३३॥

और इस अवस्थामें तृष्णासे आक्रान्त मूर्ख "यह करना है और यह करना

है" इस तरह अधिकाधिक चिन्ता करते हुए, निरन्तर बहती धारामें बहते रहते हैं ॥३४॥

ये दूसरे, जिन्होंने पुण्य संचय किये हैं, स्वर्गमें जन्म लेते हैं और कामकी ज्वालाओंसे इस तरह जलते हैं जैसे आगमें जल रहे हों ॥३५॥

और विषयोंमें अतृप्त ही वे वहाँसे गिरते हैं, उनकी आँखें ऊपर लगी रहती हैं, वे निस्तेज रहते हैं और अपनी मालाओंके मुरझानेसे दुःखी होते हैं ॥३६॥

जब अप्सराओंके प्रेमी असहाय होकर गिरते हैं, तब वे करुणापूर्वक उन्हें देखती हैं और अपने हाथोंसे उनके वस्त्र पकड़ती हैं ॥३७॥

विमानोंसे दीनतापूर्वक गिरते हुए प्रेमियोंको पकड़नेकी कोशिश करते समय, कुछ अप्सराएँ ऐसे देख पड़ती हैं जैसे झूलती हुई मोतीकी लड़ियोंके साथ वे पृथ्वीपर गिर रही हों ॥३८॥

दूसरी, भाँति भाँतिकी मालाएँ व गहने पहनकर, अपने प्रेमियोंके दुःखमें पड़नेसे शोकित होकर, सहानुभूतिपूर्वक चञ्चल आँखोंसे उनका अनुसरण करती हैं ॥३९॥

उन गिरनेवालोंके प्रति प्रेम होनेसे अप्सराएँ हाथोंसे छाती पीटती हैं और मानो महा-पीड़ासे पीड़ित होकर उनमें आसक्त रहती हैं ॥४०॥

स्वर्गमें रहनेवाले "हा, चैत्ररथ वन! हा, दिव्य सरोवर! हा, मन्दाकिनी! हा, प्रेयसी!" इस तरह विलाप करते हुए आर्त होकर पृथ्वीपर गिरते हैं ॥४१॥

यह देखते हुए कि उतने परिश्रमसे प्राप्त होनेवाला स्वर्ग अनिश्चित व क्षणिक है और इससे वियोग होनेपर ऐसा दुःख होता है, ॥४२॥

जगत्में यह नियम विशेष रूपसे ध्रुव है; जगत्का यह स्वभाव है और तो भी लोग इसे ऐसा नहीं देखते ॥४३॥

दूसरे, जिन्होंने काम (-वासना) से अपनेको अलग रखा है, अपने मनमें निश्चय करते हैं कि उनका निवास शाश्वत है; तो भी वे स्वर्गसे दीनतापूर्वक गिरते हैं ॥४४॥

४१—हा चैत्ररथ हा वापि हा मन्दाकिनि हा प्रिये।
इत्यार्ता विलपन्तोऽपि गां पतन्ति दिवौकसः ॥ — सौ० ग्यारह ५०।

नरकोंमें अत्यन्त कष्ट है, पशुओंके बीच परस्पर भक्षण होता है, प्रेतोंके बीच भूख-प्यासका दुःख है, मनुष्योंके बीच तृष्णाओंका दुःख है ॥४५॥

प्रेम-मुक्त स्वर्गोंमें पुनर्जन्मका दुःख बहुत है। निरन्तर भ्रमणशील जीव-लोकके लिए निश्चय ही कहीं भी शान्ति नहीं ॥४६॥

संसार-चक्रकी यह धारा निराधार है और मरणशील है। इस तरह चारों ओरसे घिरे हुए जीव कहीं विश्राम-भूमि नहीं पाते हैं ॥४७॥

इस तरह दिव्य दृष्टिसे उसने पाँच जीव-लोकोंका निरीक्षण किया और जीवन में कुछ भी सारवान् नहीं पाया, जैसे काटे जानेपर केलेके पेड़में कुछ सार नहीं मिलता है ॥४८॥

रात्रिका तीसरा पहर समीप आने पर, उस उत्तम ध्यान-ज्ञने जगत्के सच्चे स्वभावके बारेमें ध्यान किया :—॥४९॥

"अहो! जीवित प्राणी केवल थकावट पाते हैं, बार-बार जन्म लेते हैं, बूढ़े होते हैं, मरकर चले जाते हैं और फिर जन्म लेते हैं ॥५०॥

और मनुष्यकी दृष्टि काम व मोहान्धकारसे ढकी रहती है और अपनी अन्धताकी अधिकतासे वह इस महादुःखसे निकलनेका मार्ग नहीं जानता है।" ॥ ५१ ॥

इस तरह विचार कर उसने अपने मनमें सोचा, "सचमुचमें यह क्या है, जिसका अस्तित्व जरा-मरणका कारण है?" ॥५२॥

सत्यकी गहराईतक प्रवेश कर उसने समझा कि जन्म होनेसे जरा-मरणकी उत्पत्ति होती है ॥५३॥

उसने देखा कि शिर होनेपर ही शिर-दर्द सम्भव है; क्योंकि वृक्षका जन्म होनेपर ही, यह काटकर गिराया जा सकता है ॥५४॥

तब उसने फिर सोचा, "यह जन्म किससे होता है?" तब उसने ठीक-ठीक देखा कि कर्मभवसे जन्म होता है ॥५५॥

अपनी दिव्य दृष्टिसे उसने देखा कि प्रवृत्ति (= जीवन) कर्मसे होती है, न कि स्रष्टासे या प्रकृतिसे या आत्मासे या अकारण ही ॥५६॥

जैसे बाँसकी पहली गिरह बुद्धिमानीसे काटनेपर सब तेजीसे ठीक हो जाता है (अर्थात् शेष बाँस अच्छी तरह चीरा जाता है), वैसे ही उसका ज्ञान उचित क्रमसे बढ़ा ॥५७॥

तब ऋषिने भवका कारण निश्चित करनेमें अपना मन लगाया। तब उसने देखा कि भवका कारण उपादानमें पाया जाता है ॥५८॥

जीवनके विविध शील-व्रतों, काम, आत्मवाद और असम्यक् दृष्टि ग्रहण करनेसे यह कर्म (उपादान) होता है, जैसे जलावन ग्रहण करनेसे अग्नि उत्पन्न होती है ॥५९॥

तब उसने सोचा—"उपादान किस कारणसे होता है ?" तब उसने पहचाना कि उपादानका प्रत्यय (= कारण) तृष्णा में है ॥६०॥

जैसे हवाका साथ पाकर थोड़ी सी आगसे जंगल प्रज्वलित हो जाता है, वैसे ही तृष्णासे काम आदि महापाप होते हैं ॥६१॥

तब उसने सोचा—"तृष्णा किससे होती है ?" तब उसने निश्चय किया कि तृष्णाका कारण वेदना है ॥६२॥

वेदनाओंसे अभिभूत होकर मनुष्य उनकी तृप्तिके उपाय चाहते हैं; क्योंकि प्यासके अभावमें किसीको जलमें आनन्द नहीं आता (और प्यास लगनेपर ही पानीकी चाह होती है) ॥६३॥

तब उसने फिर ध्यान किया—"वेदनाका स्रोत क्या है ?" उसने, जिसने वेदनाका अन्त कर दिया था, देखा कि वेदनाका कारण स्पर्शमें है ॥६४॥

स्पर्शकी व्याख्या है, "वस्तु, इन्द्रिय और मनका संयोग" जिससे वेदना वैसे ही उत्पन्न होती है, जैसे दो अरणियों और जलावनके संयोगसे आग पैदा होती है ॥ ६५ ॥

तब उसने सोचा कि स्पर्शका भी कारण है। इसपर उसने जाना कि कारण छः आयतनों (= काय, मन, चक्षु, श्रोत्र, घ्राण और रसना) में है॥६६॥

अन्धा वस्तुओंको नहीं देखता है, क्योंकि उसकी आँख मनके साथ उन

५८—उपादान = भोग-प्राप्तिके लिए प्रयत्न करनेवालेकी तात्कालिक अवस्था—अ० को०।

६२—वेदना = इन्द्रियों और विषयोंके स्पर्शसे होनेवाली अनुभूति; चक्षु-स्पर्श, श्रोत्र-स्पर्श, घ्राण-स्पर्श, जिह्वा-स्पर्श, काय-स्पर्श और मन-स्पर्शसे उत्पन्न होनेवाली वेदना।

(वस्तुओं)का संयोग नहीं कराती है; दृष्टि होनेपर संयोग होता है। इसलिए छः आयतनोंके होनेपर स्पर्श होता है ॥ ६७ ॥

फिर उसने छः आयतनोंका कारण जाननेका निश्चय किया। तब उस कारण-ज्ञने नामरूपको कारण जाना ॥ ६८ ॥

जैसे अंकुरका अस्तित्व होनेपर ही पत्ते व तनेका अस्तित्व होता है, वैसे ही नाम-रूपका अस्तित्व होनेपर ही छः आयतन होते हैं ॥ ६९ ॥

तब उसने सोचा—"नाम-रूपका क्या कारण है?" इसपर उसने, जो ज्ञानके उस पारतक पहुँच चुका था, इसका कारण विज्ञान (= संज्ञा, चेतना) में देखा ॥ ७० ॥

विज्ञानका उदय होनेपर नाम-रूप उत्पन्न होता है। बीजका विकास पूरा होनेपर अंकुर शारीरिक रूप धारण करता है ॥ ७१ ॥

फिर उसने सोचा—"विज्ञान किससे पैदा होता है?" तब उसने जाना कि नाम-रूपका आश्रय लेकर यह पैदा होता है ॥ ७२ ॥

तब निमित्त-नैमित्तिकका क्रम समझनेके बाद उसने इसपर विचार किया; उसका मन उसके द्वारा स्थिर किये गये विचारोंमें विचरा और दूसरी बातोंकी ओर नहीं गया ॥ ७३ ॥

विज्ञान प्रत्यय है जिससे नाम-रूप पैदा होता है। और नाम-रूप आधार है जिसपर विज्ञान आश्रित है ॥ ७४ ॥

जैसे (जलमें) नाव आदमीको ढोती है (और स्थलपर आदमी नावको ढोता है), वैसे ही विज्ञान व नामरूप एक दूसरेके कारण हैं ॥ ७५ ॥

जैसे तपा हुआ लोहा तृणको प्रज्वलित करता है और प्रज्वलित तृण लोहेको तपाता है, वैसे ही उनका पारस्परिक कार्य-कारण सम्बन्ध है ॥ ७६ ॥

इस तरह उसने समझा कि विज्ञानसे नाम-रूपका उदय होता है, नाम-रूपसे आयतन पैदा होते हैं और आयतनोंसे स्पर्शका उदय होता है ॥ ७७ ॥

उसने जाना कि स्पर्शसे वेदना, वेदनासे तृष्णा, तृष्णासे उपादान, और वैसे ही उपादानसे भव उत्पन्न होता है ॥ ७८ ॥

भवसे जन्म होता है, जन्मसे जरा-मरणका उदय उसने जाना। उसने ठीक ठीक समझा कि प्रत्ययोंसे संसार उत्पन्न होता है ॥ ७९ ॥

तब उसे यह दृढ़ निश्चय हुआ कि जन्म-विनाशसे जरा-मरणका निरोध होता है, भव-विनाशसे स्वयं जन्म नष्ट होता है और उपादानके निरोधसे भव बन्द हो जाता है ॥ ८० ॥

फिर तृष्णा-निरोधसे उपादानका निरोध होता है; यदि वेदनाका अस्तित्व नहीं, तो तृष्णाका अस्तित्व नहीं; स्पर्शका नाश होनेसे वेदना पैदा नहीं होती; छः आयतनोंका अस्तित्व नहीं होनेपर स्पर्शका नाश होता है ॥ ८१ ॥

उसी प्रकार नाम-रूपका सम्यक् निरोध होनेपर छः आयतन भी नष्ट हो जाते हैं; और विज्ञानका निरोध होनेसे नाम-रूपका निरोध होता है; और संस्कारोंका निरोध होनेसे विज्ञानका निरोध होता है ॥ ८२ ॥

उसी प्रकार महर्षिने समझा कि अविद्याके सर्वथा अभावसे संस्कारोंका निरोध होता है। इसलिए उसने ज्ञेयको उचित रीतिसे जाना और वह संसारके सामने बुद्ध होकर खड़ा हुआ ॥ ८३ ॥

उस नर-श्रेष्ठने भवकी ऊपरसे नीचेतक कहीं आत्माको नहीं देखा और परम ज्ञानके अष्टाङ्गिक मार्ग द्वारा, जो शुरू होकर जल्द ही इष्ट स्थानको पहुँचता है, शान्तिको प्राप्त किया, जैसे जलावनके जलनेपर अग्नि (शान्तिको प्राप्त करती है)॥ ८४॥

तब पूर्णता प्राप्त करनेपर उसके मनमें यह विचार हुआ—"मैंने यह पूर्ण मार्ग प्राप्त किया है, जिसपर भली-बुरी बातोंको जाननेवाले पूर्वके महर्षि-वंश परमार्थके लिए चले थे ॥८५॥

चौथे पहरके उस क्षणमें जब उषाका आगमन हुआ और जब सब चराचर शान्त थे, महर्षिने अविनाशी पद प्राप्त किया, उत्तम नायकने सर्वज्ञता प्राप्त की ॥८६॥

जब बुद्ध होकर उसने इस तत्त्वको जाना, तब मदिरासे माती कामिनीके समान पृथ्वी काँपी, सिद्ध-सङ्घोंके साथ दिशाएँ दीप्त हुईं और आकाशमें बड़ी बड़ी दुन्दुभियाँ बजीं ॥८७॥

सुख देनेवाली हवा धीरे-धीरे बही, देवने अनभ्र आकाशसे जल-वृष्टि की और वृक्षोंने मानो उसका सम्मान करनेके लिए, असमयमें फल-फूल गिराये ॥८८॥

उस समय, जैसे स्वर्गमें, मान्दारव फूल, सुवर्ण व वैदूर्यके कमल व कुमुद आकाशसे गिरे और उनसे शाक्य-ऋषिका स्थान भर गया ॥८९॥

उस क्षण किसीको क्रोध नहीं हुआ, कोई बीमार नहीं था, किसीने पाप-मार्गका आश्रय नहीं लिया, किसीने मनमें मद नहीं किया; जगत् इस तरह शान्त हुआ, जैसे उसने पूर्णता प्राप्त की हो ॥९०॥

मोक्षमें प्रवृत्त देव-सङ्घ प्रसन्न हुए, नीचेके लोकोंमें रहनेवाले जीव भी आनन्दित हुए। धर्म-प्रिय सङ्घकी समृद्धिसे धर्मका चारों ओर प्रचार हुआ और जगत्, काम व अज्ञानरूप अन्धकारके ऊपर उठा ॥९१॥

इक्ष्वाकु-वंशके ऋषि, जो पहले मनुष्योंके शासक थे, राजर्षि व महर्षि उनकी सिद्धिसे आनन्दित व विस्मित होकर अपने दिव्य विमानोंमें उनका सम्मान करते हुए खड़े हुए ॥९२॥

अदृश्य जीव-समूहोंके महर्षिगणने ऊँचे स्वरसे उनकी स्तुति की और जीव-समूह इस तरह आनन्दित हुआ, जैसे उसकी बढ़ती हो रही हो। किन्तु मार वैसे ही निराश हुआ, जैसे किसी महाविपत्तिसे पूर्व (निराशा होती है) ॥९३॥

तब सात दिनोंतक, शारीरिक क्लेशसे मुक्त होकर, निरन्तर निश्चल आँखोंसे अपने ही चित्तको देखते हुए वह बैठे रहे। "इस स्थानपर मैंने मुक्ति पाई" इस तरह चिंतन करते हुए उनने अपनी हार्दिक अभिलाषा पूरी की ॥९४॥

तब ऋषिने, जो कार्य-कारणका सिद्धान्त समझ चुके थे और जो अनात्म-वादकी पद्धतिमें दृढ़तापूर्वक स्थिर थे, अपनेको जगाया और महाकरुणासे युक्त होकर, जगत्को उसकी शान्तिके लिए अपनी बुद्ध-दृष्टिसे देखा ॥९५॥

जगत् मिथ्या विचारों और व्यर्थ प्रयत्नोंमें नष्ट हो रहा है, इसकी काम-वासनाएँ अधिक हैं, और मोक्ष-धर्म अत्यन्त सूक्ष्म है, यह देखकर उनने अविचल रहनेका निश्चय किया ॥९६॥

तब अपनी पहली प्रतिज्ञा याद कर उनने शान्तिका उपदेश देनेका निश्चय किया। इसपर उनने अपने मनमें सोचा कि किस प्रकार कुछ लोगोंकी काम-वासना अधिक है और दूसरोंकी कम ॥९७॥

तब सुगतके मनने शान्तिका उपदेश करनेके लिए निश्चय किया है, यह

जानकर स्वर्गमें रहनेवाले दो प्रधान देवोंने जगत्का हित चाहा और वे चमकते हुए उनके समीप गये ॥९८॥

पाप-परित्यागद्वारा अपना लक्ष्य सिद्ध कर और उत्तम धर्मको अपना उत्तम साथी समझकर वह बैठे हुए थे; उन्होंने सम्मानपूर्वक उनकी स्तुति की और जगत्के हितके लिए ये वचन उनसे कहे—॥ ९९ ॥

"अहो ! क्या संसार इस सौभाग्यके योग्य नहीं कि आपका चित्त जीवोंके प्रति करुणा अनुभव करे ? संसारमें विविध योग्यताओंके प्राणी हैं, कुछकी काम-वासना अधिक है, कुछकी काम-वासना कम है ॥ १०० ॥

हे मुनि, आपने स्वयं भव-सागर पार कर लिया है, अब दुःखमें डूब रहे जगत्को उबारिये, और जैसे कोई बड़ा सेठ धन दान करता है वैसे ही दूसरोंको भी आप अपने गुण दीजिए ॥ १०१ ॥

यहाँ कुछ लोग ऐसे हैं जो इह-लोक व पर-लोकमें अपने लाभकी बात सोचकर केवल अपने ही हितके लिए काम करते हैं। किंतु इस जगत् या स्वर्गमें ऐसा व्यक्ति दुर्लभ है, जो जगत्के हितके लिए काम करेगा।" ॥१०२॥

इस प्रकार महर्षिसे कहकर, वे जिस रास्तेसे आये थे उसीसे दिव्य लोकको लौट गये। जब ऋषिने भी इस भाषणपर विचार किया, तब जगत्की मुक्तिके लिए उनका निश्चय दृढ़ हुआ ॥ १०३ ॥

भिक्षाटनके समय चार दिशाओंके देवोंने ऋषिको भिक्षा-पात्र दिये; उन्हें ग्रहण कर गौतमने धर्मके लिए उन्हें एकमें परिणत कर दिया ॥ १०४ ॥

तब उस समय जाते हुए काफिलेके दो सेठोंने अनुकूल देवतासे प्रेरित होकर उदात्त चित्तसे ऋषिकी आनन्दपूर्वक पूजा की और पहले-पहल उन्हें भिक्षा दी ॥ १०५ ॥

मुनिने सोचा कि अराड और उद्रक रामपुत्र दोनोंके चित्त धर्मग्रहण करनेके योग्य थे; किंतु जब उनने देखा कि दोनों स्वर्गीय हो गये, तब उन्हें पाँच भिक्षुओंका खयाल हुआ ॥ १०६ ॥

तब, जैसे उगता हुआ सूर्य अन्धकारको दूर करता है वैसे ही अज्ञानरूप अन्धकारको दूर करनेके लिए शान्तिका उपदेश करनेकी इच्छासे, गौतम उस

घन्य नगरकी ओर गये, जो भीमरथका प्रिय था और जिसके विविध वन वाराणसीसे अलङ्कृत हैं ॥ १०७ ॥

तब मुनिने, जिनकी आँखें वृषभकी-सी थीं और जिनकी चाल मत्त हाथी की-सी थी, लोगोंको विनीत करनेके लिए काशी देश जाना चाहा और हाथीके समान अपना समूचा शरीर घुमाकर उनने बोधि-वृक्षपर अपनी निश्चल आँखें स्थिर कीं ॥ १०८ ॥

अश्वघोष-कृत-बुद्धचरित महाकाव्यका "बुद्धत्व-प्राप्ति" नामक
चतुर्दश सर्ग समाप्त ।

१०७—भीमरथः—काशीका एक राजा था ।

पन्द्रहवाँ सर्ग

धर्मचक्र-प्रवर्तन

१ अपना काम पूरा करने पर उन्हें शान्तिकी शक्ति विदित हुई; और यद्यपि वह अकेले ही चल पड़े, तो भी ऐसा लगा जैसे बहुत-से लोग उनके साथ जा रहे हों। मार्गमें उन्हें देखकर एक पवित्र भिक्षुने हाथ जोड़कर यों कहा :—

२ "जो लोग आसक्तिके अधीन हैं और जिनके इन्द्रियरूपी घोड़े दुर्दान्त हैं, उनके बीच आप आसक्ति-रहित और जितेन्द्रिय हैं; इसीलिए

'|' इस सर्गसे अन्तिम सर्गतक व्यवहृत निम्न-लिखित चिह्नोंकी व्याख्या यों है :—

❀ यह चिह्न जिन श्लोकोंके शुरूमें है वे चीनी अनुवादमें नहीं हैं।

( ) कोष्ठकके भीतरके शब्द अर्थ स्पष्ट करनेके लिए दिये गये हैं। ये शब्द कहीं-कहीं पूर्ववर्ती शब्दोंके अर्थ हैं और कहीं-कहीं बाहरसे दिये गये पूरक शब्द हैं।

(=) कोष्ठकके भीतर बराबरके चिह्नसे युक्त शब्द मूल संस्कृत शब्द समझकर दिये गये हैं।

(___) कोष्ठकके भीतर रेखांकित पद अप्राप्त पदके स्थानपर अन्दाजसे दिये गये हैं या चीनी अनुवाद से।

... ऐसे चिह्नवाले रिक्त स्थानोंके मूल पदोंका अनुवाद अप्राप्त, दुर्बोध या संदेहजनक है।

२ जितेन्द्रियकी जगह अविकल अनुवाद होगा—"इन्द्रियरूपी घोड़ोंका दमनकर लिया है"।

चन्द्रमाकी-सी आपकी आकृति अभिनव प्रज्ञाके मधुर रसद्वारा (आपका हार्दिक (संतोष प्रकट कर रही है।

३ आपका धैर्य-युक्त चेहरा यहाँ चमक रहा है, आप अपने इन्द्रियोंके स्वामी बन गये हैं और आपकी आँखें बलवान् वृषभकी-सी हैं; अवश्य ही आप कृतार्थ हैं। हे आर्य, आपके गुरु कौन हैं, किनसे आपने यह सिद्धि पाई है" ?

४ इसपर उन्होंने उत्तर दिया—"मेरा गुरु कोई नहीं। मेरे लिए सम्माननीय कोई नहीं, निन्दनीय तो और भी कोई नहीं। मैंने निर्वाण प्राप्त किया है और मैं वैसा नहीं जैसे कि दूसरे हैं। धर्मके विषयमें मुझे स्वयंभू जानो।

५ मैंने उसे पूरा-पूरा समझ लिया है जो समझने योग्य (=अवबोध्य) है और जिसे दूसरोंने नहीं समझा है, इसलिए मैं बुद्ध हूँ। और क्योंकि मैंने क्लेशोंको शत्रुकी तरह जीत लिया है, मुझे शान्तिमय (=शमात्मक) जानो।

६ हे सौम्य, इस समय मैं अमर धर्मकी दुन्दुभि बजानेके लिए वाराणसी जा रहा हूँ, यश (से होनेवाले) सुखके लिए नहीं, अभिमानसे नहीं, किंतु दुखसे पीड़ित साथी जनोंके हितके लिए।

७ पूर्वमें जीव-लोकको आर्त देखकर मैंने यों प्रतिज्ञा की—स्वयं पार होनेपर मैं जगत्को पार लगाऊँगा, स्वयं मुक्त होनेपर मैं यहाँ रहनेवालोंको मुक्त करूँगा।

८ इस जगत् में कुछ लोग धन पाकर केवल अपने लिए ही रखते हैं और इससे लज्जाको प्राप्त होते हैं; किंतु विशेष (सम्पत्ति) प्राप्त करनेपर सुखी

---

४ निर्वाण = "इसी शरीरमें राग-द्वेष आदि चित्त-मलों का नष्ट होना क्लेश-निर्वाण है और क्लेश-रहित अर्हत्की मृत्यु होनेपर भविष्यमें उसके जन्मकी सम्भावनाके नष्ट होनेका नाम स्कन्ध-निर्वाण है; इस प्रकार निर्वाणके दो भेद किये जाते हैं।"—बुद्धवचन।

'चित्त-मलसे रहित ऐसे द्युतिमान् पुरुष ही लोकमें निर्वाण-प्राप्त हैं'।

—धम्मपद छः १४।

दृष्टिवाले महापुरुष (= महाजन) के लिए केवल वही धन है जिसे वह वितरण करता है।

९ सूखी भूमिपर खड़ा रहनेवाला यदि धारामें बहते आदमीको बाहर खींचनेका यत्न नहीं करे, तो वह वीर नहीं; और सम्पत्ति पानेवाला यदि उसे गरीबोंके बीच नहीं बाँटे, तो वह दाता नहीं।

१० स्वस्थ (मनुष्य) को सुलभ उपचारोंसे व्याधिग्रस्तकी चिकित्सा करनी चाहिए और मार्गपतिको कुमार्गसे जानेवालेको उचित (= गम्य) मार्ग बताना चाहिए।

११ जैसे कि जब प्रदीप जलता है तब इसके कारण अन्धकार नहीं हो सकता, वैसे ही जब बुद्ध अपना ज्ञान प्रदीप्त करता है तब मनुष्य कामके वशीभूत नहीं होते।

१२ जैसे काष्ठमें अग्निका रहना, आकाशमें हवाका रहना, और पृथ्वीमें पानीका रहना नियत है, वैसे ही गयामें मुनियोंको बुद्धत्व-प्राप्ति और काशी में उनका उपदेश करना नियत है"।

१३ तब धीरे-धीरे (= उपांशु) प्रशंसा करके उसने बुद्धको छोड़कर इच्छानुसार अपना रास्ता पकड़ा; किंतु उत्कण्ठित होकर विस्मित आँखोंसे वह उन्हें बार-बार देखता रहा।

१४ तब क्रमसे मुनिने कोश-गृहके भीतरी भागके सदृश काशी नगरीको देखा, जिसे भागीरथी और वाराणसी एक साथ मिलकर इस तरह आलिंगन कर रही थीं, जैसे सखीको (आलिंगन कर रही हों)।

१५ शक्ति एवं गौरवसे उज्ज्वल मुनि, सूर्यके समान चमकते हुए, मृगदावमें आये, जहाँ कोयलोंकी ध्वनिसे निनादित वृक्षोंके बीच महर्षिगण रहते थे।

१६ तब वह कौण्डिन्य गोत्रवाला, महानाम, वाष्प, अश्वजित् और भद्रजित्—ये पाँच भिक्षु दूरसे ही उन्हें देखकर आपसमें ये वचन बोले—

१७ "भिक्षु गौतम समीप आ रहा है, जो आराम-प्रियताके कारण तपसे विमुख हो गया है। अवश्य ही हमें न तो उससे मिलना है और न उसका

---

१५ मृगदाव=मृगों का वन, सारनाथ का प्राचीन नाम।

अभिवादन करना है; क्योंकि जो व्रतसे विमुख हो गया है वह सम्मानके योग्य नहीं।

१८ किंतु यदि वह हमसे बातचीत करना चाहे, तो हम अवश्य उससे बातचीत करेंगे; क्योंकि आर्यको अवश्य वैसा करना चाहिये, चाहे आगत अतिथि कोई भी हो"।

१९ बुद्ध बैठे हुए भिक्षुओंकी ओर बढ़े, जिन्होंने इस तरह अपने विचार स्थिर किये थे; और जैसे जैसे वह उनके समीप आते गये वैसे वैसे वे अपना निश्चय तोड़ते गये।

२० उनमेंसे एकने उनका चीवर ग्रहण किया और उसी प्रकार दूसरे-ने हाथ जोड़कर उनका भिक्षा-पात्र ग्रहण किया। तीसरेने उन्हें उचित आसन दिया और उसी तरह दूसरे दोने पाँव धोनेके लिए उन्हें जल दिया।

२१ इस प्रकार उनकी अनेक परिचर्याएँ करते हुए उन सब ने उनसे गुरुवत् व्यवहार किया; किन्तु जब कि उन्होंने गोत्र-नामसे उन्हें पुकारना नहीं छोड़ा, तब भगवान्ने करुणापूर्वक उनसे कहा:—

२२ "हे भिक्षुओ, पूज्य अर्हत्से पहलेकी तरह असम्मानपूर्वक मत बोलो; क्योंकि यद्यपि मैं सचमुच ही प्रशंसा व निन्दासे उदासीन हूँ, तो भी मैं तुम्हें अपुण्योंसे अलग कर सकता हूँ।

२३ जगत्के हितके लिए बुद्ध बोधि प्राप्त करता है, अतः वह सदा सब जीवोंके हितके लिए काम करता है; और जो अपने गुरुको नाम लेकर पुकारता है उसके लिए धर्म उच्छिन्न हो जाता है, जैसे माता-पिताका असम्मान करनेसे"।

२४ इस तरह वक्ता-श्रेष्ठ महर्षिने अपने हृदयकी करुणासे उन्हें उपदेश दिया; किन्तु असार एवं मोहद्वारा बहकाये जानेके कारण उन्होंने स्मित मुखोंसे उत्तर दिया:—

२५ "हे गौतम, तुमने परम उत्कृष्ट तपों द्वारा तत्त्वको नहीं समझा और यद्यपि कष्टसे ही लक्ष्य प्राप्त होता है, तो भी तुम आराम-प्रिय हो। कैसे कह सकते हो—'मैंने (तत्त्वको) देखा है'"?

२६ जब भिक्षुओंने तथागतकी सच्चाईके बारेमें इस प्रकार अविश्वास प्रकट किया, तब मार्ग-दर्शीने बोधि-मार्गको उस (तपोमय मार्ग) से भिन्न देखते हुए उनसे मार्गकी व्याख्या यों कीः—

२७ "अपनेको क्लेश देनेवाले अज्ञानीको और वैसे ही इन्द्रियविषयोंमें आसक्त रहनेवालेको, इन दोनोंको तुम्हें दोषमें स्थित समझना चाहिए; क्योंकि उन्होंने जो मार्ग ग्रहण किये हैं वे अमरत्व (अमृत पद) की ओर नहीं ले जाते।

२८ अज्ञानीका चित्त जब तप नामक शारीरिक क्लेशोंसे आक्रान्त एवं संक्षुब्ध होता है तब वह बेहोश (संज्ञाहीन) हो जाता है और साधारण लोक-व्यवहारको भी नहीं जान सकता है, फिर तत्त्वके अतीन्द्रिय मार्गको कहाँसे जानेगा ?

२९ जैसे इस जगत्में अन्धकार-विनाशके लिए प्रकाश पानेके हेतुसे कोई पानी नहीं गिराता, वैसे ही ज्ञानाग्निद्वारा (नष्ट होनेवाले) अज्ञानरूपी अन्धकारके विनाशके लिए शारीरिक क्लेश पूर्व-आवश्यकता (आवश्यक) नहीं है।

३० जैसे अग्नि चाहनेवाला आदमी काठको छेदकर या उसे चीरकर अग्नि नहीं पाता। किन्तु उचित उपायोंके अवलम्बनसे ही वह सफल होता है, वैसे ही योगसे अमरत्व (अमृत पद) प्राप्त होता है, (शारीरिक) क्लेशों से नहीं।

३१ वैसे ही जो लोग अनर्थकारी काम-वासनाओंमें आसक्त रहते हैं, उनके चित्त, तम व रजसे आक्रान्त हो जाते हैं, वे शास्त्र भी नहीं समझ सकते, फिर निरोधका राग-रहित मार्ग कहाँसे समझेंगे ?

३२ जैसे रोगसे अभिभूत व्यक्ति अस्वास्थ्यकर भोजन करके रोग-मुक्त (स्वस्थ) नहीं होता, वैसे ही अज्ञानरूपी रोगसे अभिभूत आदमी कामवासनाओंमें आसक्त होकर शान्ति कहाँसे पायेगा ?

३३ जैसे जलावन (=आश्रय) के लिए सूखी घास रहनेपर और हवासे वीजित (=प्रेरित) होनेपर आग नहीं बुझती है, वैसे ही रागका साथ व

कामका आश्रय पाकर चित्त शान्त नहीं होता है।

३४ दोनों अन्तों (तप और भोग) को छोड़कर मैंने तीसरा ही पाया है—(वह) मध्यम मार्ग (है)—जो दुःखका अन्त करके प्रीति-सुखके परे चला जाता है।

३५ सम्यक् दृष्टिरूपी सूर्य इसे प्रकाशित करता है, सम्यक् संकल्परूपी रथ इसपर चलता है, ठीक-ठीक बोली गई सम्यक् वाणी (इसके) विहार (विश्राम-स्थल) हैं, और यह सम्यक् कर्मान्त (सदाचार) के सौ-सौ उपवनों (कुञ्जों) से प्रसन्न (उज्वल) है।

३६ यह सम्यक् आजीविकारूपी सुभिक्षा (सुलभ भिक्षा) का उपभोग करता है और सम्यक् व्यायाम (प्रयत्न) रूपी सेना व परिचारक-गुणसे युक्त है; यह सम्यक् स्मृति (सावधानी, जागरूकता) रूपी किलेबन्दीसे सब ओर सुरक्षित है और (सम्यक्) समाधि (मानसिक एकाग्रता) रूपी शय्या व आसनसे सुसज्जित है।

३७ इस जगत्में यह ऐसा परम उत्तम अष्टांगिक मार्ग है, जिसके द्वारा मौत बुढ़ापे व रोगसे मुक्ति मिलती है।

३८ यह केवल दुःख है, यह समुदय (कारण) है, यह निरोध है, और यह इसका (निरोध-) मार्ग; इस प्रकार निर्वाणके हेतु अभूतपूर्व एवं अश्रुतपूर्व धर्म-पद्धतिके लिए मेरी दृष्टि विकसित हुई।

३९ जन्म जरा रोग और मरण भी, इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग, अभिलषित अन्त (लक्ष्य, वस्तु) की अप्राप्ति—ये विविध दुःख लोगोंको सहने पड़ते हैं।

४० जिस किसी अवस्थामें मनुष्य हो, चाहे वह काम-वासनाओंके अधीन हो या उसने अपनेको जीत लिया हो, चाहे वह शरीर-धारी हो या नहीं, जो कोई भी गुण उसे नहीं है संक्षेपमें उसीको दुःख जानो।

४१ मेरा यह निश्चित मत है कि जैसे ज्वालाओंके शान्त होनेपर, अति अल्प अग्नि भी उष्ण होनेका अपना सहज स्वभाव नहीं छोड़ती है, वैसे ही शान्ति आदिसे अति सूक्ष्म होनेपर भी आत्मभाव दुःखधर्मा ही रहता है।

४२ जानो कि जैसे भूमि जल बीज व ऋतु, अंकुरके कारण-स्वरूप हैं, वैसे ही काम-राग आदि दोष तथा दोषोंसे होनेवाले कर्म, दुःखके कारण-स्वरूप हैं।

४३ स्वर्गमें या नीचे (के लोकमें), भव-धाराका कारण काम-राग आदि दोषोंका समूह है और इहलोक एवं परलोकमें हीन मध्य व ऊँचके भेदका मूल कारण कर्म है।

४४ दोषोंके विनाशसे संसाररूपी चक्रका कारण बन्द हो जाता है और कर्मका क्षय होनेसे दुःखका अन्त होता है; क्योंकि किसी दूसरी चीजके होनेसे सब चीजोंका प्रादुर्भाव होता है, इसलिए उस दूसरी चीजका लोप होनेसे उन सबका अन्त होता है।

४५ जानो कि निरोध वह है जिसमें न जन्म है, न जरा, न मरण, न अग्नि, न पृथ्वी, न जल, न शून्य (आकाश), न वायु, और जो अनादि अनन्त आर्य अहार्य (जो नहीं हरण किया जा सके) सुखमय (=सुखं) और अविनाशी (=अक्षर) है।

४६ मार्ग वह है जिसे अष्टांगिक कहा गया है, इसे छोड़कर (लक्ष्य-) प्राप्ति (=अधिगम) का (दूसरा) उपाय नहीं। इस मार्गको नहीं देखनेके कारण लोग विविध मार्गोंमें भटकते रहते हैं।

४७ इस विषयमें मैंने इस तरह निश्चय किया कि दुःखकी पहचान करनी चाहिए, कारणका त्याग करना चाहिए, निरोधका अनुभव करना चाहिए और मार्गकी भावना करनी चाहिए।

४८ मुझमें दृष्टि (=चक्षु, ज्ञान) इस तरह विकसित हुई कि यह दुःख पहचाना गया और कारण छोड़ा गया, उसी तरह निरोधका अनुभव हुआ और उसी तरह इस मार्गकी भावना की गई।

४९ जब तक आर्य सत्यकी ये चार अवस्थाएँ मैंने नहीं देखीं, तब तक इस जगत्में मुक्त होनेका दावा मैंने नहीं किया और अपनेमें लक्ष्य-प्राप्ति भी नहीं देखी।

५० किंतु जब मैंने आर्य सत्योंको अच्छी तरह जाना और उन्हें

जानकर कर्तव्य कामको किया, तब इस विषयमें मैंने मुक्त होनेका दावा किया और देखा कि मैंने लक्ष्य प्राप्त कर लिया" ।

५१ जब करुणामय महर्षिने इन शब्दोंमें वहाँ इस तरह धर्मोपदेश किया, तब उस कौण्डिन्य गोत्रवाले और सौ देवताओंने पवित्र एवं निर्मल (=विरज) दृष्टि पाई ।

५२ जब उसने सब कर्त्तव्य (करणीय) पूरा किया, तब सर्वज्ञने वृषभके-से ऊँचे स्वरमें पूछा—"क्या तुमने ज्ञान प्राप्त किया ?" उस महात्माने उत्तर दिया—"हाँ, मैंने आपका उत्तम विचार जाना" ।

५३ तब "हाँ, मैंने जाना" यह कहनेवाले कौण्डिन्यने जगत्में (पहले-पहल) उस पदका ज्ञान ग्रहण किया और आर्य गुरु तथागतके भिक्षुओंमें प्रधान धर्म-ज्ञाता हुआ ।

५४ पृथ्वीपर रहनेवाले यक्षोंने यह शब्द सुनकर गूँजती वाणीमें घोषणा की—"यह ध्रुव है कि श्रेष्ठ दृष्टिमान्ने सब जीवोंकी अमर शान्तिके लिए धर्म-चक्र को अच्छी तरह चलाया ।

५५ शील इसके आरे (=अणि, कीलक) हैं, शम एवं विनय इसकी पुट्ठियाँ (= नेमि) हैं, यह बुद्धि (?) में विशाल है और स्मृति (जागरूकता) एवं मति (ज्ञान) से स्थिर है, लज्जा (=ह्री) इसकी नाभि है । गम्भीरता असत्य-अभाव तथा उपदेशकी उत्तमताके कारण त्रिभुवनमें उपदिष्ट होते समय यह धर्म-चक्र अन्य शास्त्रों द्वारा उलटाया नहीं जा सकता" ।

५६ पर्वतपरके यक्षोंके शब्द सुनकर स्वर्गके देव-संघोंने ध्वनि ग्रहण की और उसी तरह परलोकसे परलोकको ब्रह्मलोक तक यह जोरोंसे चढ़ गई ।

५७ महर्षिसे 'तीनों लोक अनित्य हैं' यह सुनकर कुछ संयतात्मा (=आत्मवान्) देवगण (=दिवौकस्) इन्द्रिय-विषयोंसे विरत हुए और चित्तमें संवेग होनेके कारण उन्होंने तीन भवोंके विषयमें शान्ति पाई ।

५८ जब तीन लोकों (त्रिभुवन) की परम शान्तिके लिए स्वर्गमें और पृथ्वीपर धर्म-चक्र उस तरह चलाया गया, तब उस मुहूर्तमें अनभ्र आकाशसे

---

५७ लोक (=भव) तीन हैं; रूप अरूप और काम ।

फूलोंसे भरी जल-वृष्टि हुई और तीन लोकोंके निवासियोंने बड़ी बड़ी दुन्दुभियाँ बजाई।

बुद्धचरित महाकाव्यका "धर्मचक्र-प्रवर्तन" नामक पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त।

सोलहवाँ सर्ग

अनेक शिष्य

१ तब सर्वज्ञने अश्वजित् तथा अन्य संयतचित्त भिक्षुओंको निर्वाण-धर्ममें स्थापित किया।

२ उन पंच-वर्गीय (भिक्षुओं)से घिरे (बुद्ध) आकाशके उस चन्द्रमाके समान शोभित हुए, जो सूर्याधिपति (जिसका अधिपति सूर्य है) नक्षत्र (हस्ता) के पाँच तारोंसे युक्त हो।

३ उस समय यश नामक कुल-पुत्र (या श्रेष्ठीके पुत्र) ने असावधानीसे सोई हुई कुछ स्त्रियोंको देखा और इससे उसके चित्तमें संवेग हो गया।

४ "यह सब कितना कृपण है", यह वचन कहकर, उज्ज्वल आभूषणोंसे चमकता हुआ, वह वहाँ गया जहाँ बुद्ध थे।

५ उसे देखकर मनुष्योंके आशय और दोष जाननेवाले तथागतने कहा— "निर्वाणके लिए कोई निश्चित समय नहीं, यहाँ आओ और सौगत्य प्राप्त करो।"

६ जिनका यश दूर तक फैला हुआ था उनके ये वचन सुनकर, आतपसे पीड़ित होकर नदीमें प्रवेश करनेवालेके समान, उसने अत्यन्त मानसिक शान्ति पाई।

७ तब पूर्व कारणके बलसे उसने उसी शरीरमें (अर्थात गृहस्थवेषमें ही) शरीर व मनसे अर्हत्-पद (=अर्हत्त्व) को अनुभव किया।

८ जैसे खारे जलसे स्वच्छ हुआ वस्त्र रंग ग्रहण करता है वैसे ही उस निर्मलचित्तने सद्धर्मको सुनते ही पूरा-पूरा समझ लिया।

९ उन वक्ता-श्रेष्ठ (=वदतां वरः) ने, जो अपना काम पूरा कर चुके थे

और जो अच्छे लक्ष्यको जानते थे (=जानन् सदर्थं), अपने वस्त्रोंके कारण उसे वहाँ लज्जित होते देखकर कहा :—

१० "भिक्षु-वेष धर्मका कारण नहीं है; जो सब जीवोंको समान भावसे देखता है और जिसने शम एवं विनयद्वारा अपने इन्द्रियोंको वशमें कर लिया है, वह आभूषण पहनकर भी धर्ममें विचरण करता है।

११ जो शरीरसे घरको छोड़ता है चित्तसे नहीं और जो कामके अधीन है, वह वनमें रहनेपर भी गृहस्थ समझा जाता है।

१२ जो चित्तसे जाता है किन्तु शरीरसे नहीं और जो अनात्म है, वह घरमें रहनेपर भी वनवासी समझा जाता है।

१३ जिसने यह सिद्धि पाई है वह मुक्त कहा जाता है, चाहे वह घरमें रहता हो या भ्रमणशील भिक्षु हो गया हो।

१४ जैसे विजय चाहनेवाला (राजा) विपक्षी सेनाको जीतनेके लिए कवच पहनता है, वैसे ही दोषोंकी विपक्षी सेनाको जीतनेके लिए आदमी (भिक्षु-) वेश ग्रहण करता है"।

१५ तब तथागतने उसे कहा—"यहाँ आओ, भिक्षु"। यह वचन सुनकर वह भिक्षु-वेष पहने हुए आया।

१६ तब उसमें अनुरक्त होनेके कारण उसके मित्रोंने, जो संख्यामें पचास और तीन और एक (=चौवन) थे, धर्मलाभ किया।

१७ जैसे क्षारसे लिपे वस्त्र, जलके स्पर्शसे तुरत साफ हो जाते हैं, वैसे ही पूर्व युगोंमें उनके कर्म पवित्र हो चुकनेके कारण वे तुरत पूत हो गये।

१८ उस समय शिष्योंकी पहली टोलीमें कुल साठ हुए, जो अर्हत् भी थे; और तब अर्हतों द्वारा सम्यक् रूपसे सम्मानित होकर उन अर्हत्ने उन्हें यों कहा :—

१९ "हे भिक्षुओ, तुम सब दुःखके परे चले गये हो और अपना महान् कार्य पूरा कर चुके हो। अब उनकी मदद करनी चाहिए, जो इस समय भी दुःखी हैं।

२० इसलिए तुम सब अकेला-अकेला इस पृथ्वीपर घूमो और लोगोंके

दुःखके प्रति दया-भावसे उन्हें धर्मोपदेश करो ।

२१ मैं स्वयं राजर्षियोंकी निवास-भूमि गया (=गय) की ओर काश्यप ऋषियों को विनीत करनेके लिए जा रहा हूँ, जो अपनी सिद्धियोंके कारण दिव्य शक्तियोंसे युक्त (=ऋद्धिमान) हैं" ।

२२ तब उन (भिक्षुओं) ने, जिन्हें तत्त्वका दर्शन हो चुका था, उनकी आज्ञासे सब दिशाओंमें प्रस्थान किया और द्वन्द्वोंसे मुक्त महर्षि सुगत गयाकी ओर गये ।

२३ तब क्रमसे वह वहाँ पहुँचे और धर्म-वन (तपोवन ?) के समीप जाकर उन्होंने काश्यपको मूर्त्त तपके समान वहाँ रहते देखा ।

२४ यद्यपि पर्वतोंपर और उपवनोंमें रहनेके स्थान थे, तो भी दश-बल-धारी शास्ताने उसे विनीत करनेकी इच्छासे उससे निवास-स्थान माँगा ।

२५, २६ ... ...

२७ तब सिद्धको नष्ट करनेके लिए बुरे आशयसे (=विप्रमत्थ) उसने उन्हें अग्नि-शाला दी, जहाँ एक बड़ा साँप रहता था ।

२८ रातको विषाक्त दृष्टिवाले साँपने महामुनिको शान्त और निर्भय होकर वहाँ अपनी ओर देखते देखा और क्रोधसे वह उनके ऊपर फुत्कार उठा ।

२९ उसके क्रोधसे अग्नि-गृहमें आग लग गई, किन्तु अग्निने मानो डरके मारे महामुनिके शरीरका स्पर्श नहीं किया ।

३० जैसे महाकल्पके अन्तमें अग्निके शान्त होनेपर ब्रह्मा बैठा हुआ प्रदीप्त होता है, वैसे ही गौतम, अग्निशालाके सर्वथा प्रज्वलित होनेपर भी निर्भय (असंविग्न) रहे ।

३१ जब बुद्ध वहाँ बिना किसी हानिके निश्चल होकर बैठे रहे, तब साँपको विस्मय हुआ और उसने ऋषि-श्रेष्ठको प्रणाम किया ।

३२ मुनिको वहाँ बैठा हुआ समझकर मृगदाव (तपोवन ?) के लोग अत्यन्त आर्त एवं दयाभिभूत हुए कि वैसा भिक्षु जल गया होगा ।

---

२७ अग्नि-शाला = पानी गर्म करनेका घर—बुद्धचर्या ।

३३ रातके बीतनेपर विनायकने अपने भिक्षा-पात्रमें साँपको शान्तिपूर्वक ले लिया और काश्यपको दिखाया।

३४ बुद्धकी शक्ति देखकर वह विस्मित हुआ, तो भी उसका विश्वास बना रहा कि शक्तिमें उससे बढ़कर कोई नहीं।

३५ तब उसका यह विचार जान, शान्त ऋषिने समयानुकूल विविध रूप धारण कर उसके हृदयको पवित्र किया।

३६ इसपर उसने ऋद्धिमें बुद्धको अपनेसे बड़ा माना और उसने उनका धर्म लाभ करनेका निश्चय किया।

३७ औरुविल्व काश्यपका आकस्मिक हृदय-परिवर्तन देखकर उसके पाँच सौ अनुयायियोंने भी धर्मका आश्रय लिया।

३८ जब गय (काश्यप) और नदी (काश्यप) का भाई (औरुविल्व काश्यप) अपने शिष्यों सहित (दुःख के) पार चला गया और वल्कल वस्त्र फेंक चुका, तब वे दोनों (भाई) भी वहाँ पहुँचे और मार्ग पर आरूढ़ हुए।

३९ तब गयशीर्ष पर्वतपर अनुयायियों सहित तीनों काश्यप भाइयोंको ऋषिने निर्वाण-धर्मका उपदेश दिया:—

४० "मोहरूपी धुएँसे ढँकी हुई तथा वितर्कोंसे पैदा होनेवाली राग-द्वेषरूपी अग्निसे सारा जगत् विवश होकर जल रहा है।

४१ शांति एवं नेतृत्वके विना इस तरह दोषोंकी अग्निसे जलता हुआ यह (जगत्) जरा-मरण व रोगकी अग्नियोंसे बार बार निरन्तर उपभुक्त (नष्ट) हो रहा है।

४२ इस जगत्को निराश्रय व विविध अग्नियोंसे दग्ध देखकर, बुद्धिमान् पुरुषको चित्त एवं इंद्रियोंसे युक्त अपने शरीरपर संवेग होता है।

४३ संवेगसे उसे निष्कामता होती है और निष्कामतासे मुक्ति, तब मुक्त होकर वह अपनेको सब प्रकारसे मुक्त हुआ जानता है।

४४ भव-धाराका पूरा पूरा परीक्षण कर, वह संन्यास ग्रहण करता है और अपना कार्य पूरा करता है; उसके लिये फिर जन्म नहीं"।

४५ जब हजार भिक्षुओंने भगवान्का यह उपदेश सुना; तब अनुपादान

(उपादानके अभाव) के कारण उनके चित्त तुरत आस्रवों (मलों) से मुक्त हो गये।

४६ तब अत्यन्त बुद्धिमान् (= महाप्रज्ञ) तीनों काश्यपोंके साथ बुद्ध इस तरह शोभित हुए, जैसे धर्मका अवतार, दान शील और विनयसे घिरा हो।

४७ तपोवन उन उत्तम ··· से वंचित होकर निष्प्रभ हो गया, जैसे धन धर्म और आनन्दसे रहित रोगी मनुष्यका जीवन फीका पड़ जाता है।

४८ तब मगध-राजके साथ अपनी पूर्व-प्रतिज्ञा याद कर, उन सबसे घिरे हुए ऋषि, राजगृहकी ओर गये।

४९ तब वेणुवनमें तथागतका आगमन सुनकर, राजा अपने मंत्रियोंके साथ उन्हें देखनेके लिए गया।

५० तब विस्मयसे विकसित आँखोंवाली जनता, जीवनमें अपनी अपनी स्थितिके अनुसार, पैदल या सवारीपर, पहाड़ी रास्तेसे बाहर आई।

५१ दूरसे ही उत्तम ऋषिको देखकर, मगध-राज उनके प्रति सम्मान प्रकट करनेके लिए शीघ्रतापूर्वक अपने रथसे उतर गया।

५२ चँवर, व्यजन और परिजनोंको पीछे छोड़, राजा ऋषिके पास गया, जैसे इन्द्र ब्रह्माके पास जा रहा हो।

५३ उसने शिर नवाकर महर्षिको प्रणाम किया, जिससे उसका मुकुट काँप उठा और उनकी अनुमति पाकर वह कोमल तृणोंसे आवृत पृथ्वीपर बैठ गया।

५४ वहाँ लोगोंके मनमें हुआ—"अहो! शाक्य-ऋषिका प्रभाव! क्या ऋषि काश्यप भी उनके शिष्य हो गये"?

५५ तब उनके मन (की बात) जानकर, बुद्धने काश्यपसे कहा—"काश्यप, कौन गुण देखकर तुमने अग्निकी पूजा छोड़ी"?

५६ बलवान् बादलकी-सी आवाजमें जब गुरुने उसे इस तरह उत्तेजित किया, तब हाथ जोड़कर भरी सभामें उसने जोरोंसे कहा:—

५७ "अग्निकी पूजा करनेका और उसमें आहुति देनेका फल है संसार-चक्रमें प्रवृत्ति एवं विविध मानसिक आधियोंकी संगति; इसलिए मैंने अग्नि

(-पूजा) छोड़ी।

५८ विषयोंकी तृष्णासे, मन्त्रोचारण करनेसे और आहुति आदि देनेसे विषयोंकी तृष्णा दृढ़तर ही होती है; इसलिए मैंने अग्नि छोड़ी।

५९ मन्त्रोचारण एवं अग्नि-आहुति द्वारा जन्मसे मुक्ति नहीं होती और जन्मका दुःख महान् है; इसलिए मैंने अग्नि छोड़ी।

६० पूजा-कर्म और तपसे श्रेय प्राप्त होता है, यह मिथ्या विश्वास है; इसलिए मैंने अग्नि छोड़ी।

६१ मैं जन्म-मरणसे मुक्त, सुखमय व अविनाशी (=अक्षर) पदको जानता हूँ; इसलिए मैंने अग्नि छोड़ी"।

६२ विनीत (दीक्षित) हुए काश्यपका वैसा श्रद्धोत्पादक एवं तथ्यपूर्ण वचन सुनकर विनायकने उसे कहा:—

६३ "हे महाभाग, तुम्हारी विजय हो; तुमने विविध धर्मोंमें सबसे उत्तम धर्म प्राप्त किया, निस्सन्देह यह तुमने बड़ा अच्छा किया है।

६४ जैसे महा-ऐश्वर्यशाली व्यक्ति अपने विविध कोषोंका प्रदर्शन करता है वैसे ही अपनी विविध ऋद्धियाँ (दिव्य शक्तियाँ) दिखाकर सभाके लोगोंके हृदय उत्तेजित करो"।

६५ तब काश्यपने कहा—"बहुत अच्छा" और अपनेको अपनेमें ही संकुचित कर पवन-पथ (आकाश) में पक्षीके समान उड़ गया।

६६ वह ऋद्धि-विशारद आकाशमें खड़ा रहा, जैसे वृक्षके तनेपर (खड़ा हो), इधर-उधर घूमा जैसे पृथ्वीपर (घूम रहा हो), बैठ गया जैसे शय्यापर (बैठा हो), और तब पड़ रहा।

६७ कभी वह अग्निके समान प्रज्वलित हुआ, कभी मेघके समान पानी बरसाया, कभी एक ही साथ प्रज्वलित हुआ और पानी बरसाया।

६८ जब चमकते हुए और पानी बरसाते हुए उसने लम्बे पग बढ़ाये, तब वह उस बादलके समान शोभित हुआ जो पानी बरसा रहा हो और चमकती बिजलीसे उज्ज्वल हो।

६९ उसमें लगी हुई आँखोंसे लोगोंने उसे विस्मयपूर्वक देखा और उसे

सम्मानपूर्वक प्रणाम करते हुए उन्होंने सिंह-गर्जन किये।

७० तब ऋद्धि-प्रदर्शन बन्द कर उसने शिर झुकाकर ऋषिको प्रणाम किया और कहा "मैं शिष्य हूँ, जिसने यह काम किया और मेरे गुरु (ये) भगवान् (बुद्ध) हैं"।

७१ काश्यप, महर्षिको इस प्रकार प्रणाम कर रहा है, यह देखकर मगध-निवासियोंने निश्चय किया कि सुगत ही सर्वज्ञ हैं।

७२ तब श्रेयमें रमनेवाले उन (सुगत) ने भूमिको तैयार समझा और धर्मको सुननेके लिए इच्छुक श्रेण्य (बिम्बसार) से उसके हितके लिए कहा—

७३ "हे पृथ्वीपति, हे जितेन्द्रिय महात्मन्, चित्त और इन्द्रियोंके साथ रूपका उदय और अस्त (=व्यय) होता है।

७४ धर्म-वृद्धिके लिए उनका उदय और व्यय ठीक ठीक जानना चाहिए, और इन दो बातोंको ठीक ठीक जानकर शरीरको ठीक ठीक समझो।

७५ शरीरको उदय और व्ययके अधीन जान लेनेसे उपादान बिलकुल नहीं रहता और "मैं" या "मेरा"का भाव नहीं होता।

७६ मानसिक कल्पनाओंके बाहर शरीर और इन्द्रियोंकी वास्तविकता नहीं है; दुःख होकर वे उदय होते हैं, दुःख होकर वे अस्त होते हैं।

७७ यह सब "मैं" या "मेरा" नहीं है, ऐसा समझनेपर परम अविनाशी निर्वाण प्राप्त होता है।

७८ "मैं" आदिका अस्तित्व माननेके दोषोंसे मनुष्य मिथ्या आत्म-वादमें बँध जाते हैं और "आत्मा नहीं है" यह देखनेपर वे कामनाओंसे मुक्त होते हैं।

७९ मिथ्या दृष्टि बाँधती है, सम्यक् दृष्टि मुक्त करती है। "आत्मा है" इस विचारमें रहनेवाला यह जगत् सत्यको ग्रहण नहीं करता।

८० यदि आत्मा रहती, तो यह नित्य या अनित्य होती; दोनों (मतों) में ही बड़े-बड़े दोष हैं।

८१ यदि इसे अनित्य माना जाय, तो कर्म-फल नहीं होगा; और पुनर्जन्म नहीं होनेसे निर्वाण हमें अनायास ही प्राप्त होगा।

८२ यदि यह नित्य और सर्व-व्यापी रहती, तो न जन्म होता न मरण; क्योंकि सर्वव्यापी और नित्य शून्यका न उदय है न व्यय।

८३ यदि यह आत्मा स्वभावसे सर्वव्यापी रहती तो कोई स्थान नहीं जहाँ यह नहीं होती; और इसका अस्त होने पर सबको साथ ही निर्वाण होता।

८४ स्वभावसे सर्वव्यापी होनेके कारण यह कर्मशील नहीं होती और कर्म नहीं किया जाता; और कर्म नहीं करनेसे फलके साथ उन (कर्मों) का संयोग कैसे होता?

८५ यदि आत्मा कर्म करती तो यह अपनेको दुःख नहीं देती; क्योंकि अपना स्वामी आप होकर कौन अपनेको दुःख देगा?

८६ आत्माको नित्य माननेसे इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि यह परिवर्तनशील नहीं; किंतु क्योंकि यह दुःख-सुख अनुभव करती है, अतः हम देखते हैं कि इसमें परिवर्तन होता है।

८७ ज्ञान-प्राप्ति और दोष-परित्यागसे निर्वाण होता है; और क्योंकि आत्मा अकर्मशील एवं सर्वव्यापी है; इसलिए इसे निर्वाण नहीं होगा।

८८ यह नहीं कहना चाहिए कि आत्मा है, क्योंकि वास्तवमें इसका अस्तित्व नहीं है।

८९ करणीय काम क्या है और कौन इसे करता है—यह स्पष्ट नहीं है, अतः आत्मा इस प्रकार (नित्य या अनित्य होकर) रहती है, ऐसा नहीं कह सकते; और इसलिए इसका अस्तित्व नहीं।

९० हे उत्तम श्रोता, इस उपदेशको सुनो कि भव-धारा इस शरीरको—जिसमें न करनेवाला है, न वेदना अनुभव करनेवाला (=वेदक), और न आदेश देनेवाला—धारण करती हुई कैसे बह रही है।

९१ छः इन्द्रियों और उनके छः विषयोंके आधारपर छः प्रकारकी चेतना (संज्ञा, Consciousness) उत्पन्न होती है; और प्रत्येक तीनके लिए अलग अलग स्पर्श उत्पन्न होता है; जहाँसे स्मृति इच्छा व कर्म प्रवृत्त होते हैं।

९२ जैसे सूर्यकान्त-मणि जलावन और सूर्यका संयोग होनेके कारण अग्नि उत्पन्न होती है, वैसे ही व्यक्तिपर अवलम्बित सब कर्म भी बुद्धि (Consci-

ousness), इन्द्रियों और विषयोंके आधारपर होते हैं।

९३ जैसे बीजसे अंकुर पैदा होता है और तो भी अंकुरका तादात्म्य बीजसे नहीं होता और दोमेंसे कोई एक दूसरेके बिना नहीं रह सकता, वैसे ही शरीर इन्द्रियों और चेतनाका पारस्परिक सम्बन्ध है।"

९४ जब मगध-राजने मुनि-वरका परमार्थपूर्ण नैष्ठिक उपदेश सुना, तब उसमें निर्मल विरज एवं अद्वितीय धर्म-चक्षु उत्पन्न हुआ।

९५ मुनिका उपदेश सुनकर मगधकी राजधानीमें रहनेवाले बहुतसे लोग तथा स्वर्गके निवासी देवगण भी उस सभामें विशुद्धचित्त होकर अक्षर व अमर पदको प्राप्त हुए।

बुद्धचरित महाकाव्यका "अनेक शिष्य" नामक
सोलहवाँ सर्ग समाप्त।

सत्रहवाँ सर्ग

महाशिष्योंकी प्रव्रज्या

१ तब (मगधके) राजाने मुनिके रहनेके लिए उज्ज्वल वेणुवन भेंट किया, और उनकी अनुमतिसे नगरको लौट गया; तत्त्वको समझकर वह बिल्कुल ही बदल गया था।

२ तब ज्ञानसे उत्पन्न शुभ प्रदीपको निर्वाणके लिए धारण करते हुए बुद्ध, ब्रह्मा देवों और विविध लोकोंके आर्योंके साथ, विहारमें रहने लगे।

३ तब अश्वजित्, जिसने इन्द्रियरूपी घोड़ोंका दमन कर लिया था, भिक्षाकी खोजमें राजगृह आया और अपने सौन्दर्य शान्ति एवं आकृतिसे (लोगोंकी) एक बड़ी भीड़की आँखें आकृष्ट कीं।

४ कपिल सम्प्रदायके बहुत शिष्योंवाले शारद्वतीपुत्र नामक संन्यासीने उस शान्तेन्द्रियको आते देखा और सड़कपर उसका अनुसरण करते हुए उसे यों कहा:—

५ "आपकी अभिनव आकृति एवं शान्ति देखकर मेरा चित्त अत्यन्त विस्मित है। यदि आप तत्त्वको जानते हों तो कहिए; आपके शिक्षकका क्या

२

नाम है, वह क्या सिखाते हैं और वह कौन हैं ?''

६ जब ब्राह्मणने इस तरह सम्मानपूर्वक पूछा, तब अश्वजित्‌ने भी उसे कहा:—''मेरे गुरु इक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न हुए थे, वे सर्वज्ञ एवं अद्वितीय हैं।

७ मैं अज्ञानी हूँ और हालमें ही धर्मकी शरण आया हूँ, अतः आपको (बुद्धकी) शिक्षा बतानेमें असमर्थ हूँ। तो भी वक्ताश्रेष्ठ महामुनिके वचनोंका थोड़ा-सा ही अंश सुनिये।

८ ''भगवान्‌ने कारणोंसे होनेवाले सब पदार्थों (=धर्मों) की व्याख्या की है। उन्होंने निरोध और निरोध-मार्गकी व्याख्या की है।''

९ अश्वजित्‌के ये शब्द सुनते ही उपतिष्य (शारद्वतीपुत्र) नामक द्विजकी आँखें धर्ममें खुल गईं और निर्मल सुखमय व पवित्र हो गईं।

१० पहले उसका मत था कि क्षेत्रज्ञ, अकृत अकर्मशील और ईश्वर है; सब चीजें कारणोंके आश्रयसे होती हैं—यह सुनकर उसने जाना कि आत्मा नहीं है और उसने तत्त्वको देखा।

११ उसने समझा था कि सांख्यके अनुसार शरीर अवयवोंका बना होता है और इसलिए स्थूल दोषोंका ही नाश होता है; किन्तु बुद्धकी शिक्षाके अनुसार स्थूल एवं सूक्ष्म (दोषों)का समान रूपसे नाश होता है।

१२ आत्मवाद माननेपर अहंवादका परित्याग नहीं होता और इसलिए ''अहं'' रहता है। जब प्रदीप एवं सूर्य दोनों रहें, तब प्रकाश-विनाशका कारण (भला) क्या हो सकता है ?

१३–१४ जैसे कमलके मूल काटनेपर सूक्ष्म तंतु एक दूसरेसे उलझे रहते हैं वैसे ही उसने सांख्य-मार्गको नैष्ठिक नहीं समझा, जब कि बुद्ध-मार्ग पत्थर काटनेके समान है (पत्थर काटनेसे टुकड़े अलग अलग हो जाते हैं, एक दूसरेसे लगे नहीं रहते हैं)।

१५ तब ब्राह्मणने अश्वजित्‌को प्रणाम किया और स्वयं अत्यन्त संतुष्ट होकर घरके लिए प्रस्थान किया, और क्रमसे अपना भिक्षाटन पूरा करके गम्भीरता एवं बुद्धिमत्तापूर्वक वेणुवनकी ओर चला।

१६ उपतिष्यको इस तरह परम प्रसन्न होकर लौटते देखकर मौद्गल्यायनने,

जिसके कर्म उसकी विद्या एवं ज्ञानके अनुरूप थे, उसने कहा:—

१७ "हे संन्यासिन्, (स्वयं) वही होते हुए आप दूसरे-जैसे क्यों हो गये ? आप धीर और प्रसन्न होकर लौटे हैं। क्या आज आपने अमर पद (अमृत) पा लिया ? यह ऐसी शान्ति अकारण नहीं।"

१८ तब उसे तत्त्व बताते हुए उसने कहा "यह ऐसे होता है।" तब उसने कहा "मुझसे शास्त्र कहिये।" इसपर उसने वे ही वचन उससे फिर कहे। उन्हें सुनकर उसमें भी सम्यक् दृष्टि उत्पन्न हुई।

१९ कर्मों और आशयों (?) से उनके चित्त पवित्र हो जानेके कारण उन्होंने तत्त्वको हाथमें रखे दीपके समान देखा, और इसे जाननेके कारण गुरुके प्रति उनके भाव अविचल थे, अतः उसी क्षण वे उन्हें देखनेके लिए चले।

२० शिष्योंके साथ आते उन दोनोंको दूरसे ही देखकर महामुनि भगवान्ने भिक्षुओंसे कहाः—"यहाँ आ रहे ये दोनों मेरे प्रधान शिष्य हैं, उनमेंसे एक ज्ञानी है और दूसरा दिव्य शक्तिवाला।"

२१ तब शान्त ऋषिने गम्भीर स्वरमें उन दोनोंसे कहाः—"शान्तिके लिए यहाँ आये हुए भिक्षुओ, इस धर्मको ठीक-ठीक उचित रीतिसे ग्रहण करो।"

२२ ज्यों ही तथागतने ये वचन उनसे कहे कि त्रिदण्डी और जटाधारी ब्राह्मण बुद्धके प्रभावसे काषायधारी भिक्षु बन गये।

२३ इस तरह (काषाय) वस्त्र-युक्त होकर उन दोनोंने अपने शिष्योंके साथ शिर नवाकर सर्वज्ञको प्रणाम किया। तब बुद्धने उन्हें धर्मोपदेश किया और वे दोनों काल-क्रमसे नैष्ठिक पदपर पहुँचे।

२४ तब काश्यप-कुलके प्रदीप-स्वरूप एक ब्राह्मणने, जो वर्ण रूप व धनसे युक्त था, अपनी सम्पत्ति एवं सुन्दर पत्नीका परित्याग किया, और वह काषाय वस्त्र पहनकर निर्वाणकी खोजमें चला।

२५ उस सर्वस्व-त्यागीने ब्रह्मपुत्रक चैत्यके समीप उत्तम सोनेके बने पवित्र पताका-दण्डके समान चमकते सर्वज्ञको देखा; और विस्मित हो, हाथ जोड़े, उनके समीप गया।

२६ उसने दूरसे ही शिर नवाकर मुनिको प्रणाम किया, और हाथ जोड़कर उचित रीतिसे ऊँची आवाजमें कहा—"मैं शिष्य हूँ, भगवान् मेरे गुरु हैं, हे धीर, अंधकारमें मेरा प्रकाश बनिये।"

२७ "(ज्ञानकी) चाह उत्पन्न होनेके कारण यह द्विज आया है, यह विशुद्धाशय एवं निर्वाणका इच्छुक है," ऐसा जानकर वाणी रूपी जलसे चित्तको शान्त करनेवाले तथागतने उसे कहा—"स्वागत।"

२८ इन अक्षरोंसे उसकी थकावट मानो चली गई; नैष्ठिक पदकी खोज करनेके लिए वह वहाँ रहने लगा। उसका स्वभाव शुद्ध था, इसलिए मुनिने उसके ऊपर कृपा की और संक्षेपमें उसके लिए धर्म की व्याख्या की।

२९ मुनिने संक्षेपमें ही धर्मकी व्याख्या की और उसने अभिप्राय बिलकुल समझ लिया, अतः अपनी बुद्धि एवं विख्यातिके कारण वह "अर्हत् महाकाश्यप" कहलाया।

३० उसने पहले समझा था कि आत्मा "मैं" और "मेरा" दोनों ही है, और शरीरसे भिन्न होते हुए भी शरीरमें है। अब उसने आत्म-दृष्टिका परित्याग किया और इसे शाश्वत (नित्य) दुःख समझा।

३१ उसने पहले शील-व्रत द्वारा पवित्रता पाना चाहा था और जो कारण नहीं, उसे कारण समझा था; अब उसने दुःखका स्वभाव समझा और वह मार्ग पर आया, और शील-व्रतको श्रेष्ठ मार्ग नहीं माना।

३२ वह कुमार्गपर भटका था और श्रेष्ठ मार्ग नहीं पा सका था; अब उसने चार सत्योंका क्रम देखा और संशय-शङ्काओंको सर्वथा काट डाला।

३३ उन काम-वासनाओंकी—जिनके बारेमें संसारने मूढ़ता (मोह)की है, करता है और करेगा—अपवित्रता एवं असारता देखकर, उसने कामनात्मक इन्द्रिय-विषयोंको छोड़ा।

३४ मानसिक मैत्री प्राप्तकर उसने मित्र और शत्रुमें भेद नहीं किया और सब जीवोंपर दया करता हुआ वह मनके भीतरी द्वेष (= व्यापाद)से भी मुक्त हो गया।

---

३१ शीलव्रत=क्रिया-कर्म, बाहरी आचार।

३५ रूप और इसके प्रतिघातोंपर आश्रित विविध संज्ञाओंको उसने छोड़ा और रूपमें रहनेवाली बुराइयोंको समझा; इसलिए उसने रूप-धातुकी आसक्तिको जीता।

३६ उसने पहचाना कि अरूप देवोंकी, जो मोहवश ध्यानको ही निर्वाण समझते हैं, अवस्था अनित्य है; शान्त होकर उसने निमित्तशून्य चित्त प्राप्त किया और अरूप-भवकी आसक्ति छोड़ी।

३७ उसने अनुभव किया कि महानदी (=सिन्धु) की बलवती धारा के समान बहते हुए चित्तकी चञ्चलता विघ्न का मूल है; वीर्य के सहारे आलस्य छोड़कर उसने शान्ति प्राप्त की और वह पूर्ण (निर्मल ?) सरोवर के समान निश्चल हो गया।

३८ उसने जीवनको असार अनात्म और नाशवान् (=व्ययधर्मा) देखा; किसीको छोटा-बड़ा या बराबर नहीं देखते हुए उसने मिथ्याभिमान छोड़ा;...।

३९ ज्ञानरूपी अग्निसे अज्ञानरूपी अन्धकारको दूरकर, उसने नित्य और अनित्यको (एक दूसरेसे) भिन्न देखा और योगद्वारा अपनी विद्याको पूर्णकर, उसने अविद्याको अच्छी तरह काट डाला।

४० दृष्टि एवं भावनासे युक्त होकर, वह दश (संयोजनों, बन्धनों) से मुक्त हुआ और अपना काम पूरा कर, वह शान्तिमय, हाथ जोड़े, बुद्धको देखता खड़ा रहा।

४१ अपने तीन शिष्योंके साथ—जो तीन विद्याओंके ज्ञाता (=त्रैविद्य) थे, जिन्होंने तीन (आस्रवों) को क्षीणकर दिया था, और जिन्होंने तीन (शील समाधि प्रज्ञा)को भलीभाँति प्राप्तकर लिया था—सुगत (तीसरे पर्वके) पूर्ण चन्द्रमाके समान शोभित हुए, जो पन्द्रहवें मुहूर्तमें तीन ताराओंवाले उस (ज्येष्ठा) नक्षत्रसे युक्त हो, जिसका अधिपति (=अधिदेव) अनुजदेव (इन्द्र) है।

बुद्धचरित महाकाव्यका "महाशिष्योंकी प्रव्रज्या"
नामक सत्रहवाँ सर्ग समाप्त।

---

४१ काम-आस्रव, भव-आस्रव और अविद्या-आस्रव।

अठारहवाँ सर्ग

अनाथपिण्डदकी दीक्षा

१ तब एक बार उत्तरकी ओरसे कोशल देशसे एक धनी गृहपति आया। उसे गरीबोंको धन देनेकी आदत थी। उसका प्रसिद्ध नाम सुदत्त था।

२ उसने सुना "ऋषि यहीं रहते हैं" और यह सुनकर उसने उन्हें देखना चाहा और रातमें उनके समीप गया। उसने सुगतको प्रणाम किया। वह विशुद्धस्वभाव होकर आया है, यह जानकर उन्होंने उसे उपदेश दिया:—

३ "हे मनीषी, धर्मकी प्याससे नींद छोड़कर रातमें तुम मेरा दर्शन करने आये हो, इसलिए इस प्रकार आये हुए मनुष्य (=तथागत) के लिए नैष्ठिक पदका प्रदीप ऊपर उठाया जाय।

४ (तुममें) ये जो सद्गुण दिखाई पड़ते हैं इसका कारण है तुम्हारा (शुद्ध) आशय, तुम्हारा धैर्य, मेरे विषयमें सुनकर (उत्पन्न) हुई तुम्हारी श्रद्धा और पूर्व-निमित्त द्वारा (शुद्ध) हुई तुम्हारी चित्त-वृत्ति।

५ जो उत्तम (वस्तु) है उसे दान करनेसे इस लोकमें यश होता है और परलोकमें फल, यह जानकर तुम्हें धर्मसे प्राप्त होनेवाला कोष उचित समय-पर भक्तिपूर्ण चित्तसे सम्मानपूर्वक दान करना चाहिए।

६ शील ग्रहणकर अपना आचरण ठीक करो; क्योंकि शीलका पालन एवं सम्मान करनेसे अधम अधःलोकोंका भय जाता रहता है और मनुष्यको ऊपरके स्वर्गोंकी प्राप्ति अवश्य होती है।

७ कामासक्तियोंमें होनेवाले अन्वेषण आदिके दुष्परिणामोंको देखते हुए और त्याग-मार्गके सुपरिणामोंका अनुभव करते हुए, विवेकसे उत्पन्न होनेवाली सच्ची शान्तिमें लगो।

८ मौत व बुढ़ापेकी पीड़ाके रहते संसार भटक रहा है, यह ठीक-ठीक देखकर जन्म-मुक्त शान्तिके लिए यत्न करो और जन्मके अधीन नहीं होनेसे वह (शान्ति) बुढ़ापे व मौतसे (भी) रहित है।

---

८ जन्म-मुक्त शान्ति=वह शान्ति जिसकी प्राप्ति होनेपर फिर जन्म नहीं होता है। "न जायते शान्तिमवाप्य भूयः"—सौन्दरनन्द, सोलह ५।

९ जैसे यह जानते हो कि अनित्यताके कारण लोगोंको हरदम दुःख होता है, वैसे ही जानो कि देवताओंको (भी) वही दुःख है। प्रवृत्तिमें कुछ भी नित्यता नहीं है।

१० जहाँ अनित्यता है, वहाँ दुःख है; ....। तब जो (धातु अर्थात् धातुओंसे बना शरीर) अनित्य दुःखमय एवं अनात्म है, उसमें "मैं" या "मेरा" कैसे हो सकता है?

११ इसलिए इस दुःखको दुःख, इसकी उत्पत्ति (=समुदय)को उत्पत्ति, दुःख-निरोधको निरोध (=व्युपशम) और शुभ मार्गको मार्ग समझो।

१२ इस जगत्को दुःखमय एवं अनित्य जानो और मानव-जातिको, कालरूपी आगसे, जैसे असली आगसे, बिलकुल दग्ध देखकर, तुम अस्तित्व एवं विनाशको समान रूपसे अवांछनीय समझो।

१३ इस जगत्को शून्य, "मैं" या "मेरा"से रहित, मायासदृश जानो और इस शरीरको संस्कारों (उत्पादकों, वस्तुओं)का परिणाम-मात्र विचारते हुए, इसे केवल तत्त्वों (= धातुओं)का बना हुआ समझो।

१४ अनित्य जीवनसे अपने मनको मुक्त करो और संसारमें विविध योनियोंको देखते हुए, भावना-द्वारा अपने चित्तको वितर्क-रहित शान्ति-परायण और राग-मुक्त (=विराग, विरज) करो। तब 'अनिमित्त'का अभ्यास करो।"

१५ तब महर्षिका धर्म सुनकर उसने धर्माचरणका प्रथम फल पाया; और इसकी प्राप्ति होनेसे दुःखरूपी महासागरमेंसे केवल एक बूँद उसके लिए रह गई।

१६ गृहस्थ होते हुए भी उसने ज्ञानद्वारा श्रेय और तत्त्व (वास्तविक सत्य) का अनुभव किया जो अज्ञानीके लिए (सुलभ) नहीं है, चाहे वह तपोवनमें हो या स्वर्गमें, चाहे वह तृष्णा-रहित मनुष्योंके झुण्ड (=वितृष्ण वन) में रहता हो या अरूप लोकके शिखरपर।

१७ विविध मिथ्या दृष्टियोंके जालसे तथा संसारके दुःखोंसे मुक्त नहीं होने-

---

१० धातुके लिए देखिये—सौन्दरनन्द, सोलह ४७-४८।

१४ अनिमित्त=निर्वाण—अभिधर्मकोष ८।४४

के कारण वे अतत्त्वदर्शी नष्ट होते हैं और केवल रागरहित होनेवाले ही विशेष पदपर पहुँचते हैं।

१८ अपनेमें सम्यक् दृष्टि उत्पन्न होनेपर उसने कुदृष्टियोंका वैसे ही त्याग किया जैसे शरद्ऋतुका मेघ पत्थरोंकी झड़ी लगावे और ईश्वर आदि मिथ्या कारणोंसे संसार उत्पन्न होता है या यह (संसार) कारण-रहित है, ऐसा उसने नहीं माना।

* १९ क्योंकि यदि (परिणामसे) कारण भिन्न प्रकारका है, तब उत्पत्ति (=उपपत्ति) नहीं हो सकती; और कारण नहीं है, (ऐसा मानना) भारी भूल है। इन बातोंको विद्या (=श्रुत) एवं ज्ञान द्वारा क्रमशः जानकर वह तत्त्वका दर्शन करनेमें अवश्य ही संशय-रहित था।

२० यदि ईश्वर संसारको पैदा करता तो, इसमें व्यवस्थित कार्यपद्धति नहीं होती और लोग भव-चक्रमें नहीं भटकते; जिस किसी योनिमें जो जन्म लेता वह वहीं रहता।

२१ देहधारी प्राणियोंको अपनी इच्छाके विरुद्ध कुछ नहीं होता और न उनके लिए इच्छित वस्तुकी ही उत्पत्ति होती। जो कुछ भला-बुरा (=शुभाशुभ ?) देह-धारियोंको होता वह ईश्वर होनेके कारण ईश्वरमें (भी) होता।

२२ लोगोंको ईश्वरके प्रति कुछ संदेह नहीं होता और वे उसके प्रति पिताको तरह स्नेह अनुभव करते। अपने ऊपर विपत्ति आनेपर वे उसे बुरी बातें नहीं कहते, और संसार भाँति-भाँतिके देवताओं की पूजा नहीं करता।

२३ यदि उसकी सृष्टिमें कोई सङ्कल्प (अभिप्राय) है, तो वह आज यहाँ ईश्वर नहीं; क्योंकि (तब) यह (सृष्टि) सङ्कल्पका परिणाम होता (ईश्वरका नहीं)। यदि सङ्कल्पकी निरन्तर कार्यशीलता मानी जाय, तो वही (सङ्कल्प) ईश्वर होनेका कारण होगा।

२४ या यदि यह सृष्टि किसी सङ्कल्पसे प्रवृत्त नहीं होती है, तो उस

---

१८ प्रवृत्तिदुःखस्य च तस्य लोके तृष्णादयो दोषगणा निमित्तं।
नैवेश्वरो न प्रकृतिर्न कालो नापि स्वभावो न विधिर्यदृच्छा॥
—सौन्दरनन्द, सोलह १७।

(ईश्वर) के काम बच्चेके-से कारण-रहित हैं और यदि ईश्वरको अपनेपर अधिकार नहीं, तो उसे संसार पैदा करनेकी ही क्या शक्ति ?

२५ यदि वह स्वेच्छानुसार लोगोंसे दुःख-सुख अनुभव कराता है, तब किसी वस्तुमें आसक्ति या उससे विमुखता उस (ईश्वर)को होती है और इसलिए अधिकार उसमें नहीं (बल्कि वस्तुमें) रहता है।

२६ लोग विवश होकर उसके अधीन होते और कार्योंका उत्तरदायित्व उसीपर होता। देहधारीके द्वारा कुछ भी नहीं किया जाता और कर्म-फल होता ही नहीं। कार्यके साथ सम्पर्क (=कर्मयोग) उस (ईश्वर) पर निर्भर करता।

२७ यदि अपने कार्योंके कारण वह ईश्वर है, तब (क्योंकि उसके कार्योंमें लोगोंका भी भाग है, इसलिए) वह ईश्वर नहीं हो सकता। या यदि वह सर्वव्यापी (=विभु) एवं कारण-रहित है, तब समस्त जगत्का ईश्वरत्व स्थापित होता।

२८ या यदि ईश्वरके कार्यके अतिरिक्त कोई दूसरा कार्य है, तब इसी कारण उसके अतिरिक्त कोई दूसरा शक्तिशाली ईश्वर होगा। और यह निश्चित (= व्यवस्थित) नहीं कि उसके अतिरिक्त कोई दूसरा (ईश्वर) है; इसलिए जगत्का कोई ईश्वर नहीं।

२९ ईश्वरको स्रष्टा माननेसे उठनेवाली परस्पर-विरोधी बातोंको उसने देखा और स्वभावके सिद्धान्तमें भी वे ही दोष वर्तमान हैं।

३० स्वभाव-वाद, इदंप्रत्ययता (कार्य-कारण)-वादोंके सिद्धान्तों (= आश्रय)को कुछ हद तक अस्वीकार करता है और कार्यके सम्बन्धमें कारण की कुछ शक्ति नहीं मानता है; किंतु देखा जाता है कि बीज आदि विविध द्रव्योंसे परिणाम (फल) पैदा होते हैं, इसलिए स्वभाव कारण नहीं है।

३१ एक कर्ता विविध वस्तुओंका कारण नहीं हो सकता; इसलिए एकात्मक कहा जानेवाला स्वभाव सांसारिक प्रवृत्तिका कारण नहीं।

३२ स्वभाव सर्वव्यापी है, ऐसा प्रतिपादित किया जाता है, इसलिए यह निष्कर्ष निकलता है कि यह कोई परिणाम पैदा नहीं कर सकता; और ... ... इसलिए स्वभाव उत्पत्तिका कारण नहीं।

३३ क्योंकि यह सर्वव्यापी है, इसलिए कारण होनेके कारण इसे सब चीजोंका निरन्तर सार्वभौम कारण होना चाहिए; किंतु फलके सम्बन्धमें (कारणके) व्यापारमें हम एक सीमा देखते हैं, इसलिए स्वभाव उत्पत्तिका कारण नहीं।

३४ यह स्थापित होता है कि यह निर्गुण है, इसलिए इसका फल निर्गुण होना चाहिए; किंतु संसारमें सब चीजोंको हम सगुण देखते हैं, इसलिए स्वभाव सांसारिक प्रवृत्तिका कारण नहीं।

३५ शाश्वत कारण होनेसे इसमें कुछ विशेषता (=विशेष) नहीं हो सकती, इसलिए इसके फल (=विकार)में भी कोई विशिष्ट गुण नहीं हो सकता; और क्योंकि फलमें विशिष्ट गुण पाये जाते हैं, इसलिए स्वभावसे उत्पत्ति नहीं।

३६ स्वभाव उत्पादात्मक है, इसलिए फलके सम्बन्धमें नाश होनेका कोई कारण स्थापित नहीं होता है; और क्योंकि फलका विनाश हम देखते हैं, इसलिए हमें मानना होगा कि कारण कुछ और ही है।

३७ (पुनर्जन्म करनेकी) शक्तिके साथ सम्पर्क रहनेके कारण नैष्ठिक मोक्ष चाहनेवाले यतियोंको कुछ प्राप्त नहीं होता है; क्योंकि, मनुष्यके स्वभावका गुण है प्रवृत्ति, इसलिए परलोकमें जानेके अतिरिक्त वे यति मुक्त कैसे हो सकते हैं?

३८ यदि स्वभावकी विशेषता है उत्पत्ति, तब इसके फलोंकी भी समान रूपसे वही विशेषता होगी, किंतु इस संसारमें फलोंके बारेमें हमेशा यह बात नहीं होती है; इसलिए स्वभाव उत्पादक नहीं है।

३९ कहते हैं कि स्वभावका कार्य चित्त (?)के लिए व्यक्त नहीं है, तो भी इसके फल व्यक्त बताये जाते हैं। इसलिए स्वभाव प्रवृत्तिका कारण नहीं है; क्योंकि यह निश्चित है कि संसारमें कोई (व्यक्त) फल उसी कारणसे निकल सकता है, जो समान रूपसे व्यक्त है।

४० अचेतन स्वभावके परिणाम घोड़े, बैल, खच्चर आदि चेतन प्राणी नहीं हो सकते; क्योंकि अचेतन कारणोंसे कोई चेतन उत्पन्न नहीं हो सकता।

४१ जैसे सुवर्ण-हार (सुवर्णका) विशिष्ट रूप है, वैसे ही स्वभावके फल (=विकार) विशिष्ट रूप हैं; और क्योंकि फल तो विशिष्ट रूप है जब कि कारण

विशिष्ट रूप नहीं है, इसलिए स्वभावको उत्पादनशक्ति नहीं है।

४२ यदि काल (समय)को संसारका ईश्वर माना जाय, तो (मुक्तिकी) खोज करनेवालोंके लिए मुक्ति नहीं। क्योंकि संसारका कारण शाश्वत रूपसे उत्पादक होगा, जिससे मनुष्योंका अन्त होगा ही नहीं।

४३ ... ...

*४४–४६ ... ...

४७ यदि कार्यके विषयमें मनुष्य (=पुरुष) कारण होता, तो अवश्य ही सब किसीको इच्छित वस्तु मिल जाती; तो भी इस जगत्‌में कुछ इच्छाएँ अपूर्ण ही रह जाती हैं और लोग विविश होकर वही पाते हैं जो वे नहीं चाहते।

४८ यदि अपने वशकी बात होती, तो मनुष्य स्वयं बैल, घोड़ा, खच्चर या ऊँट होकर उत्पन्न नहीं होता; क्योंकि, मनुष्य इच्छित काम करते हैं और दुःखसे घृणा करते हैं, इसलिए कौन अपने ऊपर स्वयं दुःख लेता ?

४९ यदि संसारमें मनुष्य कर्ता होता, तो निश्चय ही वह अपने लिये प्रिय करता, अप्रिय नहीं; तो भी इच्छाओं की पूर्ति करनेमें चाहा और अनचाहा (इष्ट और अनिष्ट) दोनों ही किये जाते हैं, और यदि वह ईश्वर होता, तो कौन (स्वयं) अनचाहा करता !

*५० मनुष्य अधर्मसे डरता है और धर्म (शुभ) प्राप्त करनेके लिए यत्न करता है, तो भी विविध दोषों द्वारा वह विवश (बेचारा) पथभ्रष्ट किया जाता है; इसलिये इस विषयमें मनुष्य परतन्त्र है।

* ५१ मनुष्य स्वतंत्र नहीं, किंतु परतंत्र है; क्योंकि हम देखते हैं कि सर्दी, गर्मी, वर्षा, वज्र व विजलीके परिणाम उसके उद्योगोंको विफल करते रहते हैं। अतः मनुष्य कार्योंका ईश्वर नहीं है।

५२ क्योंकि, मिट्टी व पानीके सहारे तथा उचित ऋतुके संपर्क (योग) से अन्न पैदा होता है, और अग्नि काठसे उत्पन्न होती है और घी पाकर प्रदीप्त होती है, इसलिए अस्तित्वको कारण-रहित कहना ऐसा कारणका

४४–४६ तीनों श्लोक प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं। इनमें तत्कालीन सांख्य मतका खण्डन किया गया है।

अभाव नहीं है।

५३ यदि सांसारिक प्रवृत्ति अकारण होती तो मनुष्यों द्वारा कुछ काम नहीं होता। सब किसीको सब कुछ मिल जाता और ध्रुव है कि इस संसार में सार्वभौम सिद्धि होती।

*५४ यदि दुःख-सुख अकारण होता, तो प्रत्येकको दुःख-सुखका भाग नहीं मिलता, और कारणके विना दुःख-सुख बोध-गम्य होता ही नहीं, इसलिए यह जो "कारण-रहित" कहा जाता है कारण नहीं है।

*५५ उसने जाना कि ये और ऐसे ही असदृश कारण सांसारिक प्रवृत्ति के कारण नहीं हैं। उसने देखा कि संसार कारण-रहित नहीं है और उसने कारण-रहित होनेके ये दोष समझे।

५६ विविध चराचर जीव भी विविध कारणों के आश्रयसे उत्पन्न होते हैं, संसारमें कुछ भी कारण-रहित नहीं है, तो भी संसार सार्वभौम कारणको नहीं जानता है।

५७ यह सुन्दर दान पाकर, सुदत्तने आर्यधर्मा महर्षिके सद्धर्मको समझा और श्रद्धामें अविचलचित्त हो उनसे ये वचन कहे:—

५८ "मेरा निवास श्रावस्ती नगरमें है, जो धर्मके लिए विख्यात है और जहाँ हर्यश्व-वंशका अंकुर शासन करता है। वहाँ मैं आपके लिए एक विहार बनाना चाहता हूँ; आप कृपा-पूर्वक उस अनवद्य एवं उत्तम निवासको स्वीकार करें।

५९ हे ऋषि, आप राज-महलमें रहें या निर्जन वनमें—इस ओरसे आप उदासीन हैं, यद्यपि मैं यह जानता हूँ, तो भी, हे अर्हत्, मेरे ऊपर करुणा करके आप इसे निवासके लिए स्वीकार करें।"

६० तब उन्होंने जाना कि वह देना चाहता है और उसका मन मुक्त है, अतः आशय जाननेवाले निर्मल-चित्त मुनिने परम शान्तिपूर्वक अपना आशय कहा:—

६१ "(यद्यपि) तुम बिजलीकी भाँति चंचल सम्पत्ति-राशिके बीच (रहते) हो, (तो भी) तुम्हारा निश्चय दृढ़ है और तुम देनेपर तुले हुए हो।

तब इसमें आश्चर्य नहीं कि तुम सत्यको देखो, क्योंकि, धर्ममें तुम्हें स्वभावतः आनन्द आता है और दान देनेमें प्रसन्नता होती है।

६२ जलते हुए घरसे जो चीजें निकाली जाती हैं वे जलती नहीं (बच जाती हैं), उसी प्रकार कालरूपी अग्निसे जलते हुए संसारमें मनुष्य जो कुछ दान करता है वह उसे लाभ होता है।

६३ इसलिए उदारहृदय पुरुष दानको असली (=सम्यक्) विषयोपभोग समझते हैं। किन्तु कृपण मनुष्य धन-क्षयका डर देखकर दान नहीं करते, इस डरसे कि कहीं उपभोगके लिए उन्हें कुछ न बचे।

६४ उचित समयपर सत्पात्रको धन देना वीरता व अभिमानपूर्वक युद्ध करनेके समान है। जिस मनुष्यका निश्चय श्रेष्ठ है वह यह जानता है, किन्तु दूसरे नहीं, और केवल वही दान देता है और निश्चयपूर्वक युद्ध करता है।

६५ क्योंकि जो दान देनेमें आनन्दित होता हुआ संसार-यात्रा करता है वह दाता है और दान-द्वारा यश एवं सुनाम प्राप्त करता है, अतः उसकी उदारताके लिए सज्जन उसका सम्मान करते हैं और उसकी संगति करते हैं।

६६ इस तरह वह संसारमें सुखी है और दीर्घ दुःखके अभावसे पापमें नहीं पड़ता। क्योंकि वह सत्कर्म करनेका सच्चा दावा करता है, इसलिए वह सदा प्रसन्न रहता है और मरते समय भयभीत नहीं होता।

६७ इस लोकमें दानका फल कुछ फूल हो सकता है, किन्तु परलोकमें वह (दानी) दानका पारितोषिक पाता है। संसार-चक्रमें घूमनेवाले मनुष्यके लिए दानके समान दूसरा मित्र नहीं।

६८ जो (दानी) मर्त्यलोक या स्वर्गमें जन्म लेते हैं, वे अपने दानके कारण बराबरीवालोंसे ऊँचा पद पाते हैं; जो लोग घोड़े या हाथी होकर उत्पन्न होते हैं, वे भी (घोड़ों या हाथियोंके) प्रधान होकर दानका फल पाते हैं।

६९ दानद्वारा उसे स्वर्ग प्राप्त होता है, उपभोग उसे घेरे रहते हैं और शील उसकी रक्षा करता है। जो मनुष्य शान्त है और स्वयं समझ-बूझकर

(=ज्ञानपूर्वक) चलता है, वह स्वतन्त्र (=निराश्रय) है और बहु-संख्यक मनुष्योंके मार्गसे नहीं जाता।

७० अमृत पानेके लिए भी वह उदारताका आचरण करता है और दानकी बात सोचने में (=स्मृ) उसे आनन्द आता है; उस आनन्दके कारण अवश्य ही उसका चित्त एकाग्र हो जाता है।

७१ मानसिक एकाग्रताकी इस सफलता (=समुदय) से वह धीरे-धीरे जन्म व निरोधका ज्ञान प्राप्त करता है; क्योंकि दूसरोंको दान देनेसे दाताके हृदयमें रहनेवाले दोष क्षीण हो जाते हैं।

७२ कहा जाता है कि दाता दान दी जानेवाली वस्तुओंसे आसक्ति पहले ही अलग करता है; और क्योंकि वह सस्नेह चित्तसे दान करता है, इसलिए वह क्रोध व अभिमानका परित्याग करता है।

७३ जो दाता (दान) पानेवालेका आनन्द देखकर प्रसन्न होता है और इसलिए कृपण नहीं है और जो दान-फलका चिन्तन करता है, उसकी अश्रद्धा (=नास्तित्व) व अज्ञानरूपी अन्धकार (=तमस्) नष्ट हो जाते हैं।

७४ इसलिए दान देना निर्वाण (-साधना)का एक अंग है, क्योंकि इसके द्वारा वह लोभ जीता जाता है, अनार्य जिसका आश्रय लेते हैं और वह तृष्णा जीती जाती है, जिसके द्वारा दान देनेकी आदत नष्ट होती है; क्योंकि इस (दान देनेकी आदत) के होनेपर दोषोंके विनाशसे निर्वाण होता है।

७५ जैसे कुछ लोग छायाके लिए पेड़ पसन्द करते हैं, कुछ लोग फलके लिए और कुछ लोग फूल के लिए, वैसे ही कुछ लोग शान्तिके लिए अपनेको दान देनेमें लगाते हैं, तो दूसरे लोग सम्पत्तिके लिए।

७६ इसलिए खासकर गृहस्थ लोग द्रव्य-संचय नहीं करते, किन्तु अपने साधनके अनुसार दान देते हैं; और क्योंकि दान देना ही असार सम्पत्तिका सार है (सारादानं दानमाहुर्धनानां[1]) अतः सज्जनोंके चलनेका यही मार्ग है।

७७ भोजन देनेवाला बल देता है, वस्त्र देनेवाला भी सौन्दर्य देता है,

[1] देखिये जातकमाला, जातक ३, श्लोक २३।

किंतु जो धर्मात्माओंको निवास देता है वह संसारमें सब कुछ देता है।

७७८ सवारी देनेवाला भी आराम देता है और दीप देनेवाला प्रकाश देता है। अतः जो नैष्ठिक धर्मका उपदेश देता है वह अमर पद देता है, जो छीना नहीं जा सकता, (=अहार्यममृतं पदं)।

७९ कुछ लोग काम (उपभोगों)के लिए दान देते हैं, दूसरे सम्पत्तिके लिए, तीसरे यशके लिए, कुछ लोग स्वर्गके लिए और दूसरे कृपण नहीं होनेके लिए; किंतु तुम्हारे इस दानका कोई गूढ़ उद्देश्य नहीं है।

८० इसलिए साधुवाद तुम्हें, जिसकी इच्छा ऐसी (उत्तम) है। अपनी इच्छा पूरी करके सन्तुष्ट हो जाओ। तुम यहाँ काम (=रजस्) व अज्ञानरूपी अन्धकार (=तमस्)के साथ आये थे और यहाँसे ज्ञानद्वारा विशुद्ध-चित्त होकर जाओगे।"

८१ वह, जो कि (उचित) रास्तेसे (चलकर) तत्त्वको ठीक-ठीक पा चुका था, परम प्रसन्न होकर विहार (बनाने)की बातसे हार्दिक अनुराग करने लगा और उचित समयपर उपतिष्यके साथ चल पड़ा।

८२ तब वह कोशल-राजकी राजधानीमें आया और विहारके स्थानकी खोजमें इधर-उधर घूमने लगा। तब उसने मनोहर वृक्षोंसे भरा भव्य एवं उपयुक्त जेत-वन देखा।

८३ तब इसे खरीदनेके लिए वह जेतके पास गया, जो इसमें इतना आसक्त था कि इसे बेच नहीं सकता था। उसने कहा—"यदि आप द्रव्यसे इसे पूरा पूरा ढक भी दें तो भी मैं आपको यह भूमि नहीं लेने दूँगा।"

८४ तब सुदत्तने उसे वहाँ कहा—"मुझे उपवनकी जरूरत है" और इसके लिए आग्रह करने लगा। तब उसने इसे कोषसे ढक दिया और इसे धर्मका व्यवहार समझते हुए खरीदा।

८५ जब जेतने उसे द्रव्य देते देखा, तब वह बुद्धके प्रति अत्यन्त अनुरक्त हो गया और तथागतके लिए सारा शेष उपवन दे दिया।

८६ तब महर्षि उपतिष्यके साथ, जो निर्माण-कार्यका अध्यक्ष (नवकर्मिक) नियुक्त हुआ, अनाथपिण्डदने इसे जल्द तैयार करना चाहा और एक विशाल

रूपोज्ज्वल विहार बनाना शुरू किया,

८७ जो उसकी सम्पत्ति शक्ति व ज्ञानका मूर्त्त आकार था, पृथ्वीपर आये हुए कुबेर-प्रासादके भी समान था, उत्तर कोशलकी राजधानीके सौभाग्यके समान था और तथागतत्व (प्राप्त होने)की भूमिके समान था।

बुद्धचरित महाकाव्यका "अनाथपिण्डदकी दीक्षा" नामक अठारहवाँ सर्ग समाप्त।

उन्नीसवाँ सर्ग

पितापुत्र-समागम†

१ तब अपने ज्ञानसे विविध दर्शनोंके शिक्षकोंको जीतकर मुनि क्रमसे पाँच पर्वतोंके नगरसे (निकलकर) उस नगरकी ओर चले जहाँ उनका राजा पिता रहता था।

२ तब हजार भिक्षु भी चले, जिन्हें उन्होंने उसी क्षण प्रव्रजित किया था। वह अपने पिताके राज्यमें पहुँचे और उसे अनुगृहीत करनेके लिए पितृ-नगरके समीप ठहर गये।

३ लक्ष्य सिद्धकर आर्य लौट आये हैं, यह आनन्द-प्रद समाचार अपने विश्वस्त गुप्तचरोंसे सुनकर पुरोहित व बुद्धिमान् मंत्रीने राजासे सविनय निवेदन किया।

४ उनके आनेकी बात जानकर राजा आनन्दित हुआ और उन्हें देखनेकी इच्छासे वह सब नागरिकोंके साथ चल पड़ा, शीघ्रतामें वह साधारण शिष्टाचार (=धैर्य) भी भूल गया।

५ उसने कुछ दूरपर उन्हें शिष्योंसे घिरा देखा, जैसे ऋषियोंके बीच ब्रह्मा बैठा हो; और महर्षिके धर्मके प्रति आदर-भाव होनेके कारण वह रथसे उतर

---

† चीनी त्रिपिटक तथा तिब्बती कन्जुरके अन्तर्गत "रत्नकूट" (अर्थात् रत्नराशि) में ४९ सूत्र हैं, जिनमें एक है 'पिता-पुत्र समागम' अर्थात् पिता शुद्धोदनके साथ शाक्य-मुनिका मिलन। इस सूत्रके कुछ अंश "शिक्षा-समुच्चय" में पाये जाते हैं।

गया और पैदल ही उनके समीप गया।

६ मुनिको देखकर वह उनके समक्ष घबड़ा गया और कुछ बोल न सका; क्योंकि वह उन्हें न तो 'भिक्षु' कहकर ही पुकार सकता था और न 'पुत्र' कहकर ही।

* ७ जब उसने उनका भिक्षु-वेष देखा और अपने शरीरपरके विविध आभूषणोंका ख्याल किया, तब उसकी साँसें तेजीसे चलने लगीं, और आँसू बहाते हुए उसने अस्फुट वाणीमें विलाप किया:—

८ "उन्हें अपने समीप शान्तिपूर्वक निर्विकार होकर बैठे देखकर मैं पीड़ा से वैसे ही अभिभूत हो रहा हूँ, जैसे प्याससे आकुल पथिक, जो दूरवर्ती जलाशयके समीप जाकर उसे सूखा पावे।

९ जब कि मैं उनके उसी रूपको देख रहा हूँ, जैसे कोई अपने उस प्रिय जनकी चित्रित आकृतिको देखे, जो अब भी मनमें याद है, किंतु जो आवागमनके अन्तमें है, तो मुझे कुछ आनन्द नहीं हो रहा है जैसे (मुझे देखकर) इन्हें कुछ आनन्द नहीं हो रहा है।

१० सब पर्वतोंसे परिवेष्टित पृथ्वी इनकी होनी चाहिए, जैसे कृतयुगमें यह मान्धाताकी थी; तो भी वह, जिन्हें राजासे भी याचना नहीं करनी चाहिए, अब दूसरोंसे भीख माँगकर जीते हैं।

११ वह यहाँ धैर्यमें मेरु पर्वतसे, दीप्तिमें सूर्यसे, कान्तिमें चन्द्रमासे, गतिमें गजराजसे और वाणीमें वृषभसे बढ़कर है; तो भी पृथ्वी जीतनेकी जगह वह भिक्षाका अन्न खाते हैं।"

१२ तब बुद्धने जाना कि अब भी उनका पिता उन्हें अपने मनमें अपना पुत्र समझ रहा है और राजा (=लोकाधिदेव) के ऊपर करुणा करके वह उसके लिए आकाशमें उड़ गये।

१३ उन्होंने अपने हाथसे सूर्यका रथ स्पर्श किया और वह पवन-पथ (आकाश) में पैदल चले; उन्होंने अपने एक शरीरको अनेकमें परिणत किया और फिर अनेक शरीरोंको एक बनाया।

१४ बिना किसी बाधाके उन्होंने पृथ्वीमें ऐसे अवगाहन किया जैसे

पानीमें, और पानीकी सतहपर ऐसे चले जैसे सूखी भूमिपर; और उन्होंने शान्त होकर पर्वतमें प्रवेश किया और उसमें ऐसे निर्बाध होकर चले जैसे आकाशमें चल रहे हों।

१५ आधे शरीरसे उन्होंने जल बरसाया और आधेसे वह ऐसे प्रज्वलित हुए जैसे अग्निसे। गौरवपूर्वक चमकते हुए वह आकाशमें ऐसे दिखाई पड़े जैसे पर्वतपरकी उज्ज्वल ओषधियाँ चमक रही हों।

१६ इस तरह उन्होंने राजाके मनमें आनन्द उत्पन्न किया, जो उनसे उतना अनुराग करता था, और आकाशमें दूसरे सूर्यके समान बैठे हुए उन्होंने नरपतिके लिए धर्मकी व्याख्या की:—

१७ "हे राजन्, मैं जानता हूँ कि अपनी दयालु प्रकृतिके कारण आप मुझे देखकर दुःखी हो रहे हैं। पुत्रवान् होनेका आनन्द छोड़िये और शान्त होकर आर मुझसे पुत्रकी जगह धर्म ग्रहण कीजिए।

१८ पूर्वमें किसी पुत्रने पिताको जो कभी नहीं दिया पूर्वमें किसी पिताने पुत्रसे जो कभी नहीं पाया, जो राज्य अथवा स्वर्गसे भी अच्छा है, हे राजन्, आप उस परम उत्तम अमृतको जानें।

१९ हे भूपति, कर्मका स्वभाव, कर्मकी उत्पत्ति-भूमि (=योनि), कर्मका आश्रय और कर्मके विपाकसे होनेवाला भाग पहचानिये और जगत्को कर्मके वशीभूत जानिये; इसलिए वह कर्म कीजिए जो हितकारी है।

२० जगत्के वास्तविक सत्य (=तत्त्व)पर विचार कीजिए। सत्कर्म मनुष्य का मित्र है और कुकर्म विपरीत (अर्थात् शत्रु)। (मरते समय) आपको सब कुछ छोड़ना पड़ेगा और निराश्रय हो अकेला ही जाना पड़ेगा, केवल कर्म आपके साथ जायँगे।

२१ स्वर्गमें या नरकमें या पशुओंमें या मर्त्य-भूमिमें जीवलोक कर्मके आश्रयसे चलता है। भवका कारण त्रिविध है, उत्पत्तिभूमि (=योनि) त्रिविध है और मनुष्यों द्वारा किये जानेवाले कर्म त्रिविध हैं।

२२ इसलिए अपनेको सम्यक् रूपसे अन्य पक्ष (त्रिवर्ग) में लगाइये और शरीर व वाणीके व्यापार (कृत्य) शुद्ध कीजिए। मानसिक शान्तिके लिए

यत्न कीजिए। यही आपका लक्ष्य है, दूसरा नहीं।

२३ जगत्को समुद्र-तरंगके समान चञ्चल जानते हुए और इसकी भावना करते हुए आपको (रूप-,अरूप-, व काम-) भवमें आनन्द नहीं पाना चाहिए और कर्म-शक्ति क्षीण करनेके लिए धार्मिक व श्रेयस्कर कर्म करना चाहिए।

२४ विदित हो कि संसार सदा नक्षत्र-मण्डलके समान घूमता रहता है। अपनी पराकाष्ठा पार करके देवता भी स्वर्गसे गिरते हैं; तब मानवी सत्तापर कौन कितना भरोसा करे ?

२५ निर्वाण-सुखको परम सुख और आन्तरिक (=अध्यात्म) आनन्द-को परमानन्द जानिये। वैभव-सुख साँपवाले घरके समान विपत्तिपूर्ण हैं, यह देखकर कौन आत्मवान् (संयतात्मा) व्यक्ति उनमें आनन्द पायेगा ?

२६ इसलिए इस जगत्को जलते हुए घरके समान विपत्ति-ग्रस्त देखिए और उस पदकी खोज कीजिये जो शान्त एवं ध्रुव है, जहाँ न जन्म है न मौत, न श्रम है न दुःख।

२७ दोषोंकी विपक्षी सेनाको पराजित कीजिए, जिसके लिए सम्पत्ति राज्य अस्त्र घोड़े या हाथीकी जरूरत नहीं है। एक बार उन्हें जीत लेनेपर जीतनेके लिये कुछ और नहीं रह जाता है।

२८ दुःख, दुःख-समुदय, (दुःख-) उपशम और उपशम-मार्गको समझिये। इन चारोंको पूर्णतः समझ लेनेसे महाभय व दुर्गतियोंका निरोध होता है।"

२९ सुगतके चमत्कार-प्रदर्शनसे राजाका चित्त उपदेश (ग्रहण करने)के लिए उपयुक्त क्षेत्र पहले ही हो गया था, इसलिए अब सुन करके धर्म प्राप्त करनेपर वह रोमांचित हो गया और हाथ जोड़कर उसने ये वचन कहे—

३० "आपके कार्य बुद्धिमत्तापूर्ण और सफल हैं; क्योंकि आपने मुझे महादुःखसे मुक्त किया है। मैं, जो पहले विपत्तिपूर्ण पृथ्वीकी प्राप्तिमें दुःख-वृद्धिके लिए आनन्द पाता था, अब पुत्रवान् होनेके फलमें आनन्द पा रहा हूँ।

३१ राज्य-लक्ष्मीका परित्याग कर आप ठीक ही (=स्थाने) चले गये।

ठीक ही आपने कठोर श्रम किया और ठीक ही आप प्रियने प्रिय स्वजनोंको छोड़ा और हमारे ऊपर करुणा की।

३२ आर्त जगत्के हितके लिए आपने यह नैष्ठिक ज्ञान पाया है, जो पूर्वमें देवर्षियों या राजर्षियोंको प्राप्त नहीं हुआ।

३३ यदि आप चक्रवर्ती सम्राट् होते, तो आप मुझे यह आनन्द नहीं देते जो इस समय मैं, इन चमत्कारों एवं आपके धर्मको देखकर दृढ़तापूर्वक अनुभव कर रहा हूँ।

३४ यदि आप इस जन्ममें भी इस जीवनसे बँधे रहते, तो चक्रवर्ती होकर आप मानव जातिका पालन करते, किन्तु अब मुनि होकर भव-चक्रके महादुःखको तोड़कर आप जगत्के लिए धर्मोपदेश कर रहे हैं।

३५ इन ऋद्धियों एवं गम्भीर ज्ञानका प्रदर्शन कर और भव-चक्रकी विपत्तियोंपर पूर्ण विजय प्राप्तकर राज्यके विना भी आप संसारके ईश्वर हो गये हैं, किन्तु राज्य-समृद्धिके रहते हुए भी आप वैसा नहीं होते, यदि आप असहाय होकर भव-चक्रमें पड़े रहते।"

३६ शाक्य-राजने, जो उन करुणामयके धर्मोपदेश (ग्रहण करने) के योग्य हो गया था, ऐसी बहुत-सी बातें कहीं और यद्यपि वह राजा और पिताके पदपर था, तो भी उसने अपने पुत्रको प्रणाम किया, क्योंकि वह सत्यमें प्रवेश कर चुका था।

३७ बहुतसे लोगोंको, जिन्होंने मुनिका ऋद्धि-बलपर अधिकार देखा, जिन्होंने तत्त्वमें प्रवेश करानेवाले शास्त्रको समझा और जिन्होंने राजाको—उनके पिताको—उनका सम्मान करते देखा, घर छोड़नेकी इच्छा हुई।

३८ तब कर्म-फलमें स्थित बहुतसे राजकुमारोंने उस धर्म-विधिको ग्रहण किया और वैदिक मन्त्रों एवं उपभोगके बड़े-बड़े साधनोंकी उपेक्षा करके, रोते हुये प्रिय परिवारोंका परित्याग किया।

३९ आनन्द, नन्द, कृमिल, अनिरुद्ध, नन्द, उपनन्द, कुण्ठधान और शिष्योंका मिथ्या शिक्षक देवदत्त भी मुनिका उपदेश पाकर घर से निकल गये।

४० तब पुरोहित-पुत्र महात्मा उदायीने उसी मार्गका अनुसरण किया;

और उन लोगोंका निश्चय देखकर अत्रि-पुत्र (आत्रेय) उपालिने भी उसी मार्गपर चलनेका इरादा किया ।

४१ अपने पुत्रकी शक्ति देखकर राजाने भी परम अमरत्वकी धारामें प्रवेश किया और आसक्तिसे विमुख होकर उसने राज्य अपने भाईको सौंपा और (स्वयं) महलमें राजर्षिकी तरह आचरण करते हुए रहने लगा ।

४२ इन तथा अन्य बन्धुओं, मित्रों एवं अनुयायियोंको विनीत (दीक्षित) कर, बुद्धने उचित समयपर, पूरे आत्म-संयमके साथ, नगरमें प्रवेश किया, जहाँ रोते हुए पुरवासियोंने उनका सत्कार किया ।

४३ राजाके पुत्र सर्वार्थसिद्ध अपना काम पूरा करके नगरमें प्रवेश कर रहे हैं, यह समाचार सुनकर महलकी स्त्रियाँ द्वारों एवं वातायनोंकी ओर दौड़ीं।

४४ काषाय वस्त्रधारी होनेपर भी उन्हें संध्याकालीन बादलसे आधा ढके सूरजके समान चमकते देखकर, स्त्रियोंने आँसू बहाये और अपने कर-कमल जोड़कर उन्हें प्रणाम किया ।

४५ उन्हें नीची-निगाह चेहरेसे चलते तथा धर्म एवं शरीर-सौन्दर्यसे प्रकाशित होते देखकर स्त्रियोंने दया एवं भक्ति प्रकट की और अश्रु-म्लान-आँखोंसे उन्होंने इस तरह विलाप किया:—

४६ "शिर मुड़ानेसे व फेंके हुए चिथड़े पहननेसे यद्यपि उनका सुन्दर शरीर बदल गया है, तो भी अपने शरीरके सुनहले रंगसे वह व्याप्त हैं। वह जमीनकी ओर देखते हुए चल रहे हैं।

४७ जो श्वेत आतपत्रके नीचे आश्रय पाने योग्य थे, ..., ..., और जो विजेता होने योग्य थे, वह अब भिक्षा-पात्र लिए घूम रहे हैं।

४८ जो घोड़ेकी पीठपर उस छातेकी छायाके नीचे, जो तमाल-पत्र-युक्त कपोलवाले सुन्दरि-मुखके समान उज्ज्वल हो, सवार होने योग्य थे, वह भिक्षापात्र धारण किये हुए पैदल जा रहे हैं।

४९ जो विपक्षी राजकुमारोंको विनीत (नम्र) करने योग्य थे और जो उज्ज्वल मुकुट पहनकर स्त्री-समूहों एवं अपने परिचारक-वृन्दद्वारा देखे जाने योग्य थे, वह आगेकी ओर केवल जुएकी दूरी तक जमीन देखते हुए (=अवेक्ष-

माणो युगमात्रमुर्व्याः †) चल रहे हैं।

५० यह उनका कैसा दर्शन है, वे कैसे भिक्षु-वेष हैं, कौनसा लक्ष्य वह खोज रहे हैं, सुख उनका शत्रु क्यों हो गया है कि वह व्रतोंमें आनन्द पायें, स्त्रियां और बच्चोंमें नहीं ?

५१ राजाकी पुत्र-वधू यशोधरा निश्चय ही शोकसे ग्रस्त हुई, तो भी उसने कैसा दुष्कर कर्म किया कि अपने पतिके इस आचरणका समाचार सुनकर वह जीती रही और विनाशको प्राप्त नहीं हुई।

५२ रूपके अनुरूप ही चमकती हुई पुत्रकी आकृतिको, जो अब आभूषण-रहित (=विवर्ण) है, देखकर क्या नरपति भी अपने पुत्रसे अनुराग करते हैं या उन्हें हानिकारक शत्रु समझते हैं ?

५३ अश्रु-जलसे नहाये हुए अपने पुत्र राहुलको देखकर यदि वह उसमें आसक्त (अनुरक्त) नहीं होते हैं, तो भला कोई क्या सोचे इन दृढ़ व्रतोंके बारेमें, जिनके कारण मनुष्य अपने स्नेही स्वजनसे विमुख होता है !

५४ व्रतोंके आचरणसे न तो उनकी दीप्ति ही नष्ट हुई है, न उनके शरीरका रूप ही और न उनकी गति ही; और इन गुणोंसे चमकते हुए उन्होंने शान्ति प्राप्त की है तथा अपनेको विषयों से अलग किया है।"

५५ विविध मतावलम्बियोंके समान भिन्न-भिन्न मत ग्रहण करती हुई स्त्रियोंने इस तरह बहुत विलाप किया। बुद्धने भी अनासक्त (कठोर, दृढ़) चित्तसे अपने जन्म-नगरमें प्रवेश किया और भिक्षा प्राप्त कर वह न्यग्रोध-वन में लौट गये।

५६ तृष्णा-रहित चित्तसे तथागतने अपने पितृ-नगरमें भिक्षाके लिए प्रवेश किया था; और पूर्वमें श्रेय नहीं करनेसे जिनके साधन अल्प थे और जो बहुत कम भीख दे सकते थे उन लोगोंको मुक्त करनेकी, जिन श्रमणोंको अपने चित्तपर संयम प्राप्त नहीं हुआ था और जिन्हें (भिक्षाटनके) ऐसे कामोंसे सन्तोष नहीं होता था उन्हें दृढ़ (समर्थ) करनेकी, संसारको "तुम्हारा मंगल हो" यह कह सकनेकी, और उसी प्रकार शास्त्रोपदेश करनेकी अपनी

† देखिये जातकमाला, जातक ४ श्लोक ४।

इच्छा उन्होंने याद रक्खी ।

बुद्धचरित महाकाव्यका "पितापुत्र-समागम" नामक
उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त ।

बीसवाँ सर्ग

जेतवन-स्वीकार

१ (कपिलवस्तुमें) महा-जनसमूहपर दया दिखानेके बाद (बुद्ध) उस नगरकी ओर चले, जो प्रसेनजित्के बाहु-बलसे रक्षित था।

२ तब वह उस गौरव-पूर्ण जेत-वनमें पहुँचे, जो अशोकके बिखरे फूलोंसे उज्ज्वल था, मत्त कोकिलोंके कूजनसे गुञ्जित था और कैलासके बर्फके समान उजले घरोंकी पंक्तिसे युक्त था।

३ तब सुवर्ण एवं श्वेत मालासे अलंकृत शुद्ध जल-कलश लेकर सुदत्तने उचित समयपर तथागतको जेतवन भेंट किया।

४ तब शाक्य-ऋषिको देखनेकी इच्छासे राजा प्रसेनजित् जेत-वनकी ओर चला। वहाँ पहुँचकर उसने श्रद्धापूर्वक उन्हें प्रणाम किया और बैठकर उनसे निवेदन किया:—

५ "हे ऋषि, इस नगरमें आप ठहरनेकी इच्छा करते हैं, इससे निश्चय ही कोशल-निवासियोंका सौभाग्य-उदय होगा। क्योंकि क्या वह देश, जो ऐसे तत्त्वदर्शीके आश्रयसे वञ्चित है, चौपट या अभागा नहीं है ?

६ आपके दर्शनसे और हमारे ऊपर अनुग्रह करनेके लिए हमारा प्रणाम आपके द्वारा स्वीकृत होनेसे हमें वह संतोष हो रहा है जो सज्जनोंसे मिलनेपर भी लोगोंको अनुभव नहीं होता है।

७ हवा जिस किसी चीज पर बहती है उसीका गुण (अर्थात् गंध) ग्रहण कर लेती है, और पक्षी, मेरुके सम्पर्कमें आकर, अपना स्वाभाविक शरीर खो बैठते है और सुवर्ण में परिणत हो जाते हैं।

८ एक साधु पुरुष, जो इहलोक व परलोकके ईश्वर हैं, इसमें ठहरे हुए हैं, इसीलिए मेरा उपवन देखनेमें वैसा ही गौरवमय है जैसा कि त्रिशंकुका

महल, जिसमें महर्षि गाधि-पुत्र (विश्वामित्र) का स्वागत हुआ था।

९ संसारके विविध लाभ अनित्य व विनाशवान् हैं, किन्तु वे असंख्य चीजें, जो आपके समीप होनेसे प्राप्त होती हैं, विनाशवान् नहीं हैं।

१० हे साधु, आपके शास्त्रका दर्शन हो, इसके अतिरिक्त दूसरा कोई लाभ नहीं जाना जाता है। हे शास्ता, मैंने दुःख भोगा है और मैं राग एवं राजधर्मसे पीड़ित हुआ हूँ।"

११ मुनिने इन्द्र-सदृश राजाके ये और ऐसे ही दूसरे वचन कृपापूर्वक सुने और उसे लोभ एवं काममें आसक्त जानकर उसके मनको प्रेरित करनेके लिए यों उत्तर दिया:—

१२ "हे राजन्, यह बहुत अचरजकी बात नहीं कि आप साधु ··· के प्रति इस तरह कहें या ऐसा व्यवहार करें।

१३ जो लोग नीचेसे ··· अपने हितैषी धर्मात्मा (=आर्य) पुरुषोंके पास आना चाहते हैं ···।

१४ हे भूपति, मैं आपसे कुछ कहना चाहता हूँ, इसलिए कि आपकी मानसिक अवस्था ऐसी है। अतः आप मेरा उपदेश ग्रहण करें और वैसा करें जिससे यह सफल हो।

१५ हे नरपति, जब काल (आप) राजाको बाँधकर खींचेगा, तब न तो स्वजन आपके पीछे जायँगे, न मित्र, न राज्य। सब लोग दुःखी व विवश होकर अलग हो जायँगे। केवल आपके कर्म ही छायाकी भाँति आपके साथ जायँगे।

१६ इसलिए यदि आप स्वर्ग व सुयश चाहते हैं, तो धर्मानुसार राज्यकी रक्षा कीजिए। क्योंकि मोहवश धर्मको आकुल करनेवाले राजाके लिए स्वर्गमें थोड़ा-सा भी राज्य (स्थान) नहीं है।

१७ इस संसारमें धर्मानुसार राज्यकी रक्षा करनेवाले कृशाश्वने स्वर्ग प्राप्त किया, जब कि इस संसारमें मोहवश धर्मसे विमुख रहनेवाले नृपति निकुम्भने काशीमें पृथ्वीमें प्रवेश किया।

१८ हे सौम्य, मैंने भले-बुरे कर्मोंका यह दृष्टान्त आपको दिया। अतः

अपनी प्रजाओंका सदा अच्छी तरह पालन कीजिए और खूब समझ-बूझकर उचितके लिए दृढ़तापूर्वक यत्न कीजिए।

१९ मनुष्योंको कभी तंग न कीजिए, अपने इन्द्रियोंको कभी स्वतन्त्र न छोड़िये, पापियोंका संग या क्रोध न कीजिए, अपने मनको बुरे रास्तोंपर न भटकने दीजिए।

२० अभिमानवश धर्मात्माओंको कष्ट न दीजिए, मित्र-तुल्य तपस्वियोंको उत्पीड़ित न कीजिए, पापके प्रभावमें रहते हुए पवित्र व्रत मत ग्रहण कीजिए और बुरे विचारों (=कुदृष्टि) में मत पड़िए।

२१ अशुभका आश्रय न लीजिए, कुकर्मोंमें आसक्त न होइये, मदसे अभिभूत (युक्त) न होइये, अप्रसन्नता या असहिष्णुतासे न सुनिये, अपना यश क्षीण न कीजिये या अपना मन असत्यमें न लगाइये, शास्त्र-सम्मत अंशसे अधिक भूमि-कर न लीजिए।

२२ मनको स्थिर रखिए और धर्मका पालन कीजिए, सज्जनोंका संग कीजिए और ...; ऐसा कीजिए जिससे (इस जन्ममें) उत्कर्ष प्राप्त कर फिर (जन्मान्तरमें) आप उत्तम पद प्राप्त कर सकें।

२३ वीर्यकी रक्षा करते हुए, धैर्य रखते हुए, विद्या उपार्जन करते हुए, दोषोंको जीतते हुए, मृत्युको सदा स्मरण करते हुए, आप आर्य-पुरुषका कार्य करें और माहात्म्य-लाभ करके मार्ग प्राप्त करें (=माहात्म्य-लाभाद् अधिगच्छ मार्गम्)।

२४ हे मित्र, आपको फिर वह काम करना चाहिए, जिससे इस फलकी रक्षा (उत्पत्ति ?) होती है; क्योंकि बुद्धिमान् मनुष्य, जिसने (पूर्वमें) यह कर्म किया है, उस बीजको बोता है जिसका फल वह देख चुका है।

२५ इस जगत्‌में जो मनुष्य ऊँचे पदपर रहकर पापमें आसक्त होता है वह प्रकाशमें है, किंतु उसका चित्त अन्धकारमें स्थित है; और जो मनुष्य धर्म-रत (=धर्म-प्रधान) रहता हुआ भी मनुष्योंका प्रधान नहीं है वह अंधकारमें है किंतु उसका चित्त प्रकाशमें है।

२६ जो कोई ऊँचे पद (या कुल)का होकर धर्माचरण करता है, उसका

चित्त अत्यन्त विशद हो जाता है, और जो कोई नीच पद (या कुल)का होकर पाप कर्म करता है, उसका चित्त अत्यन्त तमोमय हो जाता है।

२७ इसलिए, हे राजन् , इन चार समूहोंका अस्तित्व जानते हुए आपकी जैसी इच्छा हो वैसा यत्न करें, किंतु यदि आप आनन्द-भोग करना चाहते हैं, तो आप अपनेको निचली तीन श्रेणियोंमें पायेंगे, पहलो (उत्तम)में नहीं।

२८ किसी भी मनुष्यके लिए दूसरेके खाते कुशल कर्म करना असंभव है, या यदि वह करे भी तो इसका फल दूसरेको नहीं मिलेगा। अपने ही कर्मका फल नष्ट नहीं होता है, किंतु अपने ही द्वारा अनुभव किया जाता है, और जो किया नहीं जाता है उसकी फल-प्राप्ति वास्तविक नहीं मानी जाती है।

२९ क्योंकि जो किया नहीं जाता है (= अकृत है) उसकी शक्ति नहीं है, इसलिए अकृतसे परलोकमें श्रेय नहीं मिलता है, और क्योंकि इससे जगत्में जन्म-विनाश (= विभव) नहीं होता है, अतः आप अपनेको सत्कर्म-मार्गमें लगाये।

३० उस दुष्ट मनुष्यको, जो अत्यन्त पाप करता है, जीव-लोकमें आत्म-सुख नहीं मिलता है। अपने ही खाते पाप करके परलोकमें वह निश्चय ही स्वयं फल भोगेगा।

३१ चार महापर्वत, हे महाराज, एक साथ आकर संसारको पीसते हैं, धर्मानुसार यथाशक्ति किये गये विविध कर्मोंके आश्रयके विना किया ही क्या जा सकता है ?

३२ उसी प्रकार जब जन्म जरा रोग और मृत्यु भी, ये चार, एक साथ आते हैं, तब सारा संसार विवश होकर चक्कर काटता है, जैसे चार पहाड़ोंसे घिरा हो।

३३ जब यह दुःख हम बेवसोंपर आता है और इसके विरुद्ध हमें आश्रय प्रतिरोध-शक्ति या त्राण नहीं मिलता है, तब अव्यर्थ व अक्षय धर्म ग्रहण करनेके अतिरिक्त हमारे लिए (दूसरी) कोई औषधि नहीं।

३४ क्योंकि संसार अनित्य है और बिजलीकी चमकके समान क्षणिक इन्द्रिय-सुखोंमें आसक्त है और क्योंकि यह (संसार) मौतकी अँगुलीके अग्र-

भागपर स्थित है, इसलिए मनुष्यको धर्माचरण नहीं करनेका फल नहीं भोगना चाहिए।

३५ वे अनेक नृप, जो महेन्द्रके समान थे, देव युद्धोंमें लड़े, वे शक्तिशाली और अभिमानी (?) थे, तो भी कालक्रमसे वे दुःखके भागी हुए।

३६ सब जीवोंको धारण करनेवाली धरती भी नष्ट होती है, और मेरुपर्वत प्रलय-अग्निसे जल जाता है; महासागर सूख जाता है, फिर फेनके समान क्षणिक मर्त्य-लोक की विनाशशीलताका क्या कहना ?

३७ हवा जोरोंसे बहकर भी बन्द हो जाती है, सूरज जगत्को तपाकर भी अस्त हो जाती है, उसी तरह आग जलकर भी बुझ जाती है; जो कुछ है वह सब, मैं समझता हूँ, ऐसा ही है और परिवर्तनशील है।

३८ यद्यपि इस शरीरका देरतक सावधानीपूर्वक पालन किया जाता है, और विविध उपभोगोंसे लालन किया जाता है, तो भी यह यहाँ ··· कुछ ही दिनोंतक रहनेवाला है।

३९ विदित हो कि संसारकी इस अवस्था में लोग, अभिमान एवं मदका पोषण करते हुए, समयपर ऊँचो शय्याओंपर सोनेके लिए लेटते हैं; आप उनपर न लेटें, किंतु परम श्रेयके लिये जगे रहें।

४० भव-चक्र की निरंतर चलती रहती दोलापर संसार चढ़ता है और असावधान रहता है, यद्यपि इस संसारका पतन ··· निश्चित है।

४१ उसका सेवन न करें जिसका परिणाम प्रिय नहीं होता है, वह न करें, जिसका फल बुरा होता है; वह मित्र मित्र नहीं है जो शुभसे युक्त नहीं है और वह ज्ञान ज्ञान नहीं है जो दुःख दूर नहीं कर सकता।

४२ यदि आपको ज्ञान है, तो आपके लिए पुनर्जन्म नहीं, या यदि जन्म हो भी तो यह अरूप अवस्थामें होगा; यदि आप शरीर-धारण करते रहें, तो आप विषयोंसे मुक्त नहीं हो सकते, और काम-लोक (= काम-भव) अनित्य एवं अनर्थकारी है।

४३ क्योंकि कर्म-शक्तिके अधीन होकर अरूप देव भी अस्थायी एवं कालके वशीभूत हैं, अतः अप्रवृत्तिमें अपना चित्त लगाइये; यदि प्रवृत्ति नहीं,

तो दुःख नहीं।

४४ क्योंकि शरीर, जो कि चलना, खड़ा होना आदि विविध कार्योंपर आश्रित है, दुःखका मूल है, इसलिए ज्ञानके होनेसे—ज्ञान जो कि अरूप अवस्थाके होनेमें सहायक है—शरीररूप ऋणसे मुक्ति होती है।

४५ क्योंकि काम (=वासना) के कारण संसार जन्म लेता है और उसके द्वारा अत्यंत महादुःख भोगता है, इसलिए जब मनुष्य अपनेको काम-भवसे अलग (= विविच्) करेगा, तब वह दुःखमें आसक्त न होगा और न पीड़ित होगा।

४६ इसलिए चाहे अरूप-देवोंके बीच या रूप-देवोंके बीच, जो कि कामके अधीन हैं ही, पुनर्जन्म की शक्ति (विद्यमान) होनेके कारण प्रवृत्ति बन्द नहीं होती है, फिर छः काम-वासनाओंके क्षेत्रमें रहनेवालों की प्रवृत्ति कहाँसे बन्द होगी?

४७ तीन भवों (काम-भव, रूप-भव, अरूप-भव) के इस तरह अनित्य दुःखमय अनात्म और सदा प्रज्वलित होनेपर लोगोंके घुसनेके लिए आश्रय-स्थल नहीं, जैसे कि उन चिड़ियोंके लिए (आश्रय-स्थल नहीं) जिनका निवास-वृक्ष जल रहा हो।

४८ यह परम ज्ञेय है, (इसके अतिरिक्त) और कुछ ज्ञेय नहीं है। यह उत्तम ज्ञान (=मति) है, (इसके अतिरिक्त) और कुछ ज्ञान नहीं है। यह उत्तम कार्य है, (ऐसा)...और कुछ नहीं माना जाता है।

४९ निश्चय ही ऐसा नहीं सोचना चाहिये कि यह धर्म गृहस्थोंके लिए नहीं है। वनमें रहता हो या घरमें, वास्तवमें वही (ज्ञाता) है जो शान्ति प्राप्त करता है।

५० आतपसे दग्ध मनुष्य पानीमें प्रवेश करता है, बादलसे सब किसीको सुख (आराम) मिलता है। जिसे प्रदीप है वह अन्धकारमें देखता है। योग प्रमाण है, न कि उम्र (=वयस) या वंश।

---

५० अन्तिम पादका मूल यह हो सकता है—"योगः प्रमाणं न वयो न वंशः।"

५१ कुछ लोग, यद्यपि वे बुढ़ापेमें (= वयसि) वनमें रहते हैं, योगाभ्यास नहीं कर सकते और व्रत-भंग करके दुर्गतिको प्राप्त होते हैं; दूसरे लोग घरमें रहकर भी अपने कर्मोंको विशुद्ध करते हैं और सावधान (=अप्रमत्त) रहते हुए नैष्ठिक पद प्राप्त करते हैं।

५२ अज्ञान (= तम) रूप सागरमें, कुदृष्टियाँ ही जिसकी तरंगें हैं और जन्म ही जिसका जल है, संघर्ष करनेवाले लोगोंके बीच केवल वही उस (सागर) से त्राण पाता है, जिसे स्मृति (=जागरूकता) एवं वीर्यरूपी पतवारोंसे युक्त प्रज्ञारूपी नाव है।"

५३ इस तरह अत्यन्त विषयासक्त राजाने सर्वज्ञसे यह धर्म-तत्त्व प्राप्त किया और अपनेमें यह विश्वास उत्पन्न होनेपर कि अकुशल राज्य अनित्य एवं चंचल है, वह मद-मुक्त हाथीकी तरह गम्भीर होकर श्रावस्ती लौट गया।

५४ भूपतिने उन्हें प्रणाम किया, यह जानकर दूसरे पण्डितोंने (=तार्किक) उन दशबल (शास्ता) को दिव्य शक्ति प्रदर्शन करनेके लिए चुनौती दी; और जब पृथ्वी-पतिने उनसे वैसा करनेके लिए अनुरोध किया, तब संयतात्मा (= जितात्मा) मुनि दिव्य शक्ति दिखानेको राजी हुए।

५५ तब मुनि अपने प्रभा-वर्षी मण्डलके साथ ऐसे चमकने लगे, जैसे सूर्य ताराओंको निष्प्रभ कर रहा हो, और उन्होंने भाँति-भाँतिकी दिव्य शक्तियों द्वारा विविध मतोंके शिक्षकोंको पराजित करके सबको आनन्दित किया।

५६ तब श्रावस्तीके लोगों द्वारा इस (ऋद्धि-प्रदर्शन) के लिये सम्मानित एवं पूजित होकर वह अनुत्तर माहात्म्यपूर्वक (वहाँसे) चल पड़े और अपनी माताके हितके लिये धर्मोपदेश करनेके लिए स्वर्ग-लोक (=त्रिविष्टप) के ऊपर चढ़ गये।

५७ तब मुनिने अपने ज्ञानद्वारा स्वर्गमें रहनेवाली अपनी माताको दीक्षित किया; और वर्षा-ऋतु वहीं बिताकर तथा दिव्य देवोंके शासकसे उचित रीतिसे भिक्षा ग्रहणकर वह स्वर्ग-लोकसे संकाश्यमें उतरे।

५८ देवगण, जो शान्ति प्राप्त कर चुके थे, अपने विमानोंमें खड़े रहे और अपनी आँखोंसे उनका अनुसरण किया, जैसे पृथ्वीपर गिर रहे हों, और

उनका सम्मान करते समय पृथ्वीके अनेक राजाओंने अपने मुख ऊपर उठाकर अपने मस्तकोंसे उनका स्वागत किया।

बुद्धचरित महाकाव्यका "जेतवन-स्वीकार" नामक
बीसवाँ सर्ग समाप्त।

इक्कीसवाँ सर्ग

प्रव्रज्या-स्रोत

१ स्वर्गमें अपनी माताको तथा निर्वाणके इच्छुक दूसरे देवों (=दिवौकः)-को दीक्षित करनेके बाद मुनि पृथ्वीपर दीक्षा पाने योग्य जीवोंको दीक्षित करते हुए घूमने लगे।

२ तब पाँच पर्वतोंके बीचमें स्थित नगरमें विनायकने ज्योतिष्क, जीवक, शूर, श्रोण और अंगदको विनीत (प्रव्रजित) किया।

३ उन्होंने राजपुत्र अभय, श्रीगुप्त, उपालि, न्यग्रोध, और दूसरोंको, जो (नित्यता और विनाशके) दो अन्तोंको मानते थे, उनके पूर्व-मतोंसे विमुक्त किया।

४ उन्होंने पुष्कर नामक गान्धार-राजको दीक्षित किया, जिसने धर्म-श्रवण करते ही राज्य-लक्ष्मीका परित्याग किया।

५ तब उन विपुल-पराक्रमने विपुल पर्वतपर हैमवत और सातान्न यक्षोंको दीक्षित किया।

६ जीवकके आम्र-वनमें रातके समय पाँच सौ रानियोंके साथ राजा (अजातशत्रु)को गुणदर्शी बुद्धने धर्ममें स्थापित किया।

७ तब पाषाण-पर्वतपर शान्ति-परायण पारायण (नामक) ब्राह्मण आधी गाथाके सूक्ष्म अर्थद्वारा दीक्षित हुआ।

८ तब वेणु-कण्टकमें उन्होंने नन्दकी साध्वी माताको प्रव्रजित किया, जो उत्तम जागरूकता (= सत्स्मृति)—द्वारा अपनी आँखोंके आगे (गुप्त) कोषों-को देखती थी।

---

७ इसका उत्तरार्ध चीनी अनुवादसे लिया गया है।

९ तब स्थाणुमती गाँवमें ब्राह्मण–श्रेष्ठ कूटदत्त, जो सब प्रकारके यज्ञ करना चाहता था, निर्वाण-धर्ममें प्रवेश कराया गया।

१० तब विदेह पर्वतपर पञ्चशिख (गंधर्व-पुत्र), असुरों और देवोंको (धर्ममें) दृढ़ विश्वास हुआ।

११ तब अंग नगरमें पूर्णभद्र यक्ष तथा श्रेष्ठ, दण्ड, श्वेत, पिङ्गल व चण्ड (नामक) दो बड़े साँप (= महानाग) दीक्षित हुए।

१२ आपण नगरमें केन्य व शैल (नामक) ब्राह्मण, जो (स्वर्गमें जन्म लेनेके लिए) तप कर रहे थे, निर्वाण-पथपर लाये गये।

१३ सुह्मोंके बीच भगवान्ने दिव्य शक्ति (ऋद्धि)के प्रभावसे अंगुलिमाल ब्राह्मणको विनीत किया, जो सौदासके समान क्रूर था।

१४ भद्रमें एक भद्र पुरुषके पुत्रसे, जिसका नाम मेण्ढक था, जिसकी आजीविका अच्छी थी, जो उदार दाता था और जो सम्पत्तिमें पूर्णभद्रके समान था, सम्यक् दृष्टि ग्रहण कराई गई।

१५ तब विदेह नगरमें वक्ता-श्रेष्ठने उपदेशद्वारा ब्रह्मायु नामक व्यक्तिको जीता, जिसकी आयु ब्रह्माकी-सी लम्बी थी।

१६ उन्होंने वैशालीके जलाशयमें मांस-भक्षक (मर्कट नामक) राक्षसको तथा सिंह उत्तर व सत्यक-प्रमुख लिच्छवियोंको भी दीक्षित किया।

१७ तब अलकावती नगरीमें वह आर्यकर्मा, भद्र नामक एक सदाशय (उत्तम आशयवाले) यक्षको धर्म-पथपर ले आये।

१८ तब एक अत्यन्त अकुशल अटवी (जंगल) में बुद्धने आटविक यक्षको और कुमार हस्तकको उपदेश दिया।

* १९ तब...नगरमें निर्वाण-दर्शीने नागायन यक्षको निर्वाणका उपदेश दिया और यक्ष-राजने उन्हें प्रणाम किया।

२० गयामें ऋषिने टङ्कित ऋषियोंको और खर तथा शूचीलोम नामक दो

---

१३ सुह्म=हजारीबाग, संथाल-पर्गना जिलोंका कितना ही अंश—बुद्धचर्या। उस देशके रहनेवाले लोग सुह्म कहलाते थे।

२० "टङ्कित ऋषि" से शायद "टङ्कित गुफाओंमें रहनेवाले ऋषि" का अभिप्राय है

यक्षोंको उपदेश दिया ।

२१ तब वाराणसी नगरमें दशबलधारीने कात्यायन नामक ब्राह्मणको प्रव्रजित किया, जो असित ऋषिका भागिनेय था ।

२२ तब वह अपनी दिव्य शक्तिसे शूर्पारक नगरमें गये और स्तवकर्णी श्रेष्ठीको उपदेश दिया,

२३ जो उपदेश सुनते ही इतना श्रद्धालु हो गया कि वह मुनि-वरके लिए एक चन्दन-विहार बनाने लगा, जो सदा सुगन्धित एवं गगन-चुम्बी था ।

२४ तब उन्होंने तपस्वी कपिलको महीवतीमें विनीत किया, जहाँ एक शिलापर मुनिके पाँवोंके चक्र-चिह्न देख पड़ते थे ।

२५ तब वरणमें उन्होंने वारण (नामक) यक्षको उपदेश दिया ; उसी प्रकार मथुरामें भयानक गर्दभ दीक्षित हुआ ।

२६ तब स्थूलकोष्ठक नगरमें विनायकने राष्ट्रपाल कहे जानेवाले (व्यक्ति) को दीक्षित किया, जिसका धन राजाके धनके बराबर था ।

२७ तब वैरञ्जामें विरिञ्च-सदृश एक महासत्त्व दीक्षित हुआ और उसी तरह कल्माशदम्यमें विद्वान् भारद्वाज ।

२८ फिर श्रावस्तीमें मुनिने सभिय, निर्ग्रन्थ नप्त्रीपुत्रों और अन्य तीर्थिकों (पंडितों) का अन्धकार दूर किया ।

२९ यहाँ भी ब्राह्मण याज्ञिक पुष्कलसादी एवं जातिश्रोणी तथा कोशल-राज बुद्ध-धर्ममें लाये गये ।

३० तब शेतविक की वन-भूमिमें उत्तम शिक्षकने एक मैनेको और एक सुग्गेको—द्विजोंके समान विद्वान् दो द्विजोंको—सिखाया ।

३१ तब...नगरमें जँगली नागर तथा कूरकर्मा कालक व कुम्भीर धम-धर्ममें लाये गये ।

३२ तब भार्गसोंके बीच उन्होंने भेषक यक्षको दीक्षित किया और नकुलके वृद्ध माता-पितापर वैसा ही अनुग्रह किया ।

३३ कौशाम्बीमें धनवान् घोषिल, कुब्जोत्तरा तथा दूसरी स्त्रियाँ और

---

३१ रिक्त स्थानमें साकेत (अयोध्या) लिखा जा सकता है ।

बहुतसे लोग दीक्षित हुए ।

३४ तब गान्धार देशमें अपलाल (नामक) सर्प, जिसके इन्द्रिय विनय द्वारा शान्त हो गये, बुराईके परे चला गया ।

* ३५ तब मृत्यु (काल) के समान जलाने की इच्छा करनेवाले... को दीक्षितकर बुद्धने क्रमसे धर्मोपदेश किया ।

३६ इन तथा अन्य स्थलचारी अथवा नभचारी जीवोंको दीक्षित करनेसे बुद्धका यश बढ़ता ही गया, जैसे (पूर्णिमा आदि) पर्वमें समुद्र ।

३७ उनका माहात्म्य देखकर देवदत्तको द्वेष हो गया और ध्यान-संयम खोकर उसने बहुतसे अनुचित काम किये ।

३८ कलुषित चित्तसे उसने मुनिके सङ्घमें भेद खड़ा किया और भेदके कारण उनसे अनुराग करनेके बदले उसने उन्हें क्लेश पहुँचानेका प्रयत्न किया।

३९ तब गृध्रकूट पर्वतपर उसने वेगपूर्वक एक शिला लुढ़काई ; किन्तु मुनिके ऊपर लक्ष्य होनेपर भी यह उनपर नहीं गिरी, किन्तु दो टुकड़ोंमें विभक्त हो गई ।

४० राज-मार्गपर उसने तथागत की ओर एक गजेन्द्र छोड़ा, जो प्रलयकालीन काले बादलोंके समान गरज रहा था और जो चाँदके छिपनेपर आकाशमें बहनेवाली आँधीके समान दौड़ रहा था ।

४१ राजगृहके मार्ग उन लाशोंसे (पटकर) चलने योग्य नहीं रहे, जिनपर उसने अपने शरीरसे चोट की थी, या जिन्हें उसने अपनी सूँड़से ऊपर उठाया था या जिनकी अँतड़ियाँ उसके दाँतों द्वारा खींची जाकर ढेरकी ढेर बिखेरी गई थीं ।

४२ मांसकी प्यासमे उसने लोगों की जाँघें खोदीं और जब उसको सूँड़ने अँतड़ियोंका स्पर्श किया, तब छुटकारा पानेके लिए उसने उन (अँतड़ियां) की मालाएँ खींचकर पत्थर की तरह आकाशमें फेंकीं, उस समय उसके भयावने मस्तक, कानों व जीभसे लोहू चू रहा था ।

---

४१ अमरावतीमें चित्रित इस दृश्य (Vogel—"भारत लङ्का और जावामें बौद्ध-कला") का आधार ये ही श्लोक हैं—जौन्सटन ।

४३ नगर-निवासी आतङ्कित हुए और उससे डर गये, इसलिये कि वह रक्त-विन्दुओं और सड़ते हुए (दुर्गन्ध-युक्त) रुधिरसे लिप्त होकर तथा मस्तक-पर व्याप्त मद-जल की गन्धसे युक्त होकर असीम क्रोधसे घूम रहा था।

४४ जब उन लोगोंने यम-दण्डके समान भयानक उस मतवाले हाथीको देखा, जिसका चेहरा अविनय से फूला हुआ था, जो गरज रहा था और क्रोधसे आँखें घुमा रहा था, तब राजगृहमें हाहाकार मच गया।

४५ कुछ लोग निराश होकर चारों ओर भागे, कुछ लोग ऐसी जगहोंमें छिप गये जहाँ वे देखे नहीं जा सकते थे और दूसरे ऐसे डरे कि दूसरा सब भय खोकर दूसरोंके घरोंमें घुस गये।

४६ हाथी कहीं बुद्धको क्लेश न पहुँचावे, इस डरसे कुछोंने अपनी जान की पर्वाह न की और उसके पीछेसे वीरतापूर्वक चिल्लाये, जैसे कूदनेको उद्यत सिंह गरज रहा हो।

४७ उसी प्रकार दूसरोंने महावतको पुकारा, कुछोंने प्रार्थनापूर्वक अपने हाथ उठाये, कुछोंने तब उसे धमकाया भी और दूसरोंने उसके द्रव्य-प्रेम-से प्रार्थना (अपील) की।

४८ छज्जोंसे देखती हुई नवयुवतियाँ बाहुएँ फेंककर रोईं; कुछोंने डरकर सुवर्ण-कंकणयुक्त ताम्रवर्ण हाथोंसे आँखें मूँद लीं।

४९ यद्यपि हत्याके अभिप्रायसे हाथी आगे आ रहा था और रोते हुए लोग (मना करनेके लिए) हाथ उठा रहे थे, तो भी सुगत शान्त एवं अवि-चल (-चित्त) होकर आगे ही बढ़े, न तो उन्होंने पाँव उठाना ही रोका, और न वे द्वेषके ही वशीभूत हुए।

५० शान्तिपूर्वक मुनि आगे आये; उस महागजेन्द्रको भी उन्हें स्पर्श करनेकी शक्ति नहीं थी, इसलिए कि अपनी मैत्रीके कारण उनकी करुणा सब जीवोंपर थी और इसलिए कि देवगण भक्तिवश उनके पीछे पीछे चल रहे थे।

५१ दूरसे ही गजेन्द्रको देखकर बुद्धके पीछे पीछे जानेवाले शिष्य भाग गये। केवल आनन्दने बुद्धका अनुसरण किया, जैसे सहज स्वभाव विविध

पदार्थोंका अनुसरण करता है।

५२ जब क्रुद्ध हाथी समीप आया तो मुनिके दिव्य प्रभावसे उसे होश हो गया, और अपना शरीर झुकाकर, उस पर्वतके समान जिसके पंख वज्रसे विदीर्ण हुए हों, उसने अपना मस्तक पृथ्वीपर रक्खा।

५३ जैसे सूरज अपनी किरणोंसे बादलको छूता है, वैसे ही मुनिने अपने सुन्दर हाथसे, जो कमलके समान कोमल था और जिसकी सुगठित अँगुलियाँ (रेखा-) जालसे युक्त थीं, गजराजके माथे पर थपकी लगाई।

५४ जब हाथी पानीसे भरे बादलके समान उनके पाँवोंपर झुका, तब ताल-पत्र-सदृश उसके (बड़े-बड़े) कानोंको निश्चल देखकर मुनिने उसे शम-धर्मका उपदेश दिया, जो बुद्धिधारी प्राणियोंके लिए ही उपयुक्त हैः—

५५ "निरपराध (= नाग) की हत्या करनेसे दुःख होता है; हे हाथी, निरपराध को पीड़ित न करो। क्योंकि, हे हाथी, निरपराधकी हत्या करनेवाले-का जीवन जन्म जन्ममें आठ जन्मतक विकसित नहीं होता है।

५६ काम मोह व घृणा, ये तीन दुर्जेय मद हैं; फिर भी मुनिगण मद-त्रयसे मुक्त हैं। अतः इन तापोंसे अपनेको मुक्त करो और दुःखके परे चले जाओ।

५७ इसलिए यह अन्धकार-प्रेम (= तमःप्रसक्ति) त्याग करनेके लिए मद-मुक्त होकर अपनी स्वाभाविक अवस्थामें लौट जाओ। हे गजेन्द्र, कामकी अधिकतासे ससार-सागरके पङ्कमें फिर मत गिरो।"

५८ तब ये वचन सुनकर हाथी मदसे मुक्त हो गया और फिर उचित मानसिक अवस्था पर लौट आया ; और अमृत-पान करने पर रोग-मुक्त हुए के समान उसने उत्तम आन्तरिक (= अन्तर्गत) आनन्द प्राप्त किया।

५९ गजेन्द्रने तुरन्त मदका त्याग किया और शिष्यके समान मुनिको प्रणाम किया, यह देख कर कुछोंने वस्त्रसे ढँकी बाहुएँ ऊपर फेंकीं और दूसरों ने भुजाएँ चमकाईं (घुमाईं,=√ परिभ्र,√ उल्लस्), जिससे कपड़े गिर पड़े।

६० तब कुछोंने मुनिके आगे हाथ जोड़े और दूसरों ने उन्हें घेर लिया। कुछोंने उस बड़े हाथीके आर्यत्वकी प्रशंसा की और दूसरोंने विस्मित होकर उसे थपकी लगाई।

६१ महलकी स्त्रियोंमेंसे कुछोंने बहुमूल्य नये वस्त्रोंसे उन्हें सम्मानित किया तथा दूसरोंने उनपर भाँति भाँतिके अलङ्कारों तथा मोहक और नये हारोंकी झड़ी लगा दी।

६२ जब काल-सदृश वह हाथी विनीत होकर खड़ा हुआ, तब जो (धर्ममें) विश्वास नहीं करते थे वे मध्यम अवस्था में प्रविष्ट हुए, जो पहलेसे ही मध्यम अवस्थामें थे उन्होंने विश्वासकी एक विशिष्ट अवस्था प्राप्त की, और जो विश्वासी थे वे अत्यन्त दृढ़ हो गये।

६३ तब अपने महलमें खड़े अजातशत्रुने गजेन्द्रको मुनिद्वारा विनीत होते देखा और वह विस्मयसे अभिभूत हो गया; उसे प्रसन्नता हुई और बुद्धमें परम विश्वास हुआ।

६४ जैसे कलियुग बीतनेपर तथा कृतयुग शुरू होनेपर धर्म और अर्थ की वृद्धि होती है, वैसे ही मुनि अपने यश, ऋद्धियों (=चमत्कारों) एवं दुष्कर कर्मोंसे बढ़ने लगे।

६५ किन्तु देवदत्त, द्वेषपूर्वक बहुतसे बुरे व पाप कर्म करके, अधलोकमें गिरा, जो राजा और प्रजाद्वारा ब्राह्मणों एवं मुनियों द्वारा निन्दित है।

बुद्धचरित महाकाव्यका "प्रव्रज्या-स्रोत" नामक
इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त।

बाईसवाँ सर्ग

अम्रपालीके उपवनमें

१ जब वह वक्ता-श्रेष्ठ काल-क्रमसे संसारपर अनुग्रह कर चुके और पृथ्वीको अपने धर्मसे व्याप्त कर चुके, तब उनका चित्त निर्वाणकी ओर गया।

२ तब मुनि यथासमय राजगृहसे पाटलिपुत्र गये, जहाँ वह पाटलिपुत्र नामक चैत्यमें ठहरे।

३ उस समय मगध-राजके मंत्री वर्षाकार (वर्षकार) ने लिच्छवियोंको शान्त रखनेके लिए एक किला बनाया था।

४ तथागतने देवताओंको वहाँ अपना कोष लाते देखा और भविष्यद्वाणी

की : "यह नगर संसार भरमें सर्व-श्रेष्ठ होगा"।

५ वह उत्तम कर्मशील (कर्मी), वर्षाकारद्वारा उचित रीतिसे सम्मानित होकर, समुद्रकी प्रधान पत्नी (महिषी) की ओर गये।

६ सूर्यके समान उज्ज्वल भगवान् जिस द्वारसे निकले, उसे उस (वर्षाकार)ने गौतम-द्वार (के नाम) से सम्मानित किया।

७ वह, जो कि (संसार-सागर) पार करना देख चुके थे, गंगातट पर आये और भाँति भाँति की नावोंके साथ लोगोंको देखकर उन्होंने सोचा:—

८ "प्रयत्नपूर्वक नदी पार करना मेरे लिए अनुचित होगा, इसलिए अपने ऋद्धि-बलसे नावके बिना ही मुझे स्वयं जाना चाहिए।"

९ इस तरह दर्शकोंकी दृष्टिसे ओझल होकर वह तब अपने शिष्योंके साथ हवाकी गतिको भी मात करते हुए एक क्षणमें उस पार चले गये।

१० क्योंकि मुनि जानते थे कि ज्ञानरूपी नावसे ही दुःखरूपी सागर पार किया जाता है, इसलिए उन्होंने इस (भौतिक) नावका प्रयोग किये बिना ही गंगा पार की।

११ वह घाट, जहाँसे विनायक गंगाके उस पार गये, जगत्में उनके गोत्र-नामसे (गोतम) तीर्थ होकर विख्यात है।

*१२ उन्हें देखकर पार होनेके इच्छुक, पार हो रहे तथा पार हुए लोगोंके मुख विस्मयसे विकसित हुए।

१३ तब बुद्ध गंगा-तीरसे कुटी नामक गाँवमें गये और वहाँ धर्मोपदेश करके नादी गये।

१४ उस समय वहाँ बहुतसे लोग मरे थे और मुनिने बतलाया कि उनमें से कौन किस लोकमें जन्मा और क्या होकर।

१५ वहाँ एक रात रहकर श्रीघन (बुद्ध) वैशाली नगरी चले गये और अम्रपालीके प्रान्तमें एक उज्ज्वल उपवनमें ठहरे।

१६ "तथागत यहीं हैं" यह जानकर अम्रपाली वेश्या एक साधारण रथ पर सवार हुई और अत्यन्त प्रसन्न होकर चली।

१७ देव-पूजन-समयकी एक कुलीन स्त्रीके समान वह स्वच्छ श्वेत वस्त्र

पहने हुए थी और मालाओं या अंगरागसे रहित थी।

१८ सौन्दर्यके अभिमानमें वह अपने संयुक्त आकर्षणोंसे लिच्छवि कुल-पुत्रोंकी सम्पत्ति एवं चित्त आकृष्ट किया करती थी।

१९ रूपवती वन-देवताके समान अपने सौन्दर्य एवं गौरवमें आत्म-विश्वास करती हुई वह रथसे उतरी और तेजीसे उपवनमें घुस गई।

२० "उसकी आँखें चंचल हैं और उसके कारण कुलीन स्त्रियोंको शोक होता है" यह देखकर सुगतने दुन्दुभिकी-सी वाणीमें शिष्योंको आदेश दिया—

२१ "यह अम्रपाली समीप आ रही है, जो दुर्बलोंका मानसिक ताप है; स्मृतिरूपी रसायनसे अपने अपने मनको वशमें रखते हुए तुमलोग ज्ञानमें स्थित हो जाओ।

२२ स्मृति (अप्रमाद, सावधानी) एवं ज्ञान (प्रबोध)-रहित पुरुष-के लिए स्त्रीके सान्निध्य (पड़ोस, समीपता) की अपेक्षा साँप या खुली तलवार-वाले शत्रुका सान्निध्य अच्छा है।

२३ बैठी हो या सोई, टहलती हो या खड़ी, चित्र-लिखित ही क्यों न हो, स्त्री (हर हालतमें) पुरुषोंके हृदय हरण करती है।

२४ स्त्रियाँ विपत्ति (=व्यसन) से भी पीड़ित हों, या रोती हुई चारों ओर बाहु-लताएँ फेंक रही हों, या आकुल-केशपाश हो दग्ध हो रही हों, तो भी उनकी शक्ति उत्कृष्ट होती है।

२५ बाहरी वस्तुओंका प्रयोग करती हुई वे अनेक आहार्य (बनावटी) गुणोंसे (लोगोंको) ठगती हैं और अपने वास्तविक गुणोंको छिपाती हुई वे मूर्खोंको मोहमें डालती हैं।

२६ स्त्रीको अनित्य दुःखमय अनात्म और अशुचि समझनेसे पंडितोंके चित्त उसे देखकर अभिभूत नहीं होते हैं।

२७ जिन मनुष्योंके चित्त इन प्रलोभनों (आलय) से सुपरिचित होते हैं, जैसे कि पशु गोचर-भूमिसे, वे दिव्य आनन्दोंका आक्रमण होनेपर कैसे मोहमें पड़ सकते हैं?

२८ अतः प्रज्ञारूपी तीर लेकर, हाथोंमें वीर्यरूपी धनुष ग्रहण कर और

स्मृतिरूपी कवच पहनकर विषयोंकी बातपर खूब सोचो।

२९ बहकी हुई स्मृतिसे स्त्रीकी चंचल आँखोंको देखनेकी अपेक्षा लोहेकी गर्म काँटियोंसे अपनी आँखोंको जला डालना अच्छा है।

३० यदि मरते समय तुम्हारा चित्त कामके अधीन हो, तो इससे तुम विवश होकर बाँधे जाओगे और पशु-योनिमें या नरकमें तुम्हारा जन्म होगा।

३१ इसलिए इस भयको पहचानो और बाहरी लक्षणों (= निमित्त) पर ध्यान मत दो; क्योंकि वही ठीक-ठीक देखता है, जो शरीरमें केवल (वास्तविक) रूपको देखता है।

३२ जगत्‌में न तो इन्द्रिय ही विषयोंको बाँधते हैं और न विषय ही इन्द्रियोंको। उन (विषयों) के लिए जिस किसीको काम (पैदा) होता है, वह उनसे बाँधा जाता है।

३३ विषय और इन्द्रिय परस्पर आसक्त हैं, जैसे कि दो बैलोंका जोड़ा एक जुए में जुता रहता है।

*३४ आँख आकृतिको देखती है और चित्त उसपर विचार करता है और उस विचारसे विषयके बारेमें काम उत्पन्न होता है और कामसे मुक्ति (निष्कामता) भी।

*३५ तब विषयोंकी उचित परीक्षा नहीं करनेसे महा-अनर्थ होता है, इन्द्रियोंके क्षेत्रमें प्रवृत्ति (विषयासक्ति) सब विपत्तियोंका घर है।

३६ अतः स्मृतिका त्याग नहीं करते हुए, परम सावधानीसे चलते हुए, और अपने हित (= स्वार्थ) का खयाल रखते हुए, तुम लोग मनसे उत्साह-पूर्वक भावना करो।"

३७ जब उन्होंने अपने शिष्योंको, जो रूपके अन्ततक नहीं पहुँचे थे, इस प्रकार उपदेश दिया, तब अम्रपाली उन्हें देखकर हाथ जोड़े समीप आई।

३८ शान्तचित्त मुनिको एक वृक्षके नीचे बैठे देखकर उस (अम्रपाली) ने उन (मुनि) के द्वारा उपवनका उपभोग (= परिभोग) होनेसे अपनेको अनुगृहीत माना।

३९ तब अपनी चंचल आँखोंको ठीक कर, उसने पूर्ण विकसित चम्पक-

पुष्प-सदृश मस्तकसे मुनिको बड़ी श्रद्धासे प्रणाम किया।

४० जब सर्वज्ञ (मुनि) के आदेशानुसार वह बैठ चुकी, तब मुनिने उसके समझने योग्य शब्दोंमें उसे कहाः—

४१ "तुम्हारा यह आशय पवित्र है और तुम्हारा चित्त विशुद्धिद्वारा स्थिर है ; तो भी रूपवती एवं युवती नारीमें धर्म-पिपासा दुर्लभ है।

४२ इसमें आश्चर्यका क्या कारण है कि धर्म, बुद्धिमान् पुरुषों को या विपत्ति-पीड़ित (= व्यसनाभिभूत) स्त्रियोंको या संयतात्माओं (=आत्मवान्) को या व्याधि-ग्रस्तोंको आकृष्ट करे ?

४३ किंतु यह असाधारण है कि विषयासक्त (= विषयैकरस) जगत्में स्वभावतः दुर्बलबुद्धि एवं चञ्चलचित्त युवती नारी धर्म-भावका पोषण करे।

४४ तुम्हारा चित्त धर्माभिमुख है, यही तुम्हारा सच्चा धन (=सदर्थ) है; क्योंकि जीवलोक अनित्य है, अतः धर्मको छोड़कर दूसरी कोई सम्पत्ति नहीं।

४५ रोग स्वास्थ्यको गिराता है, उम्र जवानीको काटती है और मृत्यु जीवन अपहरण करती है; किंतु धर्मके लिए ऐसी कोई विपत्ति नहीं।

४६ (सुखकी) खोजमें मनुष्यको केवल प्रियसे वियोग और अप्रियसे संयोग होता है, इसलिए धर्म ही सर्वोत्तम मार्ग है।

४७ दूसरोंपर आश्रित होना महादुःख है और अपनेपर आश्रित होना परम सुख; तो भी मानव-वंशमें उत्पन्न सभी स्त्रियाँ दूसरोंपर आश्रित हैं।

४८ इसलिए तुम उचित निष्कर्षपर पहुँचो, क्योंकि पराश्रय एवं प्रसवके कारण स्त्रियोंको अत्यन्त कष्ट होता है।"

४९ उसने—जो उम्रमें छोटी थी, किन्तु जो आशय बुद्धि एवं गम्भीरता में छोटी-जैसी नहीं थी—महामुनिके ये वचन प्रसन्नतापूर्वक सुने।

५० तथागतके धर्मोपदेश करनेसे उसने कामासक्त चित्तकी अवस्थाका

---

४७ मूल श्लोक बहुत कुछ ऐसा हो सकता है:—

पराश्रयो महादुःखं स्वाश्रयः परमं सुखम्।
मनुवंशे समुत्पन्नाः सर्वाः स्त्रियः पराश्रिताः॥

परित्याग किया, स्त्रीत्व (स्त्री होनेकी दशा) को तुच्छ समझती हुई वह विषयोंसे विमुख हो गई, और अपनी जीविकाके उपायोंसे उसे घृणा हो गई।

*५१ तब मंजरीसे भरी आम्रशाखाके समान अपनी देहसे प्रणिपात करते हुए उसने अपनी दृष्टि महामुनिमें स्थिर की और फिर धर्मके प्रति विशुद्धदृष्टि होकर वह उठ खड़ी हुई।

५२ नम्र स्वभाव होनेपर भी, धर्म-पिपासासे निरन्तर प्रेरित होती नारीने अपने कर-कमलोंको जोड़कर मृदु स्वरमें कहा—

५३ "हे भगवन्, आपने लक्ष्य प्राप्त कर लिया है और सांसारिक दुःख शान्त कर लिया है। अपने शिष्योंके साथ भिक्षाटनका समय मेरे लिए सफल करें......जिससे मैं धर्मोपदेश लाभ करूँ।"

५४ तब उसकी भक्ति देख और प्राणियोंको आहारपर आश्रित जान, मुनिने मौन धारणकर अपनी सम्मति दी तथा संकेत (=विकार) द्वारा अपना आशय प्रकट किया।

५५ परम धर्मके अधिकारी बुद्धको, जिनकी दृष्टि अवसरको पहचानती थी, उस धर्म-पात्रमें अत्यन्त आनन्द हुआ,...श्रद्धा द्वारा श्रेष्ठ लाभ होता है, यह जानते हुए उन्होंने उस (अम्रपाली) की प्रशंसा की।

बुद्धचरित महाकाव्यका "अम्रपालीके उपवनमें मुनिका आगमन" नामक बाईसवाँ सर्ग समाप्त।

तेईसवाँ सर्ग

आयु निश्चित करना

१ तब मुनिका आशय समझकर, वह उन्हें प्रणाम करके नगरको लौट गई। समाचार सुनकर, लिच्छवि बुद्धको देखने आये।

२ कुछोंके घोड़े, रथ, छत्र, हार, अलंकार और वस्त्र श्वेत थे तथा दूसरोंके सुनहले रंगके थे।

३ कुछोंकी सब चीजें वैदूर्यके समान पीली थीं, तो दूसरोंकी मयूर-पुच्छके रंग की। इस तरह अपने अपने मनके अनुकूल उज्ज्वल परिधान (चमकीला

पहनावा) पहनकर वे बाहर आये।

४ वे, जिनके शरीर पर्वतके समान विशाल थे और जिनकी बाहुएँ सुनहले जुएके समान थीं, स्वर्गके शरीरधारी उज्ज्वल ... के सदृश जान पड़े।

५ जब वे रथोंसे उतरनेके लिए खड़े हुए, तब संध्याकालीन बादलपर पड़नेवाली बिजलीकी छटाओंके समान वे चमके।

६ अपने तरंगित शिरोवेष्टनों (पगड़ियों) को झुकाते हुए उन्होंने धैर्य-पूर्वक मुनिको प्रणाम किया; अभिमानी होनेपर भी वे धर्मकी अभिलाषासे मानो गम्भीर होकर वहाँ खड़े हुए।

७ बुद्धके पास उनका निर्मल मण्डल ऐसे चमका, जैसे अनभ्र (बादल-रहित) सूर्यके सामने (प्रकाशमें) इन्द्र-धनुष चमक रहा हो।

८ तब सिंह और दूसरे लोग पृथ्वीपर सिंहोंकी आकृतिसे युक्त तथा सोनेसे अलंकृत सिंहासनोंपर बैठ गये, और तब पुरुष-सिंहने उनसे कहा—

९ "धर्मके प्रति आपकी यह भक्ति मूल्यमें आपके रूप, राज्य व बल आदि विशेषताओंसे बहुत बढ़कर है।

१० आपके सौन्दर्य, भव्य वस्त्रों, आभूषणों या हारोंकी वैसी चमक नहीं है, जैसी कि शील आदि गुणोंकी।

११ मैं वृजियोंको अनुगृहीत और भाग्यवान् समझता हूँ कि उनके अधिपति आप हैं, जो धर्मके ज्ञाता तथा विनयके इच्छुक हैं।

१२ हे आर्य, धर्ममें रहनेवाले (प्रजा-) पालक साधारणतः (आर्या-वर्तके) भीतरके देशोंमें तथा अभागोंके लिए दुर्लभ हैं।

१३ इस देशपर धर्मका भी अनुग्रह है कि वह धर्म-ज्ञानके रक्षक महा-भागों द्वारा पालित है।

१४ इसलिए, जैसे नदी पार करनेकी इच्छा करनेवाली गौएँ (पशु) गवांपति (झुण्डके सरदार) का अनुसरण करती हैं, वैसे ही राजाओंसे रक्षित देशमें (बसनेके लिए) लोग इकट्ठे होते हैं।

१५ यह शील हमेशा आपमें रहना चाहिए जिससे आपका धन (=स्वार्थ ?) इहलोक या परलोकमें कामद्वारा नहीं छीना जा सके।

१६ शीलका फल महान् है,—सन्तुष्ट चित्त, सम्मान, लाभ, यश, विश्वास, आनन्द एवं पारलौकिक सुख।

१७ जैसे पृथ्वी सब चराचर जीवोंका आश्रय है, वैसे ही शील सब गुणोंका उत्तम आश्रय है।

१८ शील छोड़कर भी परम पद चाहनेवाले मनुष्यको, उड़ने की इच्छा करनेवाले पंख-विहीन प्राणीके समान या नदी पार करनेकी इच्छा करनेवाले नाव-रहित व्यक्तिके समान जानिये।

१९ जो मनुष्य यशस्वी, रूपवान् और धनवान् होकर भी शीलसे विमुख है, वह उस वृक्षके समान है जो फूला-फला होनेपर भी काँटोंसे भरा हो।

२० कोई मनुष्य महलमें रहता हो और उज्वल वस्त्र-आभूषण पहनता हो, किन्तु, यदि वह शीलवान् है तो उसकी गति महर्षिकी-सी है।

२१ वे सब छद्मचारी (कपटी) समझे जायँगे, जिन्होंने, काषाय या वल्कल वस्त्र पहनते हुए भी तथा क्षत्रियोंकी भाँति तरह-तरहसे केशोंको सजाते हुए भी, अपना शील नष्ट कर लिया है।

२२ यद्यपि कोई मनुष्य प्रतिदिन तीन बार तीर्थमें नहाता हो, अग्निमें दो बार आहुतियाँ डालता हो, अग्निके तापसे दग्ध होता हो, तो भी शीलवान् नहीं होनेपर वह कुछ नहीं है।

२३ यद्यपि वह हिंसक पशुओंके आगे अपना शरीर समर्पित करता हो, पर्वतपरसे अपनेको गिराता हो, आग या पानीमें कूदता हो, तो भी शीलवान् नहीं होनेपर वह कुछ नहीं है।

२४ यद्यपि वह थोड़ा-सा फल-मूल खाकर रहता हो, मृगके समान तृण चरता हो, हवा पीकर जीना चाहता हो, तो भी शीलवान् नहीं होने पर वह शुद्ध नहीं हो सकता।

२५ दुःशील मनुष्य पशु-पक्षियोंके समान है; वह धर्मका पात्र नहीं है, किन्तु पानीके चूते हुए पात्रके समान है।

२६ इहलोकमें उसे भय, अयश, अविश्वास एवं असंतोष मिलते हैं और परलोकमें वह विपत्ति भोगेगा।

२७ इसलिए मरुभूमि के पथ-प्रदर्शककी तरह शीलकी हत्या नहीं होनी चाहिए; अपनेपर ही आश्रित रहनेवाला दुर्लभ शील एक नाव है, जो मनुष्यको स्वर्ग ले जाती है।

२८ जिसका चित्त दोषोंसे अभिभूत होता है, वह जीवनमें सब कुछ खो बैठता है। शीलमें स्थित होकर दोषोंका नाश करो और श्रद्धाका पोषण करो (या जो कुछ अच्छा है वह करो)।

२९ इसलिए उन्नति चाहनेवाला आदमी पहले अपनेको आत्मभाव (अहभाव) से मुक्त करे; क्योंकि आत्मभाव गुणोंको वैसे ही छिपाता है, जैसे धुआँ आगको।

३० गुण, वास्तवमें होनेपर भी, अभिमानसे अभिभूत होकर नहीं चमकते, जैसे बादलोंसे ढँके हुए तारे, सूरज व चाँद नहीं चमकते।

३१ औद्धत्य लज्जा (= ह्रीं) को नष्ट करता है, शोक धैर्यको, बुढ़ापा सौन्दर्यको और आत्मभाव गुणोंके मूलको।

३२ द्वेष एवं अभिमानके कारण असुरगण देवोंसे पराजित होकर पातालमें फेंके गये और त्रिपुर नाशको प्राप्त हुआ।

३३ वह मनुष्य बुद्धिमान् नहीं समझा जाता है, जो अनित्य जीवनमें अपने को सबसे अच्छा, न कि बुरा, समझता है।

३४ यद्यपि यह आकृति ही अस्थिर है तथा मनुष्य अनित्य व विनाशधर्मा है, तो भी "मैं ही" (अहमेव) यह सोचता हुआ वह अभिमान करता है— इसमें विवेक-शून्यताके अतिरिक्त और क्या है?

३५ कामराग प्रबल प्रच्छन्न एवं सहजात शत्रु है, जो बुराई करनेवाले दुश्मनके समान मित्रताके वेषमें प्रहार करता है।

३६ कामरागकी अग्नि तथा साधारण अग्नि समानरूपसे दहनशील हैं, किन्तु कामरागकी अग्नि प्रज्वलित होनेपर रात अवश्य लम्बी होगी।

३७ कहा जाता है कि अग्नि की वैसी शक्ति नहीं है जैसी कि कामराग की अग्नि की; क्योंकि अग्नि जलसे शान्त हो जाती है, किन्तु कामरागकी अग्नि सम्पूर्ण सरोवरसे भी नहीं।

३८ आगसे जंगल जलनेपर जंगलके वृक्ष समयपर उत्पन्न हो जाते हैं, किन्तु कामरागकी अग्निसे दग्ध होनेपर मूर्खोंमें धर्मकी उत्पत्ति नहीं होती है।

३९ कामरागके कारण मनुष्य सुख खोजता है और सुख के लिए बुराई (अकुशल कर्म) करता है; बुराई करनेसे नरकमें गिरता है। कामरागके समान शत्रु नहीं।

४० कामसे इच्छा उत्पन्न होती है और इच्छासे कामासक्ति। कामासक्तिसे मनुष्यको दुःख होता है। कामके समान शत्रु नहीं।

४१ मूर्ख कामनामक महाव्याधिको पर्वाह नहीं करता और ......
...............।

४२ कामको अनित्य अपवित्र दुःखधर्मा एवं अनात्म समझकर यदि कोई मनुष्य अपनेको उससे मुक्त भी कर ले, तो भी अपने कुमार्गगामी चित्तके कारण वह फिर कामके वशीभूत हो जाता है।

४३ इसलिए वस्तुसे अनुराग पैदा होनेपर जो कोई उसे वास्तविक अवस्थामें (=यथाभूतं) देख सकता है, वह वास्तविकतादर्शी (=भूतदर्शी) कहा जाता है।

४४ जैसे (किसी वस्तुके) गुणोंको देखनेसे आसक्ति उत्पन्न होती है वैसे ही इसके दोषोंपर विचार करनेसे क्रोध (विमुखता ?) होता है।

४५ इसलिए जो कोई क्रोध रोकना चाहे, वह अपनेको विमुखता प्रभावित न होने दे; क्योंकि जैसे आगसे धुआँ निकलता है, वैसे ही विमुखता क्रोध उत्पन्न होता है।

४६ जैसे रूपवानोंके लिए बुढ़ापा और आँखवालोंके लिए अँधेरा है ही क्रोध, धर्म अर्थ व कामका विफलीकरण तथा विद्याका शत्रु है।

४७ क्रोध चित्तका घना अंधकार है, मित्रताका प्रधान शत्रु है, सम्मा विनाशक और अपमानजनक है।

४८ इसलिए क्रोध न कीजिए, यदि आप करते भी हों तो इसे छ दीजिए। जैसे दंशधर्मा साँपके पीछे आप नहीं पड़ते हैं, वैसे ही क्रोधके न पड़ें।

४९ जो कोई मार्गसे बहके हुए रथके समान क्रोधको लगाम लगाकर दृढ़तापूर्वक वशमें रखता है उसीको मैं सच्चा सारथि समझता हूँ, दूसरे प्रकारका सारथि तो केवल लगाम पकड़नेवाला है।

५० जो कोई क्रोध करना चाहता है और इसकी उत्पत्तिको रोकना नहीं चाहता है, क्रोध बीतनेपर वह ऐसे जलता है जैसे आग छूनेसे।

५१ जब मनुष्य क्रोध करता है तो पहले उसका ही चित्त जलता है; पीछे, ज्यों ज्यों क्रोध बढ़ता जाता है त्यों त्यों, दूसरे भी, इससे जल सकते हैं या नहीं भी (जल सकते हैं)।

५२ शरीर-धारी शत्रुओंके प्रति द्रोह करनेसे क्या लाभ, जब कि (शरीर-धारी प्राणियोंका) संसार ही रोग आदि विपत्तियोंसे पीड़ित है ?

५३ इसलिए संसारको दुःखके वशीभूत जानकर आपलोगोंको क्रोध रोकनेके लिए सब जीवोंके प्रति मैत्री एवं करुणाका आचरण करना चाहिए।"

५४ उस समय उन्हें दोषोंसे भरा देखकर, बुद्धने उनके ऊपर करुणा की और उपदेश देकर, उन्हें फटकारा।

५५ जैसे अस्वस्थ मनुष्योंको रोग-मुक्त करनेके लिए, वैद्य उनकी शारीरिक अवस्थाओंके अनुसार ओषधि-सेवनका आदेश देता है,

५६ वैसे ही काम बुढ़ापा आदि रोगोंसे पीड़ित प्राणियोंके आशय जानकर मुनिने उन्हें तत्त्व-ज्ञानकी ओषधि दी।

---

४९ यो वे उप्पतितं कोधं रथं भन्तं' व धारये।
तमहं सारथिं ब्रूमि रस्मिग्गाहो इतरो जनो॥
—धम्मपद कोधवग्गो, १७।२

अर्थ—"जो आए क्रोधको उसी तरह रोक ले, जैसे कोई मार्ग-भ्रष्ट रथ को; उस आदमीको मैं (असली) सारथी कहता हूँ, दूसरे लोग तो केवल रस्सी पकड़नेवाले हैं।"

यः समुत्पतितं क्रोधं निगृह्णाति हयं यथा।
स यन्तेत्युच्यते सद्भिर्न यो रश्मिषु लम्बते॥
—महाभारत, आदिपर्व।

५७ मुनिके ऐसे उपदेशसे लिच्छवियोंको आनन्द हुआ और उन्होंने सिर नवाकर उन्हें प्रणाम किया, जिससे उनकी रत्नमय चूड़ाएँ नीचे लटकने लगीं।

५८ तब हाथ जोड़कर और कुछ कुछ देह नवाकर, उन्होंने अपने यहाँ आनेके लिए बुद्धसे अनुरोध किया, जैसे देवताओंने बृहस्पतिसे अनुरोध किया था।

५९ तब मुनिने उनसे निवेदन किया कि अम्रपालीकी पारी पहले आई और बताया कि कुल-पुत्रोंके निमित्त नीच कुलवालोंको उनके अधिकारोंसे वंचित नहीं करना चाहिए।

६० उस स्त्रीने उन लोगोंको पहले ही आकर वंचित कर दिया, यह जानकर उन्होंने तथागतका अत्यन्त सम्मान किया, और वे अपनी स्वाभाविक मानसिक अवस्था (क्रोध) पर लौट आये।

६१ किन्तु जब तथागतने उन्हें उपदेश दिया, तब उन्होंने मानसिक शान्ति प्राप्त की, जैसे मुनियोंके मन्त्रोंका ठीक ठीक उच्चारण करनेसे साँपका विष शान्त हो जाता है।

६२ रात बीतनेपर अम्रपालीने उनका आतिथ्य किया और (वर्षावास करनेके लिए वह) वेणुमती गाँवको (गये)।

६३ वर्षाऋतु वहाँ बिताकर महामुनि वैशाली लौट गये और मर्कट जलाशयके किनारे बैठ गये।

६४ वह एक वृक्षके नीचे बैठ गये और जब वह वहाँ विराज रहे थे मार उस वनमें आया और उनके समीप जाकर कहा—

६५ "पूर्वमें, हे मुनि, नैरंजना नदीके तीरपर जब मैंने आपसे कहा था "आपने अपना काम पूरा किया, निर्वाण प्राप्त कीजिए" तब आपने उत्तर दिया था:—

६६ "मैं तबतक निर्वाण प्राप्त न करूँगा, जबतक पीड़ित प्राणियोंकी रक्षा न कर लेता हूँ और उनके द्वारा पाप-परित्याग (दोषक्षय) न करा लेता हूँ।

६७ अब बहुतोंने मुक्ति (निर्वाण) पाई, या उसी तरह पाना चाहते

या पायेंगे। इसलिए निर्वाण प्राप्त कीजिए।"

६८ तब ये वचन सुनकर, अर्हत्-श्रेष्ठने उससे कहा, "तीन महीनेमें मैं निर्वाण प्राप्त करूँगा, अतः अधीर मत होओ।"

६९ तब इस प्रतिज्ञासे अपनी इच्छा पूरी हुई जानकर, वह अत्यन्त प्रसन्न होकर वहाँसे हट गया।

७० तब महामुनि ऐसे योग-बलसे चित्त-समाधिमें प्रविष्ट हुए कि उन्होंने अपनी शारीरिक आयु (जीवन)को छोड़ दिया और दिव्य शक्तिके प्रभावसे अभूतपूर्व तरीकेसे प्राण धारण किया।

७१ जिस घड़ी उन्होंने शारीरिक आयुका परित्याग किया उस घड़ी पृथ्वी माती हुई स्त्रीके समान काँपी और दिशाओंसे बड़ी बड़ी उल्काएँ गिरीं, जैसे अग्नि-प्रज्वलित मेरु-पर्वतसे पत्थरोंकी वर्षा हो रही हो।

७२ उसी प्रकार इन्द्रके अग्निगर्भ एवं विद्युन्मण्डित वज्र चारों ओर निरन्तर प्रदीप्त हुए; और ज्वालाएँ सर्वत्र प्रज्वलित हुई, जैसे कल्पान्तकालीन जगत्को जलानेकी इच्छा कर रही हों।

७३ पर्वतोंने, जिनकी चोटियाँ नष्ट हो गईं, ढेरके ढेर टूटे हुए वृक्ष चारों ओर बिखेरे और आकाशमें दुन्दुभियोंसे, जैसे वायुपूर्ण गुफाओंसे, विषम ध्वनि निकली।

७४ तब मर्त्यलोक दिव्यलोक एवं आकाशमें हुए सार्वभौम संक्षोभको घड़ीमें महामुनिने गम्भीर समाधिसे निकलकर ये वचन कहे:—

७५ "मेरा शरीर, जिसकी आयु मुक्त हो गई है, उस रथके समान है, जिसका धुरा (अक्षाग्र, अक्षधुरा) टूट गया हो और मैं इसे अपनी शक्तिसे ढो रहा हूँ। अपनी आयुके साथ मैं भव-बन्धनसे मुक्त हूँ, जैसे अण्डेसे निकलते समय अण्डेको फोड़नेवाला पक्षी (बन्धनसे मुक्त होता है)।"

बुद्धचरित महाकाव्यका "आयु निश्चित करना"† नामक
तेईसवाँ सर्ग समाप्त।

---

†शारीरायुःसंस्काराधिष्ठान = शारीरिक आयुके संस्कारोंका अधिष्ठान=आयु पर अधिकार प्राप्त करना, या आयु निश्चित करना।

चौबीसवाँ सर्ग

लिच्छवियोंपर अनुकम्पा

१ तब भूकम्प देखकर, आनन्दको रोमाञ्च हो गया ; और "क्या होगा" इससे घबराकर (= आगतवेगः) वह काँपने लगा और आर्त हो गया।

२ उसने कारण जाननेवाले सर्वज्ञसे इसका कारण पूछा। तब मुनिने मतवाले साँडके स्वरमें उसे कहा:—

३ "इस भूकम्पका कारण यह है कि मैंने पृथ्वीपर अपने दिन काट डाले हैं ; मेरे जीवनके अब तीन महीने बचे हुए हैं (मेरी आयु अबसे तीन महीनेतक अधिष्ठित है) ।"

४ यह सुनकर आनन्द अत्यन्त विचलित हो गया और उसके आँसू बहने लगे, जैसे किसी बड़े हाथीद्वारा तोड़े गये चन्दन-वृक्षसे रस बह रहा हो।

५ बुद्ध उसके स्वजन और गुरु थे, इस कारण उसे शोक हुआ और अत्यन्त दुःखी होकर उसने दीनतापूर्वक विलाप किया:—

६ "अपने गुरुका निश्चय सुनकर, मेरा शरीर मानो डूब रहा है, मेरी ग्रन्थियाँ ढीली हो रही हैं और धर्मोपदेश, जो कि मैंने सुना है, आकुल हो रहा है।

७ अहो ! पुरुष-प्रशंसित (= नराशंस) तथागत शीघ्रतासे निर्वाणकी ओर जा रहे हैं, जैसे फटे-पुराने वस्त्रवाले, जाड़ेसे ठिठुरे हुए लोगोंके लिए आग तेजीसे बुझ रही हो।

८ पापों (= दोष) के महावनमें भटके हुए शरीरधारी प्राणियोंको मार्ग बतलाकर, पथ-प्रदर्शक अकस्मात् ही अदृश्य हो रहा है।

९ प्याससे पीड़ित मनुष्य लम्बे मार्गपर चल रहे हैं और तब उनके मार्गमें स्थित शीतल जलका जलाशय हठात् ही सूख रहा है।

१० नीली पपनियोंवाला निर्मल लोक-चक्षु, जो भूत वर्तमान एवं भविष्यको देखता है और जो ज्ञानसे विकसित है, अब बन्द होनेको है।

---

१० "जो ज्ञानसे विकसित है" इसकी जगह चीनी अनुवाद में है "प्रज्ञाद्वारा अन्धकारको दूर करता है"।

११ अवश्य ही सूख रही लगी फसलके ऊपर जल बरसाकर बादल दूर हो रहा है (=√ मज्ज्)।

१२ अज्ञानरूप अन्धकारके कारण मार्ग-भ्रष्ट प्राणियोंके लिए चारों ओर चमकनेवाला प्रकाश अत्यन्त अकस्मात् ही शान्त हो रहा है।"

१३ तब आनन्दके चित्तको शोकाकुल देखकर तत्त्वज्ञ-श्रेष्ठने, जो सान्त्वना देनेवालोंमें प्रधान थे, उसके लिए तत्त्वकी व्याख्या की:—

१४ "पहचानो, आनन्द, जगत्के वास्तविक स्वभावको और शोक न करो। क्योंकि यह जगत् समष्टि है और इसलिए संस्कृत (उत्पन्न) होनेके कारण अनित्य है।

१५ मैंने पहले ही तुम्हें कहा है कि द्वन्दोंमें आनन्द पानेवाले प्राणियोंको तुम्हें अत्यन्त स्नेह-रहित (?) अनुकम्पाके साथ देखना चाहिए।

१६ जो कुछ उत्पन्न है वह संस्कृत और अनित्य है, किसी सहारेपर आश्रित होनेके कारण इसे अपना आश्रय नहीं है। तब किसीके लिए भी नित्यत्व प्राप्त करना शक्य नहीं।

१७ यदि पृथ्वीके प्राणी नित्य (स्थायी) होते तो, तो जीवन (=प्रवृत्ति) परिवर्तनशील नहीं होता; और तब मुक्ति (निर्वाण) की भी क्या जरूरत होती ? क्योंकि अन्त वैसा ही होता जैसा कि आरम्भ।

१८ या मेरे लिए तुम्हारी तथा अन्य लोगों की यह अभिलाषा ही क्या ?... ... ...।

१९ मैंने सम्पूर्ण मार्ग तुम्हें दृढ़तापूर्वक बतला दिया है। तुम्हें तथा (दूसरे) शिष्योंको समझना चाहिए कि बुद्ध कुछ छिपाते नहीं।

२० चाहे मैं रहूँ या निर्वाण प्राप्त करूँ, एक ही बात है, वह यह कि तथागत धर्मकी मूर्ति (=धर्मकाय) हैं; यह मर्त्य शरीर तुम्हारे किस काम का ?

२१ क्योंकि मेरे जानेके समय संवेग व अप्रमाद द्वारा पूर्ण श्रद्धा पूर्वक मेरा प्रदीप जलाया गया है, इसलिए धर्मका प्रकाश हमेशा रहेगा।

---

६ "किसी.. नहीं है" की जगह चीनी अनुवादमें है "यह दीनता-पूर्वक किसी सहारेपर आश्रित है।"

२२ इसे अपना प्रदीप समझकर तुम्हें इसमें दृढ़ उत्साहके साथ लगना चाहिए; और निर्द्वन्द्व होकर अपना लक्ष्य (=स्वार्थ) पहचानो तथा अपने मनको दूसरी बातोंका शिकार मत होने दो।

२३ तुम्हें जानना चाहिए कि धर्म-प्रदीप है प्रज्ञा-प्रदीप, जिसके द्वारा चतुर व विद्वान् पुरुष अज्ञान दूर करता है, जैसे कि प्रदीप अन्धकार (दूर करता है)।

२४ परम श्रेय प्राप्त करनेके चार क्षेत्र (=गोचर) हैं—शरीर, वेदना, चित्त और अनात्मता।

२५ अस्थि, चर्म, रक्त, स्नायु, मांस केश आदिसे भरे इस शरीरमें गन्दगी देखनेवालेको शरीरके प्रति आसक्ति नहीं होती।

२६ वेदनाएँ दुख हैं और प्रत्येक वेदना भिन्न भिन्न कारणोंसे उत्पन्न होती है, ऐसा जो देखता है वह सुखके भाव (= संज्ञा) को जीत लेता है।

२७ जो शान्त चित्तसे (मानसिक) धर्मोंकी उत्पत्ति स्थिति व क्षयको देखता है, वह कुदृष्टिको ग्रहण नहीं कर सकता।

२८ स्कन्धोंकी उत्पत्ति कारणों से होती है, ऐसा जो देखता है उसके लिए "अहं"में विश्वास (श्रद्धा) पैदा करनेवाला आत्मभाव बन्द हो जाता है।

२९ दुःख अन्त करनेका यही एक मार्ग है; इन चारोंके बारेमें उस प्रकार (धर्म-) मार्गपर सावधान रहो।

३० उसी तरह, मेरे उस पार चले जानेपर, जो लोग इसपर स्थित रहेंगे वे उत्तम अहार्य एवं नैष्ठिक पद प्राप्त करेंगे।"

३१ इस तरह विनायक ने आनन्दको उपदेश दिया ; और यह समाचार सुनकर, बुद्धकी भक्तिसे लिच्छवि वहाँ दौड़े आये।

३२ दया एवं मुनि-भक्तिके कारण उनके चित्त संतापसे अभिभूत हु और यह समाचार सुनकर, उन्होंने तुरत उन कार्योंको, जिनमें वे व्यस्त थे, त साधारण आडम्बर (= ऋद्धि)को छोड़ दिया।

३३ गुरुसे बोलनेकी इच्छासे वे उन्हें प्रणाम करके एक ओर खड़े हो और उनकी बोलनेकी इच्छा जानकर गुरुने उन्हें यों कहा—

३४ "मेरे प्रति तुम लोगोंके चित्तमें जो कुछ हो रहा है वह सब मैं जानता हूँ; तुम लोग वही होते हुए भी मानो शोकसे बदलकर अब........।

३५ लक्ष्मीके साथ रहते हुए भी तुम लोगोंमें बाहरी दीप्ति और धर्मका ज्ञान दोनों विद्यमान हैं।

३६ यदि मुझसे कुछ सुनकर तुम लोगोंने ज्ञान प्राप्त किया है, तो अपनेको शान्त करो और मेरे चले जाने (=व्यय) से दुःखी मत होओ।

३७ क्योंकि जीवन (=प्रवृत्ति) अनित्य व संस्कृत हैं, इसलिए वे नश्वर परिवर्तनशील असार और अविश्वसनीय हैं; उनमें कुछ भी स्थायित्व नहीं है।

३८ वसिष्ठ, अत्रि और दूसरे सभी तपस्वी (ऊर्ध्वरेतस्) कालके वशीभूत हुए। यहाँका अस्तित्व ही विनाशक है।

३९ पृथ्वीपति मान्धाता, वासवतुल्य वसु और भाग्यशाली (=महाभाग) नाभाग (पंच-) महाभूतोंमें मिल गये।

४० मार्गपर चलनेवाला ययाति भी, भव्य रथवाला भगीरथ, निन्दा व अयश प्राप्त करनेवाले कौरव, राम, गिरिरजस्, अज,

४१ ये महात्मा महर्षि और महेन्द्रके समान अनेक दूसरे लोग नाशको प्राप्त हुए; क्योंकि ऐसा कोई नहीं जिसका नाश नहीं होता।

४२ सूर्य अपने स्थानसे च्युत होता है, सम्पत्तिशाली देवगण पृथ्वीपर आये, शत शत इन्द्र चले गये; क्योंकि कोई सदा नहीं रहता।

४३ दूसरे सब सम्बुद्धोंने जगत्को प्रकाशित कर उन दीपोंके समान, जिनका तेल क्षीण हो गया हो, निर्वाण प्राप्त किया।

४४ भविष्यमें तथागत होनेवाले सब महात्मा भी, उन अग्नियोंके समान जिनका जलावन जल गया हो (=भुक्तेन्धनाः), निर्वाण प्राप्त करेंगे।

४५ इसलिए मुझे भी मुक्तिकी खोज करनेवाले वनवासी तपस्वीके समान चला जाना चाहिए; क्योंकि मैं जो इस व्यर्थ शारीरिक अस्तित्व (=नाम-रूप) को पसीटूँ, इसका कोई कारण नहीं।

४६ क्योंकि इस रमणीय वैशालीसे, जिसमें कुछ लोग दीक्षित होनेको हैं ही, मेरा आशय प्रस्थान करनेका है, इसलिए तुम्हें दूसरे पथका अनुसरण न

करना चाहिए (या अन्यमनस्क न होना चाहिए)।

४७ अतः इस जगत्‌को निराश्रय दीन व अनित्य जानो; और निष्का
भावसे रहते हुए संवेग प्राप्त करो।

४८ इस तरह संक्षेपमें, जब क्रमसे तथागत फिर न देख पड़े, तब कुबेरकी
दिशा (उत्तर)की ओर बढ़ो, जैसे कि जेठ महीनेमें सूर्य (उत्तरकी ही ओर
बढ़ता है)।"

४९ तब लिच्छवि अश्रुपूर्ण आँखोंसे उनके पीछे पीछे जाने लगे; और
आभूषणों-भरी मोटी भुजाओंसे उन्होंने हाथ (=करतल) जोड़कर विला
किया:—

५० "अहो ! विशुद्ध-सुवर्ण-सदृश गुरुका शरीर, जो बत्तीस लक्षणोंसे युक्त
है, भग्न होगा। करुणामय भगवान् भी अनित्य हैं।

५१ बेचारे बछड़े, जिन्हें अब तक होश (बुद्धि) नहीं हुआ है, दूधके
अभावमें प्यासे हैं, और ज्ञानकी दुधार गाय, अहो ! उन्हें अति शीघ्रतासे छोड़
रही है।

५२ मुनि वह सूर्य हैं, जिनके ज्ञानरूपी प्रकाशने प्रदीप-रहित मनुष्योंका
मोहान्धकार दूर कर दिया है, और यह सूर्य हठात् ही अस्त होगा।

५३ जब कि जगत्‌में अज्ञान-धारा जहाँ तहाँ बह रही है, धर्मका दृ
व्यापी बाँध शीघ्र ही टूट रहा है।

५४ करुणामय महाभिषक्‌को उत्तम ज्ञानरूपी ओषधि है, तो भी मा
सिक आधियोंसे पीड़ित जगत्‌को छोड़कर वह प्रस्थान करेंगे।

५५ मनके हीरोंसे अलंकृत और प्रज्ञारूपी आभूषणोंसे भूषित इ
पताकाका पतन होगा, जब कि उत्सवके अवसरपर लोग इसके प्यासे हैं।

५६ दुःख-भागी जगत्‌के लिए, जो भव-चक्रके बन्धनोंसे बँधा हुआ
यह मुक्ति-द्वार है और मौत इसे दृढ़तापूर्वक बन्द कर देगी।"

५७ इस प्रकार अश्रु-आविल आँखोंसे लिच्छवियोंने विलाप किया
जब वे उनके पीछे पीछे जाने लगे, तो मुनिने उन्हें फिर लौटा दिया।

५८ तब मुनिका निश्चय जानकर वे शान्त हो गये और अत्यन्त श

होकर उन्होंने लौटनेका विचार किया ।

५९ वे, जो सोनेके पहाड़के समान सुन्दर थे, मुनिके पाँव पड़ते समय कर्णिकार वृक्षोंके समान शोभित हुए जिनके फूल हवामें हिल रहे हों ।

६० उनके हृदय उनमें अनुरक्त थे, उनके पाँव लड़खड़ा रहे थे, और धाराके विरुद्ध चलती हुई तरंगोंके समान, वे आगे बढ़े बिना ही लौट गये ।

⊛६१ ··· ··· ···, मुनिमें उनका आनन्द और मुनिके प्रति उनकी श्रद्धा अविचल थी ।

*६२ जंगलसे गयांपतिके चले जानेपर महावृषभोंके समान वे खड़े हो होकर दशबलधारीकी ओर बार बार देख रहे थे ।

६३ तब तथागतमें लगे चित्तसे और अत्यन्त कान्तिहीन शरीरसे वे शोकित होकर पैदल ही जाने लगे, जैसे अन्त्य कर्मके मृतस्नानके लिए जा रहे हों ।

⊛६४ लिच्छवि (लाचार होकर) अपने महलोंमें लौट आये और यद्यपि उन्होंने धनुषोंसे, जिनका निशाना कभी चूका नहीं, शत्रुओंको पराजित किया था, यद्यपि वे अभिमानी एवं बलवान् थे, यद्यपि वे संसारमें साम्राज्य पानेके लिए यत्न करते थे और यद्यपि सुखके साधनोंपर उनका अधिकार महान् था, तो भी वे विषण्णवदन थे ।

बुद्धचरित महाकाव्यका "लिच्छवियोंपर अनुकम्पा"
नामक चौबीसवाँ सर्ग समाप्त ।

पचीसवाँ सर्ग

निर्वाण-पथपर

१ जब मुनि निर्वाणके लिए चले तब वैशाली निष्प्रभ हो गई, जैसे कि सूर्य-ग्रहण होनेपर अन्धकारसे ढँका हुआ आकाश (निष्प्रभ हो जाता है) ।

२ सुन्दर और निरभिमान होनेपर भी, सर्वत्र रमणीय होनेपर भी यह

---

६३ किसीके मरनेपर स्नान करनेवालेको "अपस्नात" या "मृतस्नात" कहते हैं ।

(वैशाली) संतापके कारण शोभित नहीं हुई, जैसे कि पतिके मरनेपर पत्नी,

३ जैसे कि विद्याके विना सुन्दरता, जैसे कि गुणके विना ज्ञान, जैसे अभि-व्यक्ति (की शक्ति) के विना बुद्धि, जैसे संस्कारके विना अभिव्यक्ति (की शक्ति),

४ जैसे सदाचारके विना श्री, जैसे श्रद्धाके विना स्नेह, जैसे उद्योगके विना लक्ष्मी, जैसे धर्मके विना कर्म।

५ ...उस समय शोकके कारण यह शोभित नहीं हुई, जैसे शरद्‌ऋतुमें वर्षा न होनेपर सूखी हुई धानकी फसलके साथ पृथ्वी शोभा नहीं पाती है।

६ वहाँ शोकके कारण न किसीने रसोई बनाई, न भोजन ही किया; यशस्वी मुनिका यश बखानते हुए वे रोते रहे।

७ दूसरे लोग न कुछ बोल रहे थे; न कर रहे थे और न सोच रहे थे; नगरमें एक ही काम हो रहा था--शोक और क्रन्दन।

८ तब सेनापति सिंह अत्यन्त दृढ़ होनेपर भी शोकाकुल हुआ और ··· ···सोचते हुए यों विलाप किया :—

९ "विधर्मी दर्शनोंको पराजित कर, उन्होंने सन्मार्गका उपदेश दिया और स्वयं उस मार्गपर चले। अब वह सदाके लिये जा रहे हैं।

१० वह नाथ, दुःखी और निष्प्रभ जगत्‌को छोड़ते हुए, लोगोंको अनाथ कर रहे हैं; इस तरह वह शान्ति (=शम) प्राप्त करने जा रहे हैं।

११ जैसे काल-क्रमसे (बुढ़ापेमें) शारीरिक ओज क्षीण होता है, वैसे ही मेरा धैर्य नष्ट हो रहा है, क्योंकि गुरुवर योगाचार्य अन्तिम शान्तिके मार्गपर हैं।

१२ अपनी दिव्य शक्ति खोकर स्वर्गसे च्युत हुए नृपति नहुषके समान पृथ्वी उनके विना दयाका पात्र है, और मैं "किंकर्तव्यविमूढ़" हूँ।

१३ जैसे आतपसे पीड़ित व्यक्ति पानीकी शरणमें जाता है या शीतसे पीड़ित आगकी शरणमें, वैसे ही अपनी शंकाएँ मिटानेके लिए लोग अब किसकी शरण जायँगे?

१४ मुनिके नष्ट होने पर—मुनि जो संसारके आचार्य (=लोकाचार्य) और जो आग सुलगानेवाली भाथीकी तरह श्रेयकी भाथी हैं—धर्म भी नष्ट हो जायगा।

१५ उनके समान दूसरा कौन है जो स्वभावतः रोग व मौतके वशीभूत तथा शीलके अभाव या दुःशीलसे बँधे प्राणियोंका महादुःख-चक्र तोड़ सके ?

१६ जैसे वसन्तके अन्तमें बादल सूखे हुए सिन्दुवार पौधोंको जीवन-दान करता है, वैसे ही कौन दूसरा अपनी वाणीद्वारा कामसे अत्यन्त जले हुए मनुष्यों को जिला सकता है ?

१७ जब मेरुके समान ठोस सर्वज्ञ गुरु चले जायँगे, तब जगत्में किसे वह बुद्धि होगी, जिससे वह विश्वास-पात्र बनेगा ?

१८ मूढ़ जीव-लोक मरनेके लिए ही पैदा होता है, जैसे दण्डनीय अपराधीको मद पिलाकर वध-स्थलकी ओर ले जाते हैं।

१९ जैसे तेज आरेसे वृक्ष चीरा जाता है, वैसे ही विनाशरूपी आरेसे यह संसार चीरा जा रहा है।

*२० यद्यपि जगत्के श्रेष्ठ आचार्यको ज्ञान-बल प्राप्त है और उन्होंने दोषोंको निःशेष जला डाला है, तो भी वह विनाशकी ओर जा रहे हैं।

२१ जो ज्ञानरूपी महानौकाद्वारा संसार-सागर से—इच्छाएँ जिसकी तरंगें हैं, अज्ञान जिसका जल है और जिसमें कुदृष्टिरूपी प्राणी तथा काम (=रजस्) रूपी मछलियाँ रहती हैं—लोगोंको उबारते हैं;

२२ जो ज्ञानरूपी महाशस्त्रसे संसाररूपी वृक्षको—बुढ़ापा जिसकी शाखाएँ हैं, रोग जिसके फूल हैं, मौत जिसका मूल है और जन्म जिसके अंकुर हैं—काटते हैं;

२३ जो ज्ञानरूपी शीतल जलद्वारा, अज्ञानरूपी अरणियोंसे उत्पन्न दोषरूपी अग्निको—काम जिसकी ज्वालाएँ हैं और विषय जिसके ईंधन हैं—शान्त करते हैं;

२४ जिन्होंने शान्ति-मार्ग ग्रहण किया है, जिन्होंने अज्ञानरूपी महाअन्धकारका परित्याग किया है, परम नैष्ठिक ज्ञान प्राप्तकर जिन्होंने इसका प्रेमपूर्वक उपदेश दिया है;

२५ जिन्होंने सब दोषोंका अन्त कर लिया है, जो सब जीवोंपर दयादृष्टि रखते हैं और जो सबका उपकार करते हैं, वह सर्वज्ञ सब कुछ छोड़ने

जा रहे हैं।

२६ यदि महामुनि भी, जिनकी भुजाएँ बड़ी बड़ी हैं और जिनकी वाणी मृदु एवं स्पष्ट है, नाशको प्राप्त हो रहे हैं, तो नाशको प्राप्त होनेसे कौन बच सकेगा?

२७ अतः बुद्धिमान् मनुष्यको शीघ्र ही धर्मकी शरणमें जाना चाहिए, जैसे कि जङ्गलमें भटका हुआ काफिलेका सौदागर, पानी देखकर, तेजीसे उसकी शरणमें जाता है।

२८ अनित्यता एक बुराई है जो विनाश-कार्यमें भेद-भाव नहीं रखती है, ऐसा जानकर जो मनुष्य धर्मके विषयमें प्रसुप्त नहीं रहता, वह पड़े रहनेपर भी प्रसुप्त नहीं है।"

२९ तब शानोपभोक्ता नरसिंह सिंहने जन्मकी बुराइयोंकी निन्दा की और जन्म-विनाशकी प्रशंसा।

३० जन्म-मूलोच्छेद करनेकी, सद्व्रत ग्रहण करनेकी और चञ्चल चित्त को संयत करनेकी इच्छासे उसने नैष्ठिक मार्गपर चलनेकी इच्छा की।

३१ शान्ति-मार्गपर चलनेकी, भव-सागरसे त्राण पानेकी और सदा उदा[त्त] रहनेकी इच्छासे उसने जन्म-उच्छेद करना चाहा।

३२ उस समय जब कि मुनि निर्वाण प्राप्त करनेकी इच्छा कर रहे थे उस सिंहने दान दिया और अभिमान-परित्याग किया, धर्मका ध्यान किया और शान्ति प्राप्त की, और इस तरह उसने पृथ्वीको शून्य पद समझा।

३३ तब गजराजके समान अपना सारा शरीर घुमाकर नगरकी ओर देखते हुए, मुनि ने ये वचन कहे :—

३४ "हे वैशाली, अपने जीवनके शेष भागमें मैं तुम्हें फिर न देखूँगा क्योंकि मैं निर्वाणकी ओर जा रहा हूँ।"

*३५ श्रद्धापूर्वक और धर्मकी इच्छासे वे पीछे-पीछे आरहे हैं, देखकर मुनिने उन्हें विदा किया, जिनका चित्त उस समय तक प्रवृत्तिमें लगा हुआ था।

३६ तब यथाक्रम विनायक भोगनगरकी ओर बढ़े और वहाँ ठह[रे]

सर्वज्ञने अपने अनुचरों से कहा :—

३७ "आज मेरे चले जानेपर तुम्हें धर्ममें अपना श्रेष्ठ ध्यान लगाना चाहिए। यही तुम्हारा चरम लक्ष्य है; इसके अतिरिक्त सब कुछ केवल श्रम है।

३८ जो कुछ सूत्रोंमें समाविष्ट न हो या विनयमें दिखाई न पड़े वह सब मेरे सिद्धान्तके प्रतिकूल है और उसे किसी भी प्रकार ग्रहण न करना चाहिए।

३९ क्योंकि वह न तो धर्म है, न विनय, और न मेरे वचन; यद्यपि बहुतसे लोग उसे कहते हों, तो भी अज्ञान-जन्य वचनकी तरह उसे अस्वीकार करना चाहिए।

४० जो पवित्र हैं उनका उपदेश ग्राह्य है, क्योंकि वही है धर्म, विनय और मेरे वचन; और इसके अनुसार नहीं चलना गड्ढेमें गिरना है।

४१ इसलिए जो कुछ श्रद्धाके योग्य है वह संक्षेपसे मेरे सूत्रोंमें कहा गया है। जो कोई उसके अनुसार चलता है, वह विश्वसनीय है, और इसे छोड़कर दूसरा कोई प्रमाण नहीं (= तस्माद्दते नास्ति प्रमाणमन्यत्)।

४२ मोह-वश अधर्मका प्रतिपादन करनेवाले धार्मिक शास्त्रोंकी उत्पत्ति होगी, मेरे इन सूक्ष्म विचारोंके विषयमें अज्ञान और अनिश्चय होने से,

४३ या अज्ञान-मिश्रित विचारोंके कारण या विभेदोंका ज्ञान नहीं होने से, जैसे कि सोनेके समान दिखाई पड़नेवाले पीतलसे लोग ठगे जाते हैं।

४४ इस प्रकार जो धर्म नहीं है, किंतु धर्मका कपट-रूपमात्र, वह वञ्चना है, जिसकी उत्पत्ति होती है प्रज्ञाके अभावसे या तत्त्वको न समझ सकनेके कारण।

४५ इसलिए विनय एवं सूत्रोंकी सहायतासे तुम्हें इसकी उचित रीतिसे (=न्यायतः) परीक्षा करनी चाहिए, जैसे कि सुनार सोनेको तपाकर, काटकर और तार बनाकर परखता है।

४६ वे मनुष्य बुद्धिमान् नहीं, जो शास्त्रोंको नहीं जानते; वे अनुचित (अन्याय) मार्गको उचित (न्याय) मार्ग समझते हैं और उचित मार्गको अनुचित।

४७ इसलिए शब्द और अर्थके अनुसार ठीक-ठीक सुनकर इसे ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि जो कोई शास्त्रको अनुचित रीतिसे ग्रहण करता है वह अपनेको ही क्षति पहुँचाता है, जैसे कि तलवारको अनुचित रीतिसे ग्रहण करनेवाला अपनेको ही काटता है।

४८ जो शब्दको ठीक ठीक नहीं समझता है उसके लिए अर्थ दुर्लभ हो जाता है, जैसे कि रात्रिकालमें किसी आदमीके लिए उस घरको पाना (खोजना) कठिन हो जाता है, जहाँ वह पहले कभी न गया हो और जहाँका रास्ता टेढ़ा-मेढ़ा हो।

४९ जब अर्थ नष्ट हो जाता है तो धर्म (शास्त्र) नष्ट हो जाता है और धर्मके नष्ट होनेपर योग्यता (पात्रता) नष्ट हो जाती है; इसलिए वह बुद्धिमान् है जिसका चित्त अर्थको ठीक ठीक समझता है।"

५० जब भगवान् ये वचन कह चुके, तब वह यथासमय पापा-पुरमें गये, जहाँ मल्लोंने उनका पूरा सम्मान किया।

५१ तब भगवान्ने अपने भक्त चुन्दके घर—उसीके लिए, न कि अपने सहारेके लिए—अन्तिम भोजन किया।

५२ तब अपनी शिष्य-मण्डलीके साथ भोजन कर चुकनेपर तथागतने चुन्दको धर्मोपदेश दिया और फिर कुशीनगर चले गये।

५३ इस तरह चुन्दके साथ उन्होंने इरावती नदी पार की और स्वयं उस नगरके एक उपवनमें शरण ली, जहाँ कमलोंका एक शान्त सरोवर था।

५४ उन्होंने, जो सोनेके समान चमक रहे थे, हिरण्यवती नदीमें स्नान किया और तब शोकाकुल आनन्दको, जो संसारका आनन्द (=लोकानन्द) था, इस प्रकार आदेश दिया :—

५५ "आनन्द, इन जोड़े साल-वृक्षोंके बीच मेरे लेटनेके लिए स्थान तैयार करो; आज रात्रिके उत्तर भागमें तथागत निर्वाण प्राप्त करेगा।"

---

५३ "इरावती"के अन्य वैकल्पिक रूप "अचिरावती" "अजिरावती" और "ऐरावती" हो सकते हैं। चीनी अनुवादमें "कुकु" शब्द है, जो पालिके "ककुत्था"के लिए आया है।

५६ जब आनन्दने ये वचन सुने, तब आँसुओंसे उसकी आँखें भर गईं, उसने बुद्धके लेटनेके लिए स्थान तैयार किया और वैसा कर चुकनेपर, विलाप करते हुए उन्हें इसकी सूचना दी।

५७ तब वह नर-श्रेष्ठ चिरनिद्राके निमित्त तथा सब दुःखोंका अन्त करनेके लिए अपनी अन्तिम शय्याके समीप गये।

५८ अपने शिष्योंके सन्मुख हाथरूपी उपधानपर शिर तथा एक पाँवपर दूसरा पाँव रखते हुए वह दाईं करवट लेट गये।

५९ तब उस समय पक्षियोंने शब्द नहीं किया और वे (पक्षी) शिथिल-शरीर हो बैठे रहे, जैसे ध्यानावस्थित हों।

६० तब वृक्षोंने, जिनके पत्ते हवासे प्रेरित हुए विना ही हिल रहे थे, विवर्ण फूल गिराये, मानो रो रहे हों।

६१ जैसे दिवाकरके अस्ताचलपर आनेपर, पथिकोंको विश्रामभूमि दिखाई पड़ती है, वैसे ही अन्तिम शय्यापर मुनिको देखकर उन्हें (शिष्योंको) शीघ्र ही उत्तम लक्ष्य दृष्टिगोचर हुआ।

६२ तब अन्तिम विश्राम-भूमिपर पड़े हुए सर्वज्ञने अश्रु-आविल आनन्दसे दयापूर्वक कहा :—

६३ "मल्लों से, हे आनन्द, मेरे निर्वाण-प्राप्तिके समयके बारेमें कहो; क्योंकि यदि वे निर्वाण न देखेंगे, तो पीछे बहुत पछतायेंगे।"

६४ तब आँसुओंसे मूर्छित होते आनन्दने आज्ञा-पालन किया और मल्लोंसे कहा—"मुनि अन्तिम शय्यापर पड़े हुए हैं।"

६५ तब उस समय आनन्दके वचन सुनकर, दुःखसे अभिभूत हो, शोक करते हुए और आँखोंसे आँसू बहाते हुए वे नगरसे ऐसे निकले, जैसे सिंहके डरसे साँड़ पर्वतसे निकल रहे हों।

६६ आनन्द-रहित होनेके कारण उनके कपड़े अस्त-व्यस्त थे और पगोंके संक्षोभसे उनके शिरोवस्त्र काँप रहे थे। तब वे उस उपवनमें उन देवोंके समान दुःखी होकर आये, जिनके पुण्य क्षीण हो गये हों।

६७ इस तरह वहाँ आकर उन्होंने मुनिको देखा और देखनेके बाद उन्हें

प्रणाम करते समय उनके मुख आँसुओंसे भर गये। सम्मान प्रकट करनेपर संतप्त हृदयसे वे वहाँ खड़े रहे और मुनिने उन्हें कहा :—

६८ "आनन्दके समय शोक करना उचित नहीं। नैराश्य 'अस्थाने' है, शान्ति प्राप्त करो। वह अतिदुर्लभ लक्ष्य, जिसकी मैंने कल्पोंसे अभिलाषा की है, अब मेरे समीप आगया है।

६९ वह लक्ष्य अति उत्तम है, भूमि जल अनल-अनिल व शून्य—इन तत्त्वोंसे रहित है, सुखमय व अविकारी है, अतीन्द्रिय शान्त और अहार्य है, उदय एवं व्ययसे रहित है। यह सुनकर शोकके लिए स्थान नहीं।

७० पूर्वमें बोधिके समय गयामें मैंने अकुशल जन्मके कारणोंको सर्पोंके समान काट डाला; किंतु अतीतमें एकत्र हुए कर्मोंका यह निवास-गृह—यह शरीर—आज तक बचा हुआ है।

७१ क्या मेरे लिए शोक करना उचित है जो तुम सब रो रहे हो, जब कि यह समष्टि—दुःखका महा-कोषगृह—व्ययको प्राप्त हो रहा है, जब कि जन्मका महाभय उन्मूलित हो रहा है और जब कि मैं महादुःखसे विदा हो रहा हूँ ?"

७२ जब उन्होंने शाक्यमुनिको बादलकी-सी आवाजमें यह कहते सुना कि उनके लिए शान्ति (निर्वाण) प्राप्त करनेका समय आगया है, तब बोलनेकी इच्छासे उनके मुख विकसित हुए और उनमेंसे वृद्धतमने ये वचन कहे :—

७३ "क्या शोक करना उचित है जो तुम सब रो रहे हो ? मुनि उस मनुष्यके समान हैं जो आग-लगे घरसे बच निकला हो, और जब कि देवोंके अधिपति भी इसे ऐसा ही समझें तब मनुजोंका क्या कहना ?

७४ किंतु इससे हमें दुःख हो रहा है कि शास्ता तथागत निर्वाण प्राप्तकर लेनेपर फिर दिखाई न पड़ेंगे; मरुभूमिमें उत्तम पथ-प्रदर्शकके मरनेपर किसे अत्यन्त दुःख न होगा ?

७५ सोनेकी खानसे दरिद्र होकर आनेवालोंके समान वे लोग अवश्य ही उपहासके पात्र हैं जो महर्षि सर्वज्ञ गुरुका साक्षात् दर्शनकर सन्मार्ग

(=विशेष) न प्राप्त करें।"

७६ इस तरह मल्लोंने पुत्रवत् हाथ जोड़कर बहुत कुछ युक्ति-युक्त कहा और श्रेष्ठ महात्माने उत्तम-अर्थ-भरे शब्दोंमें परम श्रेय एवं शान्तिके उद्देशसे यों उत्तर दिया :—

७७ "सच तो यह है कि कठोर योगाचारके विना केवल मेरे दर्शनसे ही मुक्ति (निर्वाण) नहीं मिलती; जो कोई मेरे इस धर्म को ठीक-ठीक समझता है वह मेरे दर्शनके विना भी दुःखके जालसे मुक्त हो जाता है।

७८ जैसे कोई मनुष्य औषधि-सेवन किये विना केवल वैद्यको देखकर ही रोगमुक्त नहीं हो जाता, वैसे ही जो कोई मेरे इस धर्मकी भावना नहीं करता वह मेरे दर्शनसे ही दुःख-मुक्त नहीं हो जाता है।

७९ इस जगत्में मेरे धर्मको देखनेवाला संयतात्मा मनुष्य दूरवर्ती होनेपर भी मुझे देखता है; और जो श्रेय-परायण नहीं है वह मेरे बगलमें रहकर भी बहुत दूरमें रहता है।

८० इसलिए सदा आलस्य-रहित (वीर्यवान्) रहो और मनको वशमें रखो; परिश्रमपूर्वक श्रेयस्कर कार्य करो, क्योंकि हवामें जलती दीप-शिखाके समान जीवन चञ्चल और महादुःखके वशीभूत है।"

८१ इस तरह मुनिद्वारा, श्रेष्ठ प्राणीद्वारा, उपदिष्ट होकर वे, जिनके चित्त संतप्त थे और जिनकी आँखोंसे आँसू बह रहे थे, अनिच्छा एवं दीनतापूर्वक कुशीनगरकी ओर लौट गये, जैसे प्रतिकूल धारामें नदीका मध्य भाग पार कर रहे हों।

बुद्धचरित महाकाव्यका "निर्वाण-पथपर"
नामक पचीसवाँ सर्ग समाप्त।

छब्बीसवाँ सर्ग

महापरिनिर्वाण

१ तब त्रिदण्डी सुभद्रने, जो सद्गुणोंसे सम्यक् युक्त था और जो किसी जीवको क्लेश नहीं देता था, भिक्षु होकर निर्वाण प्राप्त करनेके उद्देशसे मुनिको

देखना चाहा। अतः उसने सबको आनन्दित करनेवाले आनन्दसे कहा :—

२ "मैंने सुना है कि मुनिकी निर्वाण-प्राप्तिकी घड़ी (वेला) आ गई है और इसलिए मैं उन्हें देखना चाहता हूँ; क्योंकि इस जगत्‌में प्रतिपदाके चाँदके समान परम धर्ममें प्रवेश पाये हुएका दर्शन दुर्लभ है।

३ मैं आपके विनायकको देखना चाहता हूँ, जो सब दुःखोंके अन्तकी ओर जानेवाले हैं; बादलोंमें छिपकर डूबते हुए सूरजके समान वह मेरे देखे बिना ही व्यय (अस्त) को प्राप्त न हों।"

४ धर्म-पिपासाके बहाने यह परिव्राजक विवाद करने आया है, इस विचारसे आनन्दका चित्त भावाविष्ट हो गया; और अश्रु-पूर्ण मुखसे उसने कहा, "यह (उपयुक्त) समय नहीं।"

५ तब, परिव्राजककी दृष्टि (फूलकी) पंखुड़ीके समान विकसित हो रही है, यह देखकर मनुष्योंके आशय जाननेवाले चन्द्रोज्ज्वल मुनिने कहा, "हे आनन्द, द्विजको न रोको, क्योंकि मेरा जन्म जगत्‌के हितके लिए हुआ था।"

६ तब आश्वस्त एवं परम प्रसन्न होकर सुभद्र श्रेय-विधायक श्रीघनके समीप गया; और अवसरके अनुकूल शान्त भावसे उन्हें अभिवादनकर उसने ये वचन कहे:—

७ "कहा जाता है कि आपने निर्वाण-मार्ग प्राप्त किया है जो मेरे जैसे दार्शनिकों (=परीक्षक) के (मोक्ष-) मार्गसे भिन्न है; अतः मुझसे इसकी व्याख्या कीजिए, क्योंकि मैं इसे ग्रहण करना चाहता हूँ। आपको देखनेकी मेरी इच्छाका कारण स्नेह है, न कि विवाद करनेकी चाह।"

८ तब समीप आये हुए द्विजसे बुद्धने अष्टाङ्गिक मार्गकी व्याख्या की और उसने इसे ध्यानपूर्वक सुना, जैसे कि मार्गसे भटका हुआ मनुष्य सही आदेशको ध्यानपूर्वक सुनता है, और उसने इसपर ··· ··· अच्छी तरह विचार किया।

९ तब उसने देखा कि जिन रास्तोंपर वह पहले चला था उनपर चलनेसे श्रेय प्राप्त नहीं होता है, और अदृष्टपूर्व मार्ग प्राप्तकर उसने दूसरे रास्तोंका परित्याग किया जो कि हृदयके अन्धकारसे युक्त हैं।

१० क्योंकि उन मार्गों पर, कहते हैं, रजस्-युक्त तमस् प्राप्त करनेसे अकुशल कर्म एकत्र होते हैं, और सत्त्व-युक्त रजस् द्वारा कुशल कर्म बढ़ते हैं।

११ विद्या, बुद्धि व प्रयत्नद्वारा सत्त्वकी वृद्धि होनेसे तथा रजस् व तमस्‌का तिरोभाव होनेसे कर्म-फलका नाश होनेके कारण कर्म-फल क्षीण हो जाता है (ऐसा वे कहते हैं), और उस कर्म-शक्ति को, जिसे वे मानते हैं, स्वभावका परिणाम कहते हैं।

१२ संसारमें चित्तको मोहमें डालनेवाले रजस् और तमस्‌का कारण वे स्वभाव बताते हैं। क्योंकि स्वभाव नित्य माना जाता है इसलिए वे दोनों (रजस् और तमस्) भी नित्य हैं, और उनका अभाव नहीं हो सकता।

१३ यदि किसी व्यक्तिके सत्त्वयुक्त होनेपर उन दोनोंका अभाव हो भी जाय, तो काल-वश उनका फिर प्रादुर्भाव होगा, जैसे कि पानी, जो रातको धीरे-धीरे बर्फ बन जाता है, काल-क्रमसे फिर अपनी स्वाभाविक अवस्थाको लौट जाता है।

१४ क्योंकि सत्त्व स्वभावतः नित्य है, इसलिए विद्या, बुद्धि एवं प्रयत्न इसे बढ़ा नहीं सकते; और क्योंकि इसकी वृद्धि नहीं होती, इसलिए उन दोनोंका नाश नहीं होता और क्योंकि उनका नाश नहीं होता, इसलिए (उन मार्गोंपर चलनेसे) नैष्ठिक शान्ति नहीं होती।

१५ पहले उसका मत था कि जन्म स्वभावसे होता है, अब उसने देखा कि उस मतमें (वस्तुतः) मोक्ष नहीं है; क्योंकि यदि जीवन स्वाभाविक है, तो मोक्ष वैसे ही असंभव है जैसे कि प्रज्वलित अग्निसे निकलते हुए प्रकाशको रोकना।

१६ बुद्धके मार्गको सत्य देखकर उसने संसारको इच्छापर आश्रित समझा, इच्छाका नाश होनेपर शान्ति (=शम) मिलती है, क्योंकि कारणका विनाश होनेसे कार्यका भी विनाश होता है।

१७ पहले उसका मत था कि आत्मा शरीरसे भिन्न है और विकारवान् (परिवर्तनशील) नहीं है, अब मुनिके वचन सुननेसे उसने जाना कि जगत् अनात्म है और (जगत्) आत्माका परिणाम नहीं है।

१८ यह जानकर कि जन्म अनेक धर्मोंके पारस्परिक सम्बन्धपर आश्रित है, और कुछ भी अपनेपर आश्रित नहीं है, उसने देखा कि प्रवृत्ति दुःख है और निवृत्ति है दुःखसे मुक्ति।

१९ संसारको एक परिणाम समझकर उसने प्रलयका सिद्धान्त छोड़ा, और संसारका व्यय होता है, यह जानकर उसने नित्यताका मत धैर्यपूर्वक शीघ्र ही छोड़ा।

२० महामुनिका उपदेश सुनकर और ग्रहण कर, उसने अपने पूर्व मतोंका तुरत परित्याग किया; क्योंकि उसने पहले ही अपनेको तैयारकर लिया था, जिससे सद्धर्ममें वह शीघ्र ही लग गया।

२१ उसका चित्त श्रद्धा-युक्त हो गया और परम (धर्म) को पाकर उसने शान्त एवं अविकारी पद प्राप्त किया; और इसलिए, वहाँ लेटे हुए मुनिकी ओर कृतज्ञतापूर्वक देखते हुए, उसने यह निश्चय किया:—

२२ "मेरे लिए यह उचित नहीं कि यहाँ रहकर मैं पूज्य एवं श्रेष्ठ शास्ताकी निर्वाण-प्राप्ति देखूँ; करुणामय शास्ताकी निर्वाण-प्राप्तिसे पूर्व ही मैं स्वयं सीधे नैष्ठिक अन्तको प्राप्त होऊँगा।"

२३ तब मुनिको प्रणाम कर, वह साँपकी तरह निश्चल हो गया और हवासे विलीन हुए बादलके समान एक ही क्षणमें निर्वाणकी शान्तिमें प्रविष्ट हुआ।

२४ तब संस्कारोंके जाननेवाले मुनिने उसके दाह-संस्कारके लिए यह कहते हुए आदेश दिया, "उत्तम शिष्यवाले महामुनिका यह अन्तिम शिष्य अन्तको प्राप्त हुआ।"

२५ जब रातका पूर्व भाग बीत गया, चन्द्रमाने ताराओंका प्रकाश ग्रस लिया, और उपवन ऐसे नीरव हो गये जैसे सोये हुए हों, तब महाकारुणिकने अपने शिष्योंको उपदेश दिया :—

२६ "मेरे उस पार चले जानेपर तुम्हें प्रातिमोक्षको अपना आचार्य, अपना प्रदीप और अपना कोष समझना चाहिए। वही तुम्हारा उपदेशक है जिसके अधीन तुम्हें रहना चाहिए और तुम्हें इसकी आवृत्ति करनी चाहिए

२६ प्रातिमोक्ष=भिक्षु-जीवनके पापनिषेधक नियम।

जैसे कि मेरे जीवन-कालमें करते थे।

२७ शारीरिक एवं वाणीके कर्मोंकी शुद्धिके लिए सब सांसारिक कार्यों (=व्यवहार) को छोड़ो तथा भूमि, जीव, अन्न और कोष आदि लेनेसे (=√ग्रह) वैसे ही बचो जैसे कि आग पकड़नेसे (=√ग्रह)।

२८ पृथ्वीपर जो कुछ पैदा होता है उसे काट गिरानेसे, धरतीको खोदने व जोतनेसे तथा ओषधि एवं ज्योतिष (के व्यवसाय) से विरत रहना जीविकाका उचित उपाय है।

२९ घटक (मध्यस्थ) का ज्ञान प्राप्त करनेमें, तंत्र-मंत्रके प्रयोगमें, कुटिल एवं कपटी होनेमें या शास्त्र-सम्मत सिद्धियोंमें, न संयम है न संतोष और न जीवन ही।

३० इस प्रकार प्रातिमोक्ष शीलका सार है, मुक्तिका मूल है; इससे समाधि, समस्त ज्ञान एवं अन्तिम लक्ष्य प्राप्त होते हैं।

३१ इसलिए वही धर्मवान् है जिसका शील विशुद्ध व अखण्ड है, अविच्छिन्न व अविनष्ट है, क्योंकि शील ही सद्‌गुणोंका आश्रय है।

३२ शीलके अक्षुण्ण व विशुद्ध रहनेपर इन्द्रिय चञ्चल नहीं रहते; क्योंकि, जैसे लाठी लेकर पशुओंको फसलसे दूर रखते हैं वैसे ही दृढ़तापूर्वक छः इन्द्रियोंकी (विषयोंसे) रक्षा (=संवरण) करनी चाहिए।

३३ विषयोंके बीच इन्द्रियरूपी घोड़ोंको (स्वतन्त्र) छोड़नेवाला मनुष्य (सन्मार्गसे) बहकता है और उन (विषयों) से तृप्ति नहीं पाता है। कुमार्गगामी घोड़ोंके कारण मार्ग-भ्रष्ट हुए के समान वह उनके कारण विपत्ति भोगता है।

३४ इस जगत्में कुछ लोग महाशत्रुओंके हाथमें पड़कर दारुण दुःख भोगते हैं, किन्तु मोहवश विषयोंके वशीभूत होनेवाले लोग विवश होकर इस जन्ममें और जन्मान्तरोंमें दुःखके अधीन होते हैं।

३५ अतः इन्द्रियोंसे वैसे ही दूर रहना चाहिए, जैसे कि बुरे (=विषम) विपक्षी राजाओंसे; क्योंकि इस जगत्में इन्द्रिय-सुख भोगनेके बाद मनुष्य जगत्में इन्द्रियोंके जल्लादको देखता है।

३६ संसारमें बाघ, साँप, जलती आग या शत्रुसे उतना नहीं डरना चाहिए जितना कि अपने ही चञ्चल चित्तसे, जो मधुको देखता है किन्तु खतरेको नहीं।

३७ लोहेके अंकुशसे अनियंत्रित मतवाले हाथीके समान या कूदने कूदनेवाले शाखामृगके समान चित्त स्वेच्छानुसार सब दिशाओंमें घूमता रहता है; इसे चञ्चलताका अवसर ही न देना चाहिए।

३८ चित्तके स्वतन्त्र रहनेपर शान्ति नहीं मिलती, किन्तु इसके स्थिर होनेपर कार्य पूरा होता है। इसलिए यथाशक्ति यत्न करो जिससे तुम्हारे चित्त चंचलतासे विरत हो जायँ।

३९ ओषधिकी मात्राके समान भोजनकी उचित मात्राका पालन करो, और इससे अनुराग या घृणा न करो, उतना ही खाओ जितना कि क्षुधा-शान्ति और शरीर-रक्षाके लिए आवश्यक है।

४० जैसे उद्यानमें रस-पान करते हुए भौंरे फूलोंको नष्ट नहीं करते, वैसे ही अन्य मतावलम्बियोंका विनाश नहीं करते हुए (अन्य मतावलम्बी गृहस्थोंके लिए भार-स्वरूप नहीं होते हुए) उचित समयपर भिक्षाटन करो।

४१ अत्यन्त भारी बोझ नहीं रखना चाहिए, यह नियम बैल और दाता दोनोंके लिए ही लागू है, इस संसारमें अत्यन्त भारी बोझसे दबकर बैल गिर

---

३६ "यथा पश्यति मध्वेव न प्रपातमवेक्षते।"
—सौन्दरनन्द ग्यारह २९।

३९ "भोजने भव मात्राज्ञ... ..."—सौन्दरनन्द १४।१
भोजन और नींदके लिए देखिये—सौन्दरनन्द सर्ग १४

४० "यथापि भमरो पुप्फं वण्णगन्धं अहेठयं।
पलेति रसमादाय एवं गामे मुनी चरे॥—धम्मपद ४।६।
"जिस प्रकार फूलके वर्ण या गन्धको बिना हानि पहुँचाये भ्रमर रस लेकर चल देता है, उसी प्रकार मुनि गाँवमें विचरण करे।"

४१ पूर्वार्धका अनुवाद स्वतन्त्र है और उत्तरार्धका चीनी अनुवादके आधारपर।

पड़ता है और जो हाल बैलका है वही दाता का भी।

४२ सारा दिन और रातका प्रथम व अन्तिम भाग (= याम) योगाचारमें बिताओ और मध्य भागमें स्मृतिपूर्वक सोओ, जिससे कोई अनर्थ न हो।

४३ कालरूपी अग्निसे संसारके जलते रहनेपर क्या सारी रात सोना उचित है? जब कि हृदयमें रहनेवाले दोष शत्रुओंके समान प्रहार करते हैं, तब कौन नींदके वशीभूत हो?

४४ इसलिए, जैसे कि मंत्र आदिसे कृष्ण सर्पको घरसे बाहर किया जाता है, वैसे ही ज्ञान और मंत्रोच्चारण द्वारा हृदयमें रहनेवाले दोषरूपी साँपोंको भगाकर तुम्हें सोना चाहिए,... ...।

४५ लज्जा (=ह्री) एक आभूषण है और उत्तम वस्त्र है, मार्गभ्रष्टोंके लिए अंकुश है। ऐसा होनेपर तुम्हें लज्जा होनी चाहिए; क्योंकि निर्लज्ज होना गुण-हीन होना है।

४६ मनुष्य जितना ही लज्जावान् होता है, उतना ही उसका (आदर होता) है, और जो निर्लज्ज तथा हित-अहितके विवेकसे शून्य है वह नर पशु-तुल्य है।

४७ यदि कोई आदमी तलवारसे तुम्हारी भुजाएँ और अङ्ग काट डाले तो भी तुम्हें उसके प्रति पाप-भावका पोषण न करना चाहिए और न उसे अशान्त शब्द ही कहना चाहिए, क्योंकि ऐसा करनेसे तुम्हें ही विघ्न होगा।

४८ क्षमाके समान कोई तप नहीं, जो क्षमावान् है उसे शक्ति है, धैर्य है और जो दूसरोंका कठोर व्यवहार नहीं सह सकते वे न तो धर्म-संस्थापकोंके मार्गपर ही चलते हैं और न उनका त्राण ही होता है।

४९ क्रोधको थोड़ा-सा भी अवकाश (प्रश्रय) न दो, यह धर्म और यशको नष्ट करता है, रूपका शत्रु है, हृदयकी अग्नि है; गुणोंके लिए इसके समान कोई शत्रु नहीं।

५० क्रोध प्रव्रज्याके लिए प्रतिकूल है, वैसे ही जैसे कि बिजलीकी अग्नि शीतल जलके लिए, किंतु क्रोध गृहस्थ-जीवनके लिए प्रतिकूल नहीं है; क्योंकि गृहस्थ इच्छाओंसे भरे होते हैं और इसके सम्बन्धमें कोई व्रत लिए नहीं होते हैं।

५१ यदि तुम्हारे हृदयमें अभिमानका उदय हो, तो सुन्दर बालोंसे विहीन मस्तकको छूकर अपने काषाय वस्त्र एवं भिक्षा-पात्रको देखकर, और दूसरोंके कर्म (= कर्मान्त) और आचरणका चिन्तन कर, इसे दूर करो।

५२ यदि अभिमान-युक्त सांसारिक मनुष्य अभिमानको जोतने के लिए (यत्न करे), तो फिर उनका क्या कहना, जिनके मस्तक मुड़े हुए हैं, जिन्होंने अपने को निर्वाण (-धर्म) में लगाया है, जो भिक्षाका अन्न खाते हैं और जिन्होंने अपने को प्रमाणित किया है ?

५३ कपट और धर्माचरण असंगत हैं, इसलिए कुटिल उपायोंका सहारा न लो। छल (कपट) और छद्म (=माया) ठगनेके लिए हैं किंतु जो धर्ममें लगे हुए हैं, उनके लिए ठगना-जैसी कोई चीज नहीं।

५४ बड़ी-बड़ी इच्छाएँ रखनेवालेको जो दुःख होता है वह अल्प इच्छा-वालेको नहीं होता है। इसलिए अल्पेच्छताका अभ्यास करना चाहिए और विशेषतः उन्हें, जो गुणोंकी परिपूर्णता चाहते हैं।

५५ जो धनवानोंसे बिलकुल नहीं डरता वह कृपणोंको देखनेसे नहीं डरता; जिसकी इच्छाएँ अल्प हैं और जो "कुछ नहीं है" यह सुनकर उदास नहीं होता, उसीको निर्वाण प्राप्त होता है।

५६ यदि तुम निर्वाण चाहते हो तो संतोषका अभ्यास करो, संतोष होनेपर ही यहाँ (सच्चा) सुख मिलता है और संतोष ही धर्म है। संतुष्ट मनुष्य भूमिपर भी शान्तिपूर्वक सोते हैं और असंतुष्ट मनुष्य स्वर्गमें भी जलते रहते हैं।

५७ असंतुष्ट मनुष्य अत्यन्त धनवान् होनेपर भी सदा दरिद्र ही रहता है और संतुष्ट मनुष्य अत्यन्त दरिद्र होनेपर भी सदा धनी ही रहता है। प्रिय विषयोंकी खोज करनेवाला असंतुष्ट मनुष्य, तृप्ति पानेके लिए श्रम करता हुआ अपने ही लिए दुःख पैदा करता है।

५८ जो परम शान्ति-सुख पाना चाहते हैं, उन्हें सुखमें इतना आसक्त होना चाहिए। क्योंकि इन्द्र और दूसरे देवगण भी संसारके उस मनुष्यसे ईर्ष्या (=स्पृह्) करते हैं जो केवल शान्ति (की प्राप्ति)में लगा हुआ है।

---

५५ पूर्वार्धका अनुवाद अनिश्चित कहा गया है।

५९ आसक्ति दुःखका निवास-वृक्ष है; इसलिए स्वजनोंमें या दूसरोंमें आसक्ति छोड़ो। इस संसारमें अत्यन्त आसक्त मनुष्य दुःखमें वैसे ही फँसता है, जैसे कि जरा-जीर्ण हाथी कीचड़में।

६० नदी द्वारा—जिसका जल निरंतर बह रहा हो, अत्यन्त धीरे धीरे ही क्यों नहीं—कालक्रमसे चट्टानकी सतह घिस जाती है। वीर्य (उद्योग) के लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं। अतः उद्यमी बनो और अपने भारको न फेंको।

६१ जो मनुष्य अरणियोंको रगड़नेमें बार बार रुकता है उसके लिए काठसे आग निकालना कठिन हो जाता है, किंतु उद्योग करनेसे वह आसानी-से निकल आती है। अतः जहाँ परिश्रम है वहाँ सिद्धि है।

६२ स्मृति (जागरूकता) रहनेपर दोष काम नहीं करते (अर्थात् निष्क्रिय हो जाते हैं); स्मृतिके समान न कोई मित्र है, न कोई रक्षक, और स्मृतिके नष्ट होनेपर अवश्य ही सब कुछ नष्ट हो जाता है। अतः शरीरमें लगी (= कायगता) स्मृतिको शिथिल न करो।

६३ जिनका चित्त दृढ़ है वे शरीरके लिए स्मृतिरूपी कवच पहनकर विषयोंकी रण-भूमिमें उन वीरोंकी तरह आचरण करते हैं, जो कवच पहनकर शत्रु-व्यूहमें निर्भयतापूर्वक घुस जाते हैं।

६४ इसलिए अपने भावोंको सम तथा चित्तको नियंत्रित रखते हुए संसारके उदय और व्ययको जानो और समाधिका अभ्यास करो। क्योंकि जिसने मानसिक समाधि प्राप्तकर ली है उसे कोई आधियाँ स्पर्श नहीं करतीं।

६५ जैसे बढ़ते हुए पानीको रोकनेके लिए मनुष्य परिश्रमपूर्वक बाँध बनाते हैं, वैसे ही समाधिको उस बाँधके समान बताते हैं जिसके द्वारा विचाररूपी जल स्थिर किया जाता है।

६६ उस बुद्धिमान् मनुष्य (= प्राज्ञ) का, जो सदा अपनी सम्पत्ति (ऐश्वर्य) दान करता है और हृदयसे अत्यन्त धर्माभिमुख रहता है, त्राण होता है; फिर उस भिक्षुके त्राणका क्या कहना, जिसे घर भी नहीं है।

६७ प्रज्ञा, जरा-मरणरूपी महासागर में एक नौका है, मोहान्धकारमें मानो एक प्रदीप है, सब व्याधियोंको दूर करनेवाली ओषधि है, दोषरूपी

वृक्षोंको काटनेवाली तेज कुल्हाड़ी है।

६८ इसलिए प्रज्ञाकी वृद्धिके लिए विद्या, ज्ञान और भावनाका अभ्यास करो; क्योंकि जिसे प्रज्ञा-चक्षु है, उसे ही वास्तविक दृष्टि है, यद्यपि उस चक्षुमें (स्थूल पदार्थोंको) देखनेकी शक्ति नहीं होती।

६९ घर छोड़नेपर भी यदि कोई मनुष्य चित्तके विविध व्यापारोंमें लगा रहे तो उसका त्राण नहीं होता: जो लोग परम शम प्राप्त करना चाहें वे रहे जानें और सब व्यापारोंसे मुक्त हो जायँ।

७० इसलिए अप्रमादमें वैसे ही लगो जैसे कि गुरुमें और प्रमादका वैसे ही परित्याग करो जैसे कि शत्रुका। अप्रमादद्वारा इन्द्रने राज्य प्राप्त किया और प्रमादद्वारा उद्धत असुरोंने विनाश।

७१ करुणामय, सहानुभूतिपूर्ण एवं हितैषी गुरुको जो कुछ करना चाहिए वह सब मैंने किया; अब अपनेको लगाओ और चित्तको शान्त करो।

७२ तब, जहाँ कहीं रहो, पर्वतपर या शून्य भवनमें या जंगलमें, धर्माचरणमें सदा प्रयत्नशील (अप्रमत्त) रहो और पश्चाताप न करो।

७३ रोगियोंकी शारीरिक अवस्थाओंका पूरा-पूरा विचारकर, उन्हें उचित औषधि बताना वैद्यका काम है; किंतु उचित समयपर औषधि-सेवन करनेका उत्तरदायित्व रोगीपर ही है, न कि वैद्यपर।

७४ पथ-प्रदर्शक (=देशिक) द्वारा उत्तम सीधा समतल एवं निरापद मार्ग बताये जानेपर, यदि सुननेवाले उसपर नहीं चलें और विनाशको प्राप्त हों, तो पथ-प्रदर्शकके ऊपर आदेशरूपी ऋण शेष नहीं रहता।

७५ तुम लोगोंमें जिस किसीको दुःख आदि चार सत्योंके मेरे उपदेशके बारेमें (कुछ भी जाननेकी) इच्छा हो, वह तुरत मुझसे विश्वासपूर्वक कहे और अपना संशय दूर करे।"

७६ महामुनिद्वारा इस तरह जोरोंसे कहे जानेपर वे सब संशय-रहित

६८ "प्रज्ञामयं यस्य हि नास्ति चक्षुश्चक्षुर्न तस्यास्ति सचक्षुषोऽपि"
—सौन्दरनन्द १८।३

७० "अप्रमादसे ही इन्द्र देवताओंमें श्रेष्ठ बना"—धम्मपद, २।१०

और वे कुछ नहीं बोले। तब अपने चित्तसे उनके चित्तोंमें प्रवेशकर, साधु (=कृती) अनिरुद्धने ये वचन कहे :—

७७ "हवाका बहना बन्द हो जाय, सूरज सीतल हो जाय और चाँद गर्म, तो भी जगत्‌में चार सत्योंको मिथ्या प्रमाणित करना शक्य नहीं।

७८ जिसे दुःख कहा गया है वह सुख नहीं; दुःखके कारणको छोड़कर दुःख पैदा करनेवाला दूसरा कुछ नहीं; कारणका निरोध होनेसे मुक्ति अवश्य होती है और (निरोध-) मार्ग ही उपाय है।

७९ इसलिए, हे महात्मन्, चार सत्योंके बारेमें शिष्योंको कुछ संशय नहीं है; किंतु जिन्होंने अपना लक्ष्य सिद्ध नहीं किया है वे यह सोचकर दुःखी हो रहे हैं कि विनायक जा रहे हैं।

८० इस सभामें, जिसने नये व्रत (नई दीक्षा) के कारण अपने लक्ष्यको नहीं देखा था, वह भी आज आपके इस उपदेशसे अपने सम्पूर्ण लक्ष्यको वैसे ही देख रहा है जैसे कि बिजलीकी चमक में (देख रहा हो)।

८१ किंतु वे भी, जिन्हें कुछ भी करना शेष नहीं है और जो भवसागरके उस पार चले गये हैं, यह सुनकर हृदयसे चिन्तित हो रहे हैं कि पूर्ण शास्ता विदा हो रहे हैं।"

८२ आर्य अनिरुद्धके ये वचन सुनकर बुद्धने, असलियतको जानते हुए भी, इसे फिरसे सुना और अपने शिष्योंके चित्त दृढ़ करनेके लिए उनसे स्नेहपूर्वक कहा :—

८३ "युगपर्यन्त रहनेपर भी प्राणीका विनाश होता ही है, इसलिए पारलौकिक संयोग या मिलन जैसी कोई (स्थायी) वस्तु नहीं है। मैंने अपना और दूसरोंका काम पूरा कर लिया है, अब और जीवित रहनेमें कोई लाभ नहीं।

८४ स्वर्गमें और पृथ्वीपर जिन्हें दीक्षित करना था वे सब बचाये गये और मार्गपर लाये गये (स्रोत-आपन्न किये गये)। इसके बाद मेरा यह धर्म भिक्षुओंकी वंश-परम्परासे मनुष्योंके बीच रहेगा।

८५ जगत्‌के वास्तविक स्वभावको पहचानो और चिन्तित मत होओ; क्योंकि वियोग अवश्यम्भावी है। संसारको ऐसा जानकर वैसा यत्न करो जिससे

यह फिर कभी न हो।

८६ जब ज्ञानरूपी प्रदीपसे अन्धकारमें प्रकाश हो जाता है और भवोंको असार देख लिया जाता है, तब आयुका निरोध होनेपर वैसे ही संतोष होता है, जैसे कि रोगोंके दूर होनेपर।

८७ जब द्वन्द्वों सहित छूटनेवाले शरीर नामक भव-सागरकी धारा कट रही हो, तब जीवनका अन्त होने पर, जैसे कि विपत्ति-प्रद शत्रुओंका नाश होनेपर, किसे आनन्द न होगा ?

८८ सब चराचरका विनाश होता है, अतः जागरूक रहो; मेरी निर्वाण-प्राप्तिका समय आ गया है। विलाप मत करो; ये मेरे अन्तिम वचन हैं।"

८९ तब वह श्रेष्ठ ध्यानज्ञ उस समय प्रथम ध्यानमें प्रविष्ट हुए और उससे निकलकर दूसरेमें, और इसी तरह उचित क्रमसे वह किसीको छोड़े विना सब (ध्यानों) में प्रविष्ट हुए।

९० तब सब ध्यानोंसे, नौ समापत्तियोंसे ऊर्ध्व (अनुलोम) क्रमसे निकलकर, महामुनि फिर निम्न (प्रतिलोम) क्रमसे प्रथम ध्यानमें लौट आये।

९१ उससे भी निकलकर वह उचित क्रमसे चतुर्थ ध्यानमें आये और चतुर्थ ध्यानसे निकलकर वह अनन्त शान्ति अनुभव करनेको चले गये।

९२ तब मुनिका परिनिर्वाण होनेपर, तूफानसे प्रतिहत नौकाके समान पृथ्वी काँप उठी, और आकाशसे उल्काएँ गिरीं, जैसे दिग्गजों द्वारा फेंकी गई हों।

९३ जलावन और धुएँसे रहित आग, हवासे प्रेरित हुए विना ही दिशाओंको जलाने लगी, जैसे दिव्य चित्ररथ वनको जलानेके लिए आकाशमें दावानल उठा हो।

९४ भयङ्कर वज्र, शत शत अङ्गारोंसे आग उगलते हुए, गिरने लगे, जैसे युद्धमें असुरोंको जीतनेके लिए इन्द्रदेव क्रोधपूर्वक उन्हें (वज्रोंको) फेंक रहा हो।

९५ धूल-भरी हवा लताओंको टुकड़े-टुकड़े करती हुई जोरोंसे बही, और

---

९५ इसका उत्तरार्द्ध चीनी अनुवादसे लिया गया है।

क्रुद्ध झंझावातसे आहत हुए पर्वतोंकी चोटियाँ गिर पड़ीं।

९६ चाँदका प्रकाश क्षीण हुआ और यह अपनी निष्प्रभ किरणोंसे वैसे ही शोभित हुआ, जैसे पङ्किल जलसे लिप्त राजहंस, जिसका शरीर छोटे छोटे बेतों (या नरकटों)से घिरा हो।

९७ यद्यपि आकाश अनभ्र था और चाँद उगा हुआ था, तो भी अपवित्र अंधकार चारों ओर फैल गया था। और उस समय नदियोंका जल मानो शोकसे खौल रहा था।

९८ तब समीपवर्त्ती शाल-वृक्षोंने झुककर असमयके सुन्दर फूल बुद्धके शरीरपर·········बरसाये।

९९ आकाशमें पाँच शिरवाले नाग निश्चल खड़े रहे, वे मुनिको भक्ति-पूर्वक देख रहे थे, उनकी आँखें शोकसे लाल थीं, उनके फन बन्द थे, और उनके शरीर नियंत्रित थे!

*१०० मानसिक पीड़ाके कारण उन्होंने गर्म निश्वास छोड़े, किंतु यह सोचकर कि जगत् स्वभावतः अनित्य है, उन्हें शोकसे विरति एवं जगत्से घृणा हो गई।

१०१ दिव्य लोकमें नैष्ठिक धर्मके आचरणमें रत राजा वैश्रवणकी धर्म-सभाने धर्ममें आसक्ति होनेके कारण न शोक किया न आँसू बहाये।

१०२ पवित्र (= कृती) शुद्धाधिवास देवगण, यद्यपि वे महामुनिका अत्यन्त सम्मान करते थे, शान्त रहे और मनमें क्षुब्ध नहीं हुए; क्योंकि उन्हें जगत्के स्वभावसे घृणा थी।

१०३ सद्धर्ममें आनन्द पानेवाले देवगण, गन्धर्व-राज, नाग-राज और यक्ष अत्यन्त शोक-मग्न और व्याकुल होकर आकाशमें खड़े रहे।

१०४ किंतु, मारकी हार्दिक अभिलाषा पूरी हुई, उसके दलने आनन्दमें आकर अट्टहास किया, उछल-कूद की, साँपोंके समान फूत्कार किया, नृत्य किया और बड़े बड़े मृदङ्ग एवं पटह बजाये।

१०५ तब ऋषि-ऋषभ (बुद्ध)के उस पार चले जानेपर संसार उस पर्वतके समान दिखाई पड़ा, जिसकी चोटी वज्रसे कट गई हो, या उस उदास

हाथीके समान जिसका मद बन्द हो गया हो, या उस वृषभके समान जिसका ककुद नष्ट हो गया हो।

१०६ उन जन्म-विनाशकको खोकर, संसार वैसे ही दिखाई पड़ा जैसे कि विना चाँदका आकाश, या हिमसे सूखे कमलोंका सरोवर या धनके अभावसे निष्फल हुई विद्या (दिखाई पड़े)।

बुद्धचरित महाकाव्यका "महापरिनिर्वाण" नामक छब्बीसवाँ सर्ग समाप्त।

सत्ताईसवाँ सर्ग

निर्वाणकी प्रशंसा

१ तब किसी बड़े देवताने ··· ··· विमानसे अपना शिर कुछ बाहर झुकाकर सर्वज्ञकी ओर एक क्षण तक देखा और कहा:—

२ "अहो! सब जीव अनित्य हैं और जन्म एवं विनाशके नियमके अधीन हैं, जो जन्म लेते हैं उनके भाग्यमें दुःख है। इस प्रकार शान्ति उसी शान्तिसे मिलती है, जो अपने पीछे कुछ छोड़ नहीं जाती।

३ जैसे कि जल अग्निको शान्त करता है वैसे ही कालरूपी जलको तथागतरूपी अग्नि शान्त करनी पड़ी, जिसकी ज्वाला ज्ञान है, जिसका धुआँ यश है, और जिसने जन्मरूपी इन्धनको निःशेष जला डाला है।"

४ तब श्रेष्ठ ऋषिके समान दिखाई पड़नेवाले दूसरे ऋषिने, जो स्वर्गमें रहते हुए भी उसके उपभोगोंसे आकृष्ट नहीं हुआ, अर्हत् ऋषिकी ओर देखा, जिन्होंने शान्ति प्राप्त कर ली थी; और गिरिराजके समान धैर्य धारण करते हुए, उसने ये वचन कहे:—

५ "इस संसारमें एसा कुछ नहीं जो नाशको नहीं प्राप्त होता है, जो नाशको नहीं प्राप्त हुआ और जो नाशको नहीं प्राप्त होगा, यह देखकर कि अनुपम गुरु, जिन्होंने परम ज्ञान प्राप्त किया था और जो उत्तम लक्ष्य (=परमार्थ) को जानते थे, शान्तिको प्राप्त हुए।

६ जीवलोक, जिसकी आँखें मोहसे अवश्य ही अन्धी हो गई हैं, इन

नेतासे वञ्चित हुआ, जिनकी प्रज्ञा विशुद्ध थी और जिन्हें उत्तम दृष्टि प्राप्त थी ; और होश खोकर यह लोक कुमार्गमें स्थित है।"

७ तब मुनिका निर्वाण होनेपर अनिरुद्धने, जिसने संसारको जीत लिया था, जिसकी आसक्ति नष्ट हो गई थी और जिसने जन्म-निरोध कर लिया था, जगत्को प्रकाशसे वञ्चित हुआ देखकर, शान्तिपूर्वक यों कहा:—

८ "संस्कारोंके अधीन रहनेवाले बुद्धिमान् मनुष्यको इस समय विश्वास नहीं करना चाहिए, जब कि ऋषिरूपी महापर्वतपर अनित्यता रूपी वज्रके गिरनेसे चोट पड़ी है।

९ अहो ! इस असार अनात्म एवं विनाशधर्मा जगत्को जीवलोक कहते हैं, जिसमें मुनि—दुर्धर्ष सिंह—दोषरूपी हाथियोंको नष्ट करके स्वयं नाशको प्राप्त हुए।

१० जगत् सदा कर्मशील और कामासक्त है ; अब किसका हाथ सुरक्षा प्रदान करेगा, जब कि तथागत भी साधारण भाग्यके अधीन होकर सुवर्ण-स्तम्भके समान गिर पड़े ?

११ मुनिरूपी हाथीने दोषरूपी वृक्षको—जिसके बीज छः हैं, अंकुर एक, बलि एक, मूल छः, फल पाँच, शाखाएँ दो,⋯ ⋯, और तना एक—उखाड़ डाला ; तो भी वह यहाँ पड़े हुए हैं।

१२ सम्राट्के समान सभी शत्रुओंको जीतकर, ग्रीष्म ऋतुमें मोरके समान आसक्ति-रहित होकर, घोड़ेके समान अपनी यात्रा पूरी कर, (इन्धन-रहित) अग्निके समान जन्म-मुक्त होकर, मुनि शान्तिको प्राप्त हुए।

१३ जैसे कि वज्र-चालक स्वर्ग-पति प्रसन्न होकर तृप्ति-कर जल-धाराएँ भेजता है, वैसे ही गुरुने अपने उपदेश भेजे और प्रखर दीप्तिसे पीड़ित वृषभके समान पृथ्वीपर घूमते हुए उन्होंने अपने यशसे दिशाओंको व्याप्त किया; तो भी वह यहाँ पड़े हुए हैं।

१४ वह नर-सूर्य द्रविण-पति वैश्रवणके दलसे परिवृत होकर अपने मार्गपर चले, और उन यशस्वी एवं तेजस्वीने नदी (=सिन्धु) के समान सुवर्ण-राशि दी, तो भी उनका अस्त हुआ।

१५ आज मुनिका निर्वाण होनेपर जगत् वैसे ही निष्प्रभ है जैसे कि कुहासेसे भरी दिशाएँ, जैसे कि सूरज जिसकी किरणें बादलोंसे कट रही हों, जैसे कि आहुति पूरी होनेपर घी-रहित आग।

१६ कुटिलता (=ग्रन्थि)-रहित होकर उन्होंने सत्यका (सीधा) मार्ग ग्रहण किया और बन्धन (=ग्रन्थि)-रहित होकर उन्होंने शम-धर्म प्राप्त किया। ऋद्धिद्वारा जीवन-धारण करनेमें समर्थ होनेपर भी उन्होंने शरीर नामक दुःख-निवासका परित्याग किया।

१७ जैसे सूर्य अन्धकारको दूर करता है, वैसे ही अज्ञानको जीतकर और जैसे जल-धारा धूलको शान्त करती है, वैसे ही कामको शान्तकर, मुनि...... चले गये, घूमते हुए दुःख-चक्रमें फिर कभी लौटनेको नहीं।

१८ जन्मरूपी दुःखको नष्ट करनेके लिए उनका जन्म हुआ था, शान्तिके लिए जगत् उनकी शरणमें आया, वह उज्ज्वल तेजसे चमके और उन्होंने विशिष्ट बुद्धिसे प्रकाशित किया।

१९ उन्होंने लोगोंको श्रेयकी ओर भेजा, उन्होंने पृथ्वीको अपने उत्तम गुणोंसे व्याप्त किया, उनके यशमें वृद्धि हुई।

२० अपनी विपुल विद्याके कारण वह निंदा सुनकर उदास नहीं होते थे, वह दुखियोंसे दयापूर्वक बोलते थे, वह दूषित भोजन ग्रहण नहीं करते थे और अच्छा भोजन पाकर उन्हें आनन्द नहीं होता था।

२१ वह अपनी चंचल इन्द्रियोंको शान्त रखते थे और अपनी मानसिक शक्ति (इच्छा-शक्ति) के कारण ठीक ही विषयासक्त नहीं होते थे। दूसरों द्वारा अप्राप्त मार्गको पाकर उन रसज्ञने नैष्कर्म्य-रसका आस्वादन किया।

२२ उन्होंने वह दिया, जो पहले किसी मनुष्यने नहीं दिया था और उनके दान, फलकी इच्छासे प्रेरित नहीं होते थे; उन्होंने अविचल चित्तसे राज्य छोड़ा और अपने गुणोंसे सज्जनोंके चित्त आकृष्ट किये।

२३ उन्होंने दृढ़तापूर्वक अपनी चंचल आँखोंकी रक्षा की। वह सदाचार द्वारा अपने चित्तकी रक्षा किया करते थे। उन्होंने श्रेयकी रक्षा एवं वृद्धि की।

---

१९ अर्थ अनिश्चित है।

उन्हें किसी उत्पन्न धर्म (वस्तु)की अभिलाषा नहीं हुई।

२४ बुरे कर्मोंको बुरा समझकर उन्होंने छोड़ दिया और श्रेय द्वारा दोषरूपी शत्रुओंसे अपनेको मुक्त किया। उन्होंने बुद्धिद्वारा पापोंको सर्वथा उन्मूलित किया, तो भी वह (मुनि), अनार्य अनित्यताके वशीभूत हुए।

२५ उन्होंने ठीक-ठीक धर्मका पालन किया और आनन्दपूर्वक उत्तम निश्चय ग्रहण किये; तो भी वह शास्ता, जिन्हें ज्ञानका खजाना था, उस अग्निके समान शान्त हो गये, जिसका इन्धनरूपी कोष समाप्त (उपभुक्त) हो गया हो।

२६ गुरु वहाँ पड़े हुए हैं, जिन्होंने आठके बारेमें पाँचके समूहको अच्छी तरह जीता, जिन्होंने तीनको देखा, जिन्होंने त्रिविध आचरणका अन्त किया, जिन्हें त्रिविधि दृष्टि थी, जिन्होंने एककी रक्षाकी, जिन्होंने एकको प्राप्त किया, जिन्होंने एकका चिन्तन किया, जिन्होंने सात भारी चीजों (= गुरूणि ?)का परित्याग किया।

२७ उन्होंने शान्तिके लिए मार्गको प्रकाशित किया और कृपापूर्वक सज्जनोंको श्रद्धावान् बनाया। उन्होंने पापरूपी वृक्षोंको काटा और श्रद्धावानोंको भवोंसे मुक्त किया।

२८ अपने वचनामृतसे उन्होंने जगत्को खूब तृप्त किया और क्षमाद्वारा क्रोधको जीता। उन्होंने अपनी शिष्यमण्डलीको श्रेयमें रमाया और श्रेय चाहनेवालोंको सूक्ष्म परीक्षणमें लगाया।

२९ उन्होंने सज्जनोंके भीतर धर्माङ्कुर उत्पन्न किया और वह उन्हें आर्य-मार्गपर ले आये, जिसका सार है "कारण"; यद्यपि उन्होंने अनार्योंको लोकोत्तर तरीकेसे नहीं सिखाया तो भी उन्हें सद्धर्मके अतिरिक्त दूसरे मार्गपर नहीं स्थापित किया।

३० काशीमें उन्होंने धर्म-चक्र-प्रवर्त्तन किया और अपने ज्ञानद्वारा जगत्को संतोषका दान दिया; जिन्हें दीक्षित करना था उनसे उन्होंने धर्माचरण कराया और हमारे हितके लिए हमें सुख दिया।

३१ दूसरोंको उन्होंने अदृष्टपूर्व तत्त्वका दर्शन कराया और धर्मपर

चलनेवालोंको उन्होंने गुणोंसे युक्त किया। दूसरे दर्शनोंका खण्डनकर, युक्तिद्वारा उन्होंने लोगोंको दुर्बोध अर्थका बोध कराया।

३२ सब कुछ अनित्य और अनात्म है, ऐसा उपदेश देकर और भवोंमें कुछ भी सुख नहीं है, ऐसा बतलाकर उन्होंने अपनी यश-पताका ऊँची उठाई और अभिमानके ऊँचे स्तम्भोंको उलट दिया।

३३ निन्दासे उनके चित्तमें क्षोभ नहीं हुआ और किसी भी बातमें उन्हें सांसारिक प्रवृत्तिकी इच्छा नहीं हुई.........।

३४ स्वयं पार होकर उन्होंने डूबते हुए लोगोंको पार किया; स्वयं शान्ति प्राप्तकर उन्हें शान्ति दी, जो क्षुब्ध थे; स्वयं मुक्त होकर उन्हें मुक्त किया जो बँधे हुए थे; स्वयं प्रकाश पाकर दूसरोंके मोहान्धकारको प्रकाशित किया।

३५ न्याय एवं अन्यायको जाननेवाले महामुनि जगत्को सदुपदेशसे अनुगृहीत कर चले गये, जैसे कि आपत्कालमें, जब कि जीव अन्याय-मार्गपर चलते हैं और उसीमें प्रसन्न रहते हैं, धर्म चला जाता है!

३६ संसार की दृष्टियों (मतों)को जीतकर भी, वह सजल मेघके समान, पहाड़परके जंगलके समान, गौरवशाली वृद्ध पुरुषके समान और दीप्तिमान् युवकके समान, संसारकी दृष्टिको आकृष्ट करते हुए चले।

३७ ......वह परम शान्तिके मार्गपर चले, और श्रद्धावान् जगत्, जिसने उन्हें शान्ति प्राप्त करते देखा, आज उस स्नेही मनुष्यके समान है जो पितृ-विहीन हो गया हो।

३८ मार भी, जिसने अपने दल-बलके साथ मुनिको नष्ट करनेके लिए प्रचण्ड क्रोध किया था, उनका मुकाबला न कर सका; तो भी उन्हें नष्ट करनेके लिए प्रचण्ड क्रोध करनेवाला मार आज मौतसे मिलकर उन्हें गिरानेमें समर्थ हुआ।

३९ सब जीव जिनके लिए भव-चक्रका भय अब तक दूर नहीं हुआ है, देवताओंके साथ एकत्र हुए हैं और दुःखसे अभिभूत हैं; क्योंकि शोकके परे जो उत्तम मार्ग है, वह उन्हें प्राप्त नहीं हुआ है।

४० सब जीवोंको आलोकित करते हुए उन्होंने जगत्को ऐसे देखा, जैसे

दर्पणमें प्रतिविम्बित हो और अपनी दिव्य श्रवण-शक्तिसे उन्होंने दूर एवं निकटके, स्वर्ग तकके भी, सब शब्द सुने।

४१ वह आकाशके नक्षत्र-प्रासादपर चढ़े, पृथ्वीमें विना किसी बाधाके प्रविष्ट हुए, पानीपर विना डूबे हुए चले और अपने शरीरसे उन्होंने विविध रूप पैदा किये।

४२ उन्हें अपने बहुत-से (पूर्व-) जन्म याद थे, जैसे कि यात्रीको मार्गके विविध विश्राम-स्थल याद रहते हैं और उन्होंने अपने चित्तसे दूसरोंके मानसिक व्यापारोंको (= मनः प्रचारान्) जाना, जो इन्द्रियोंकी बोध-शक्तिके क्षेत्रसे परे हैं (अर्थात् इन्द्रियों द्वारा नहीं जाने जा सकते)।

४३ वह सबके साथ समान व्यवहार करते थे और सर्वज्ञ थे, उन्होंने सब आस्रवों (चित्त-मलों) को काट डाला और सब कार्यको पूरा किया, ज्ञान-द्वारा उन्होंने दोषोंको छोड़ा और ज्ञान-तत्त्व प्राप्त किया, तो भी वह यहाँ पड़े हुए हैं।

४४ उन्होंने उन लोगोंको दीक्षित किया, जिनके चित्त पटु थे और मन्द चित्तोंको धीरे-धीरे पटुताकी ओर प्रेरित किया। धर्म-ज्ञान-द्वारा उन्होंने उन लोगोंसे पाप छुड़वाया। अब अमृत प्राप्त करनेका धर्म कौन बतायेगा?

४५ उत्पीड़ित एवं निराश जगत्की शान्तिके लिए कौन धर्म प्रदान करेगा? अपना कार्य पूरा कर कौन दयालु दूसरोंका दोष-जाल काटेगा?

४६ भवचक्रके महासागरमें डूबे हुए जगत्की शान्तिके लिए उत्तम ज्ञान कौन बतायेगा? अज्ञान-मग्न संसारके सुखके लिए उत्तम ज्ञान कौन बतायेगा?

४७ उन सर्वज्ञके विना यह संसार, प्रकाश-रहित दिवाकरके समान है या प्रवाह-रहित नदी (= सिन्धु) के समान या उस राजाके समान, जिसका राज्य नष्ट हो गया हो।

४८ उन नर-श्रेष्ठके विना यह संसार बुद्धि-रहित विद्याके समान, विवेक-रहित परीक्षणके समान, प्रताप-रहित राजाके समान, क्षमा-रहित धर्मके समान, होकर भी नहीं है।

४०-४३:—४०-४२ में अभिज्ञाओंका वर्णन है और ४३ में आस्रवक्षयज्ञानका; विशेष विवरणके लिए देखिए—अभिधर्मकोष ७।४२

४९ सुगतको खोकर संसार, सारथिद्वारा परित्यक्त रथके समान, या कर्णधारद्वारा परित्यक्त नावके समान या सेनापतिद्वारा परित्यक्त सेनाके समान, या नायकद्वारा परित्यक्त काफिले (= सार्थ) के समान, या वैद्यद्वारा परित्यक्त रोगीके समान है।

५० आज निर्वाण चाहनेवालोंका दुःख वैसे ही है जैसे कि शरद् ऋतुमें विना बादलका आसमान जो चाँदसे सूना हो, जैसे कि आकाश जिसमें हवा नहीं बह रही हो, जैसे कि उन लोगोंका दुःख जो जीवित रहना चाहते हों (किंतु मर रहे हों)।"

५१ यद्यपि वह अर्हत् था, जिसने अपना अच्छा काम पूरा कर लिया था, तो भी जन्म (जीवन, संसार) की बुराइयाँ तथा गुरु के गुणों के बारे में उसने बहुत कुछ कहा; क्योंकि वह गुरुके प्रति कृतज्ञ था।

५२ जो निष्काम नहीं हुए थे उन्होंने आँसू बहाये और भिक्षुओंने धैर्य खोकर शोक किया; किंतु जिनका (भव-) चक्र पूरा हो गया था उन्होंने सोचा कि जगत् मरणशील (व्ययधर्मा, नाशवान्) है और वे आत्मसंयमसे विचलित नहीं हुए।

५३ तब समाचार सुनकर, मल्ल लोग विपत्तिके बोझसे दबे हुए यथा-समय तेजीसे निकल आये और बाजकी शक्तिसे अभिभूत बगलोंके समान वे कष्टपूर्वक बोले, "हा ! त्राता !"

५४ जब उन्होंने मुनिको प्रकाश-रहित सूर्यके समान वहाँ पड़ा हुआ देखा, तब मनके महा-अन्धकारके कारण वे रोये और भक्ति-वश ऊँचे स्वरसे उन्होंने विलाप किया, जैसे सिंहके द्वारा गवांपतिके मारे जानेपर गाय-बैल (रोते बिलखते हैं)।

५५ धर्म-गुरुका निर्वाण होनेपर जिन लोगोंकी आँखें आँसुओंसे अभिभूत थीं और जो लोग अपने अपने विश्वास (पंथ) एवं स्वभावके अनुसार शोक कर रहे थे, उनमें एक अत्यन्त तेजस्वी एवं धर्म-रत पुरुष था; उसने ये वचन कहे:—

५६ "जिन्होंने सोये हुए जगत् (जीव-लोक)को जगाया, वह अब

अन्तिम शय्यापर पड़े हुए हैं। धर्मकी मूर्ति, यह पताका, गिरी हुई है, जैसे कि उत्सवका अन्त होनेपर इन्द्रकी पताका (गिर पड़ती है)।

५७ तथागतरूपी सूर्यने बुद्धत्वरूपी तेजसे, उद्योगरूपी गर्मीसे, और ज्ञान-रूपी सहस्र किरणोंसे, अज्ञानरूपी अन्धकारको दूर किया; अब अस्त होकर इस (सूर्य)ने संसारमें फिर अंधकार फैला दिया।

५८ अब जगत्का नेत्र निष्ठुरतापूर्वक बन्द हो गया, जिसने अतीत अनागत और वर्तमानको देखा; बाँध निष्ठुरतापूर्वक टूट गया, जिसने दुःख रूपी महासागरकी ... तरंगोंसे हमें बचाया।"

५९ इस तरह वहाँ कुछ लोगोंने दीनतापूर्वक विलाप किया, दूसरोंने रथके घोड़ोंके समान झुककर शोक किया, कुछ लोग रोये, दूसरे भूमिपर पड़ रहे। प्रत्येक आदमीने अपने स्वभावके अनुसार आचरण किया।

६० तब रोते हुए मल्लोंने बड़े बड़े हाथियोंकी सूड़ोंके सदृश भुजाओंसे मुनिको यथासमय एक नई बहुमूल्य एव सुवर्ण-खचित पालकी (=शिविका) पर रक्खा।

६१ तब समयोचित विधिसे उन्होंने भाँति भाँतिकी मनोहर मालाओं एवं अति उत्तम सुगंधोंसे उनका सम्मान किया और फिर स्नेह एव भक्तिसे उन सबने पालकी पकड़ी।

६२ तब कोमलाङ्गी कुमारियोंने, जिनके नूपुर बज रहे थे, अपने ताम्र-वर्ण हाथोंसे उस (पालकी)के ऊपर एक बहुमूल्य वितान धारण किया, जो बिजलीकी चमकसे उज्ज्वल बादलके समान जान पड़ा।

६३ उसी प्रकार कुछ लोगोंने श्वेत मालाओंसे युक्त छत्र पकड़े, और दूसरोंने सोनेसे मढ़े सफेद चँवर डुलाये।

६४ तब वृषभकी-सी लाल आँखोंवाले मल्ल पालकीको धीरे-धीरे ले जाने लगे, और श्रुति-सुखद तूर्य आकाशमें बजने लगे, जैसे वर्षा-ऋतुमें बादल गरज रहे हों।

६५ दिव्य कुसुम, कमल और भाँति-भाँतिके फूल आसमानसे गिरे,

६५ पाद २–४ की तुलना सौन्दरनन्द दो ५३ के पाद २–४ से कीजिए–

मानो दिग्गजोंसे प्रकम्पित चित्ररथ-वनके वृक्षोंद्वारा (वे फूल) गिराये गये हों।

ꣳ ६६ ऐरावतसे उत्पन्न बड़े-बड़े हाथियोंने मणिमय भीतरी भागवाले कमल और जल-कण-वर्षी······मन्दारव फूल बरसाये।

ꣳ ६७ तब गन्धर्वोंकी रानियोंने, जिनके शरीर आनन्द-मुहूर्तके लिए उत्पन्न हुए थे, लाल चन्दनको मिटाकर, श्वेत वस्त्र फेंके, जो लीलापूर्वक सजाये गये थे।

६८ चंचल पताकाओंको ऊपर उठाये हुए और सब प्रकारकी मालाएँ चारो ओर बिखेरते हुए, वे पालकी (=शिविका)को मंगलके लिए (=शिवाय) मंगलमय (= शिवेन) मार्गसे संगीतके साथ-साथ ले गये।

६९ मुनिकी दिव्य (पारमार्थिक) शक्तिके कारण सौ-सौ बार प्रणाम करते हुए और उनकी मृत्युपर रोते हुए, मल्लोंने भक्तिपूर्वक पालकी ढोई और इस प्रकार इसे वे नगरके मध्य भागसे ले गये।

७० नाग-द्वारसे बाहर होकर उन्होंने हिरण्यवती नामक नदी पार की और मुकुट नामक चैत्यके नीचे उन्होंने उनके यशके अनुरूप एक चिता बनाई।

७१ तब उन्होंने चिताके ऊपर सुगन्धित वल्कलों, पत्तों, अगुरु, चन्दन और एलगजका ढेर लगा दिया और शोकसे साँपोंके समान लम्बी साँसें लेते हुए, चंचल आँखोंसे मुनिके शरीरको उसपर रख दिया।

७२ तब यद्यपि उन्होंने प्रज्वलित दीपको तीन बार उसमें लगाया, तो भी महामुनिकी चितामें आग नहीं लगी, जैसे क्लीव राजा की,······, राज्य-लक्ष्मी अग्नि ग्रहण नहीं करती है।

७३ काश्यप, विशुद्ध चित्तसे भावना करते हुए, मार्ग होकर आ रहा था और भगवान्के पवित्र अवशेषोंको देखनेकी उसकी इच्छा-शक्ति के ही कारण आग नहीं लगी।

७४ तब उस समय गुरूको देखनेकी इच्छासे शिष्य शीघ्र ही आ गया

"··········पुष्पवर्षं पपात खात्।
दिग्वारणकराधूताद्वनाच्चैत्ररथादिव ॥"

७१ एलगज = इलायची या दालचीनी।

और जैसे ही उसने मुनिवरको प्रणाम किया कि अग्नि स्वयं प्रदीप्त हो उठी।

७५ अग्निने मुनिके शरीरके चर्म, मांस, बाल और अवयवोंको, जो पापोंसे नहीं जले थे, जला डाला; किन्तु घी और जलावनकी (पर्याप्त) मात्रा तथा हवाके रहनेपर भी यह हड्डियोंको नहीं जला सकी।

७६ तब उचित समयपर उन्होंने मृत महात्माकी हड्डियोंको उत्तम जलसे शुद्ध किया और मल्लोंके नगरमें सोनेके घड़ोंमें उन (हड्डियों) को रखकर, उन्होंने प्रशंसाके स्तोत्र गाये :—

७७ "कलशोंमें उत्कृष्ट महाधातु है, जैसे कि महापर्वतकी मणिमय धातु हो, और ये धातुएँ अग्निसे नष्ट नहीं हुई, जैसे कि स्वर्गमें देवेन्द्र (ब्रह्मा)का धातु (कल्पान्तकी अग्निसे नष्ट नहीं होता)।

७८ ये मैत्रीमय तथा कामाग्निसे नहीं जल सकने योग्य हड्डियाँ (= अस्थि) उन (तथागत या हड्डियों)की भक्तिके प्रभावसे रक्खी गई हैं, और शीतल होनेपर भी हमारे हृदयको गर्म कर रही हैं।

७९ जिन्होंने इच्छाको जीता और जो संसारमें अद्वितीय थे उनकी हड्डियाँ, उनकी पारमार्थिक शक्तिके कारण, विष्णुके (वाहन) गरुड़ द्वारा भी नहीं ढोये जा सकते, तो भी हम मानव उन्हें ढोते हैं।

८० अहो! संसारके नियमका प्रभाव निष्ठुर है और इसकी शक्तिके वशीभूत वह भी हुए, जिनकी शक्ति धर्मपर थी और इसलिए, जिनका यश सारी सृष्टिमें व्याप्त हुआ उनके ये शारीरिक अवशेष इन घड़ोंमें रक्खे जाते हैं।

८१ उनकी दीप्ति दूसरे सूर्यकी दीप्तिके समान थी और इससे उन्होंने पृथ्वीको प्रकाशित किया। उनके शरीरका रंग सुनहला था, तो भी अग्निने केवल बची हुई हड्डियोंको ही छोड़ा है।

८२ मुनिने दोषोंके बड़े बड़े पर्वतोंको विदीर्ण किया, और जब उनपर दुःख आया, तो उन्होंने धैर्य नहीं छोड़ा; उन्होंने सब दुःखका निरोध किया, तो भी अग्निने उनके शरीरको जला ही डाला।

---

७६ "घड़ों में" बहुवचन है, एकवचन होना उचित था।
७७ ब्रह्माका धातु=ब्रह्माका पद।

८३ युद्धमें मल्ल दुश्मनोंको रुलाते हैं, अपने आश्रितोंके आँसू पोछते हैं, और प्रियजनके लिए भी आँसू बहानेसे विरत रहते हैं, तो भी इस समय मार्ग पर आँसू बहाते हुए वे शोक कर रहे हैं।"

८४ अभिमान एवं बाहुबल होनेपर भी उन्होंने विलाप किया और नगरमें ऐसे प्रवेश किया, जैसे जंगलमें और वीथि-वासियों (नागरिकों) द्वारा धातुओंकी पूजा हो जानेपर, उन्होंने उनकी पूजाके लिए एक उज्ज्वल महल बनाया।

बुद्धचरित महाकाव्यका "निर्वाणकी प्रशंसा" नामक
सत्ताईसवाँ सर्ग समाप्त।

अट्ठाईसवाँ सर्ग

धातु-विभाजन

१ कुछ दिनोंतक उन लोगोंने विधिवत् समुचित रीतिसे धातुओंकी पूजा की; तब उन धातुओंको लेनेके लिए उस नगरमें सात पड़ोसी राजाओंके दूत क्रमसे आये।

२ तब यथासमय उनकी बात सुनकर मल्लोंने अभिमान-वश और धातुओंके प्रति भक्ति होनेके कारण उन्हें नहीं देनेका निश्चय किया, बल्कि युद्ध करना पसन्द किया।

३ तब उनका उत्तर जानकर सातों राजा, सात मारुतोंके समान, कुशके नामसे विख्यात उस नगरमें अत्यन्त वेगपूर्वक अपनी सेनाओंके साथ आये, जो बढ़ती हुई गंगाकी धाराके समान थीं।

४ तब उन राजाओंके घोड़ोंका शब्द सुनकर नगर-निवासी जंगलसे शीघ्रतापूर्वक नगरमें घुस गये, उनके चेहरे भयभीत थे ···।

५ तब राजाओंने दूरवर्ती वनोंमें हाथियोंको बाँधकर नगरको घेर लिया और उचित-रीतिसे व्यूह-रचना कर अच्छे मल्लोंके प्रतिकूल आचरण किया।

६ तब वह नगरी, शोकाकुल स्त्रीके समान, छतरूपी भुजाओंको ऊपर फेंककर और चँवररूपी सुन्दर एवं लम्बी पपनियोंसे द्वाररूपी आँखोंको बन्दकर,

शोक-मग्न हो गई।

७ जब सातों राजा एककार्य होकर अपने प्रतापसे चमकने लगे, तब पृथ्वी आकाशके समान भयंकर हो गई, जिसमें सातों ग्रह एक साथ एक ही समय चमक रहे हों।

८ तब स्त्रियोंकी भी नाकें मदस्रावी हाथियोंकी गंध से, उनकी आँखें हाथियोंकी सूँड़ों द्वारा उड़ाई गई धूल से, और उनके कान घोड़ों हाथियों एवं दुन्दुभियोंकी ध्वनिसे आक्रान्त हुए।

९ घेरेमें चारों ओर युद्ध ही दिखाई पड़ता था, द्वार हाथियों और घोड़ोंसे घिर गये ·········।

१० तब डरे हुए नगर-निवासियोंने साहस करके घबराहट छोड़ी और वे प्राकारोंपर एकत्र हो गये; उनकी बर्छियाँ तलवारें और तीर शत्रुओंपर बाजके समान चमक रहे थे।

११ कुछ लोग उत्तेजित होकर गरजे, वैसे ही दूसरोंने एकत्र होकर शंख फूँके। कुछ लोग इधर उधर तेजी से गए, वैसे हो दूसरोंने अपनी तेज तलवारें चमकाईं।

१२ तब मल्लोंको विजय-प्राप्तिके लिए लड़नेको तैयार तथा मल्लों (पहलवानों) के समान गरज गरजकर अपना अपना नाम बताते देखकर, उन योद्धाओंकी पत्नियोंने एक ही साथ उनके चित्त ओषधि और पुरस्कार तैयार किये।

१३ योद्धाओंकी काँपती हुई स्त्रियोंने अपने पुत्रोंको कवच पहनाये, जो युद्धके अग्रभागमें जाना चाहते थे, और उन्होंने उनके लिए मंगल-कर्म किये, उन (स्त्रियों) के मुख उदास थे और आँसू अनियंत्रित।

१४ हरिणीके समान अधोमुख अन्य स्त्रियोंने अपने अपने पतिके पास जाकर उस धनुषको पकड़ रखा, जिसे वह लेना चाहता था और रणोन्मुख वीरको देखते ही (उनके पग) रुक गये और वे न तो आगे ही गईं और न स्थिर ही खड़ी रहीं।

१५ जब राजाओंने मल्लोंको इस तरह सुसज्जित एवं घड़ेमें बन्द साँपोंके

समान युद्धके लिए निकलते देखा, तब उन्होंने युद्ध करनेका निश्चय किया।

१६ द्रोण नामक ब्राह्मणने रथ हाथी घोड़े और पैदल सेनाको उत्तेजित और युद्धके लिए पूरा तैयार (कृतसङ्कल्प) देखा, और अपनी विद्वत्ता एवं प्रेमपूर्ण दयाके कारण उसने ये वचन कहे:—

१७ "युद्धस्थलमें आप तीरोंसे शत्रुओंके क्रोध और जीवनको शान्त कर सकते हैं, किंतु किलोंमें रहनेवालोंके साथ आप आसानीसे वैसा नहीं कर सकते, उन शत्रुओंके साथ तो और भी नहीं जिनका चित्त (= कार्य) एक है।

१८ यदि आप घेरा डालकर शत्रुओंको जीत भी लें, तो क्या दृढ़चित्त होकर उन्हें उन्मूलित करना तथा निर्दोष नगर-निवासियोंको घेरेमें डालकर हानि पहुँचाना धर्मसंगत है ?

१९ जैसे कि बिलमें घुसते समय कृष्ण सर्प रास्तेमें मिलकर एक दूसरेको काटते हैं, वैसे ही घेरा डालनेसे या तो आपकी एकान्त (पूरी) जीत नहीं होगी, या जो घेरे जायँगे, उन्हींकी जीत होगी।

२० क्योंकि तुच्छ मनुष्य भी नगरके घेरेका समाचार सुननेपर उत्तेजित होकर बड़े कामके हो जायँगे, जैसे कि थोड़ी सी भी आग जलावन पाकर बढ़ जाती है।

२१ नगरमें घिरकर भी धर्मात्मा मनुष्योंने तपस्या द्वारा उन्हें पीछे हटाया, जो उनकी हत्या करने आये थे और अशक्त शस्त्रोंके होनेपर भी उन्होंने धर्म-बलसे कुश-नगरमें करन्धमको जीता।

२२ उन राजाओंको, जिन्होंने यश या राज्य (या विषय)के लिए सारी वसुधाको प्राप्त किया, इसे छोड़कर धूलमें लौट जाना पड़ा, जैसे कि पोखरसे पानी पीनेपर बैलोंको चारागाहमें लौट जाना पड़ता है।

२३ अतः धर्म और अर्थके लिए क्या जरूरी है, इसे ठीक ठीक देखकर आपको शान्तिपूर्ण उपायों (= साम)से प्रयत्न करना चाहिए; क्योंकि जो तीरों द्वारा जीते जाते हैं वे फिर प्रदीप्त हो सकते हैं; किंतु जो शान्तिपूर्ण उपायों से जीते जाते हैं उनका विचार नहीं बदलता है।

२४ यह सब आपकी शक्तिसे परे है, आपकी सेना शत्रुकी सेनाका मुका-

बला नहीं कर सकती। जिन शाक्य-मुनिका सम्मान करना आपको अभीष्ट है, उन्हींके उपदेशके अनुसार आपको सहनशीलता (क्षमा)का आचरण करना चाहिए।"

२५ यद्यपि वे राजा थे, तो भी उस भले मनुष्य ने उन्हें दृढ़तापूर्वक उपदेश दिया और ब्राह्मणोचित स्पष्टवादिता एवं प्रेमपूर्ण दयाके साथ उन्हें वास्तविक हित की बात कही। तब उन्होंने उत्तर दिया:—

२६ "आपके ये शब्द समयानुकूल और बुद्धिमत्तापूर्ण हैं और हमारी भलाईके लिए मित्रतापूर्वक कहे गये हैं; अब आपको हमारा आशय विदित हो, जिसका कारण है हमारी धर्म-रति और अपने बलका भरोसा।

२७ नियमतः मनुष्य काम या क्रोधके कारण अथवा शक्ति या मृत्यु (हिंसा?) के लिए कार्य-भार उठाते हैं; किन्तु हमने श्रद्धासे प्रेरित होकर (= साभिमानाः) केवल बुद्धका सम्मान करनेके लिए शस्त्र ग्रहण किया है।

२८ शिशुपाल और चेदियोंने ...... अहंकारवश कृष्णके साथ युद्ध किया; तब जिन्होंने अहंकारको जीता उनकी पूजा करनेके लिए क्यों न हम अपना जीवनतक संकटमें डालें?

२९ पृथ्वी पालन करनेवाले वृष्णि-अन्धक नामक राजाओंने एक कन्याके लिए युद्ध किया, तब जिन्होंने काम (-वासना)को जीता उनकी पूजा करनेके लिए क्यों न हम अपना जीवन भी संकटमें डालें?

३० भृगुके पुत्र उस क्रोधी मुनिने क्षत्रियोंको उन्मूलित करनेके लिए शस्त्र ग्रहण किया? तब जिन्होंने क्रोधको जीता उनकी पूजा करनेके लिए क्यों न हम अपना जीवन तक संकटमें डालें?

३१ दैत्य, यद्यपि वह अत्यन्त भयंकर था, सीतारूपी (सीताभिधान) मृत्युको ग्रहणकर विनाशको प्राप्त हुआ; तब जिन्होंने सब परिग्रह छोड़े उनकी पूजा करनेके लिए क्यों न हम अपना जीवन भी संकटमें डालें।

३२ उसी प्रकार एलि और पक, जिनकी पारस्परिक शत्रुता बढ़ती ही गई, (मोह-वश) नाशको प्राप्त हुए; तब जो मोहसे मुक्त थे उनका पूजा करनेके लिए क्यों न हम अपना जीवन भी खतरेमें डालें?

३३ संसारमें ये और बहुतेरे दूसरे युद्ध अनुचित कारणोंसे हुए; तब हम क्यों न लड़ें, जब कि हम बुद्धकी भक्तिसे बँधे हुए हैं और यह (युद्ध) हमारे लिए हितकारी है ?

३४ यही हमारा उद्देश्य है; आप शीघ्र हो हमारा दूत बनकर जावें और अपनी सारी शक्ति लगाकर (=सर्वात्मना) प्रयत्न करें जिससे यह उद्देश्य विना युद्ध किये ही सिद्ध हो जाय।

३५ यद्यपि हम लड़नेके लिए तैयार हैं और हमें तेज तीर हैं, तो भी धर्मानुसार कहे गये आपके वचनोंने हमें रोक लिया है, जैसे कि मन्त्र साँपोंको रोक लेते हैं जो अपने फैलते हुए विषको पी जाते हैं।"

३६ "मैं ऐसा ही करूँगा" यह कहकर ब्राह्मणने राजाओंका आदेश ग्रहण किया और नगरमें प्रवेश किया; यथासमय उसने मल्लोंसे भेंट की और उनसे मिलकर उसने उचित समयपर उनसे ये वचन कहे—

३७ "ये नृप, जिनके हाथोंमें तीर हैं और जिनके चमकीले कवच सूर्यके समान उज्ज्वल हैं, आपके इस नगरके द्वारोंपर, मांसके टुकड़ोंको चाटते हुए सिंहोंके समान, उछलनेको तैयार हैं।

३८ म्यानोंमें रखी हुई अपनी तलवारोंको तथा सुनहली पीठवाले अपने धनुषोंको देखते हुए वे युद्धकी पुकारसे नहीं डरते, किन्तु मुनिके धर्मका स्मरण करते हुए वे धर्म-विरुद्ध आचरण करनेसे डरते हैं।

३९ वे कहते हैं 'आपको हमारे उद्देश्य का आदर करना चाहिए; क्योंकि हम राज्य या सम्पत्तिके लिए नहीं, अहंकार या शत्रुतासे नहीं, किन्तु मुनिकी भक्तिवश आये हैं।

४० मुनि समान रूपसे हमारे और आपके गुरु थे; इसी कारण यह संकट आया है। इसलिए यह बन्धु-वर्ग एकत्र हुआ है और मुनिकी धातुओंकी पूजा करनेके एकमात्र उद्देश्यसे यहाँ आया है।

४१ धनकी कृपणता उतना बड़ा पाप नहीं है जितना कि धर्माचरणकी कृपणता। कृपणतापूर्वक बोलनेका निश्चय करना पाप है और पाप तो धर्मका शत्रु है ही।

४२ यदि आप देनेका निश्चय नहीं करते हैं तो किलेसे निकलकर अपने तिथियोंकी सेवा-शुश्रूषा कीजिए। जिनका बल (किलेके) फाटकोंमें है, तीरों नहीं, वे क्षत्रिय-वंशमें उत्पन्न नहीं हुए हैं।'

४३ राजाओंने यही संदेश आपको दिया है, और यह सद्भावना एवं ाहससे भरा है। मैंने भी इस विषयपर अपने मनमें स्नेहपूर्वक विचार किया है, अब मेरा वक्तव्य ध्यानपूर्वक सुनिये।

४४ दूसरोंके साथ विवाद करनेसे न सुख होता है, न धर्म; दुर्भावनाको श्रय न देकर शान्ति-मार्गका अनुसरण कीजिए। क्योंकि मुनि क्षमाका उपदेश दिया करते थे, जिससे भक्तिकी अग्नि सदा बढ़ती ही रहती है।

४५ मनुष्य, अर्थ या काम, इन दोमेंसे एकके लिए संघर्ष करते हैं, किंतु जो मनुष्य धर्मके निमित्त आर्य (साधु) हो गया है उसके लिए शम (शान्ति) और शत्रुता परस्पर-विरोधी हैं।

४६ जिन्होंने स्वयं शान्ति प्राप्त कर उदार हृदयसे सब जीवोंको करुणाका उपदेश दिया उन करुणामयकी पूजा करते हुए आप (दूसरोंको) क्लेश पहुँचायें, यह आपके सिद्धान्तके प्रतिकूल है।

४७ अतः धातुओंको देकर आप उनके साथ यश व धर्मके भागी बनें। इस प्रकार आप उनके मित्र बनेंगे और वे भी धर्म व यश प्राप्त करेंगे।

४८ हम धर्मानुयायियोंको, धर्मसे गिरे हुए लोगोंको प्रयत्नपूर्वक भी धर्मसे युक्त करना चाहिए। क्योंकि जो दूसरोंको धर्मसे युक्त करते हैं वे धर्मको चिर-स्थायी बनाते हैं।

४९ परम पवित्र मुनिने कहा है कि धर्मका दान सब दानोंसे श्रेष्ठ है (= सर्वेषामेव दानानां धर्मदानं विशिष्यते); जो कोई भी धन-दान कर सकता है, किंतु धर्मका दाता दुर्लभ है।"

५० जब उन्होंने (आचार्य) द्रोणके समान ज्ञानी ब्राह्मण (द्रोण)से विख्यात व आनन्ददायक धर्मवचन सुने, तब अत्यन्त लज्जित होकर एक-दूसरे को देखते हुए उन्होंने उस (ब्राह्मण)से कहा:—

५१ "आपका निश्चय सन्मित्रका है और ब्राह्मणोचित गुणोंसे युक्त है।

हम बुरे घोड़ोंके समान कुमार्गपर भटक रहे थे, किंतु आपने हमें सन्मार्गपर स्थापित किया।

५२ हमें अवश्य ही वैसा करना चाहिए जैसा कि आपने कहा, क्योंकि दयालु मित्रका उपदेश ग्रहण करना उचित ही है। क्योंकि जो लोग मित्रके वचनकी अवहेलना करते हैं वे पीछे विपत्तिमें पड़कर शोक करते हैं।"

५३ तब विश्व (= लोकधातु)को जाननेवाले बुद्धकी धातुओंको मल्लोंने आठ भागोंमें बाँटा और तब अपने लिए एक भाग रखकर, उन्होंने शेष सात भाग दूसरोंको दे दिये, प्रत्येकके लिए एक।

५४ मल्लोंसे इस प्रकार सम्मानित होकर राजा लोग भी, जिनका लक्ष्य सिद्ध हो गया, आनन्दपूर्वक अपने अपने देशको लौट गये। तब उन्होंने अपने अपने नगरमें मुनिकी धातुओं (को रखने)के लिए विधिवत् स्तूप बनाये।

५५ तब अपने देशमें मुनिके लिए एक स्तूप बनानेकी इच्छासे द्रोणने अपने हिस्सेमें घड़ा लिया और पिसल नामक लोगोंने भक्तिपूर्वक बची हुई राख ली।

५६ शुरूमें श्वेत पर्वतोंके समान आठ स्तूप थे, जिनके भीतर धातुएँ थीं। ब्राह्मणका घड़ावाला स्तूप नवाँ था और राखवाला दसवाँ।

५७ प्रजा-सहित राजाओंने और बच्चों-सहित ब्राह्मणोंने पृथ्वीपर मुनिके इन त्रिविध स्तूपोंकी पूजा की, जिनपर पताकाएँ फहरा रही थीं और जो कैलासकी बर्फीली चोटियोंके समान दिखाई पड़ते थे।

५८ अनेक भूपोंने स्तोत्र-गान, उत्कृष्ट सुगन्धियों, सुन्दर मालाओं और गीत-ध्वनिसे स्तूपों की, जिनमें बुद्ध (=जिन)की धातुएँ थीं, उत्तम उपासना की।

५९ तब कालक्रमसे पाँच सौ अर्हत् पाँच पर्वतोंसे चिह्नित नगरमें एकत्र हुए और फिरसे धर्मको अच्छी तरह संस्थापित (स्थिर) करनेके लिए उन्होंने

---

५५. पिसलके स्थानमें "पिप्पल" पढ़नेका सुझाव जौन्स्टनने किया है, इसलिए कि मौर्य पिप्पलवनिक थे। चीनी-अनुवादमें है "कुशिनगरके लोग"।

तके ऊपर मुनिके उपदेशोंका संग्रह किया।

६० आनन्दने ही महामुनिसे सब उपदेश सुने थे, ऐसा निश्चयकर ष्योंने संघकी सम्मतिसे उस वैदेह मुनिसे शास्त्र (=प्रवचन) दुहरानेके ए कहा।

६१ तब वह उन लोगोंके बीच बैठ गया और "मैंने ऐसा सुना है" इस रह कहते हुए तथा स्थान, प्रसंग, समय और श्रोताकी व्याख्या करते हुए, सने उपदेशोंको वैसे ही दुहराया जैसे कि वक्ता-श्रेष्ठ (बुद्ध) ने कहा था।

६२ इस प्रकार अर्हतोंके साथ उसने मुनिका धर्म-शास्त्र निश्चित किया और प्रयत्नपूर्वक इसका पूरा ज्ञान प्राप्त करनेपर ही मनुष्य दुःखके परे गये हैं, जा रहे हैं, और जायँगे।

६३ काल-क्रमसे धर्म-रत अशोकका जन्म हुआ; उसने अहंकारी शत्रुओंको शोकाकुल किया और दुःखी लोगोंका शोक दूर किया, वह फूलों और फलोंसे लदे अशोक-वृक्षके समान प्रियदर्शन था।

६४ मौर्य-वंशके उज्ज्वल गौरव अशोकने प्रजाकी भलाईके लिए सम्पूर्ण पृथ्वीपर स्तूप बनानेका कार्य आरम्भ किया और इसलिए जो चण्डाशोक कहलाता था वह धर्म-राज अशोक बन गया।

६५ उस मौर्यने मुनिकी धातुओंको, सात स्तूपोंसे जिनमें वे रक्खी गई थीं, लेकर एक ही दिनमें क्रमसे अस्सी हजार भव्य स्तूपोंके बीच बाँट दिया, जो शरदृतुके उज्ज्वल मेघोंके समान चमक उठे।

६६ रामपुरमें स्थित आठवाँ मूल स्तूप उस समय विश्वस्त नागोंसे रक्षित था और इसलिए राजाने उस (स्तूप)से धातुओंको प्राप्त नहीं किया; किन्तु इससे उन (धातुओं) में उसकी श्रद्धा बहुत बढ़ गई।

६७ चचल राज्य-लक्ष्मीकी रक्षा करते हुए भी और चित्तके लिए शत्रु-स्वरूप उपभोगोंके बीच रहते हुए भी, राजाने काषाय-वस्त्र पहने बिना ही अपने चित्तको शुद्ध किया और प्रथम फल प्राप्त किया।

६८ इस प्रकार जिस किसीने जहाँ कहीं मुनिका सम्मान (पूजा) किया है, करता है, या करेगा उसे सज्जन-सुलभ परम फल प्राप्त हुआ है

होता है या होगा।

६९ हे बुद्धिमान् मनुष्यो, विदित हो कि बुद्धके गुण ऐसे हैं कि समान मानसिक शुद्धि होनेपर, ऐहिक जीवनमें मुनिका सम्मान करनेसे या उनके परिनिर्वाणके बाद उनकी धातुओंको प्रणाम करनेसे एक ही फल प्राप्त होता है।

७० इसलिए उदारचेता करुणामय परम पूज्य मुनिकी पूजा करनी चाहिए, जो लाभप्रद, सदा-अव्यर्थ, अविकारी (अपरिवर्तनशील) परम और उत्कृष्ट धर्मके ज्ञाता थे।

७१ क्या इस जगतमें यह उचित नहीं कि कृतज्ञ बुद्धिमान् धर्मात्मा पुरुष उन्हें धन्यवाद दें जिन्होंने, मनुष्योंके आशयकी सम्यक् जानकारी रखते हुए, करुणावश, परोपकारके लिए महान् परिश्रम किया ?

७२ पृथिवीपर जरा और मरणके समान तथा स्वर्गमें वहाँसे गिरनेके समान कोई विपत्ति नहीं, यह देखते हुए कौन सज्जन उतना पूज्य है जितना कि वह जिन्होंने विश्वकी इन दो विपत्तियोंको पहचाना ?

७३ जबतक जन्म है तबतक दुःख है, और पुनर्जन्मसे मुक्तिके समान कोई सुख नहीं; कौन सज्जन उतना पूज्य है जितना कि वह जिन्होंने इस मुक्तिको प्राप्तकर संसारको दिया ?

७४ मुनि-श्रेष्ठके प्रति सम्मान-भावसे, मुनिके शास्त्रानुसार, मनुष्योंके हित व सुखके लिए, न कि विद्वत्ता या काव्य-कौशल दिखानेके लिए, यह काव्य रचा गया।

बुद्धचरित महाकाव्यका "धातु-विभाजन" नामक
अट्ठाईसवाँ सर्ग समाप्त।

भदन्त भिक्षु आचार्य महाकवि वाग्मी जगद्विख्यात
सुवर्णाक्षी-पुत्र साकेत-निवासी अश्वघोषकी यह कृति।

---

६९ "हे बुद्धिमान् मनुष्यो, विदित हो" या "बुद्धिमान् मनुष्य जानते हैं"।

अतिरिक्त टिप्पणी एवं पाठान्तर

।१० कक्षीवान् । "आसन्दीवदष्ठी……" (अष्टाध्यायी ८।२।१२) इति निपात्यते, कक्षीवानृषिः ।

।१८ अनुवाद और १३।५६ क के आधारपर कोष्ठगत 'अदृश्यरूपाश्च' रखा है ।

।२४ घ— अनुवादके आधारपर रिक्त स्थानकी पूर्ति की गई है ।

।६१ संविष्टः = सुप्तः (रघुवंश १।९५) । देवी = पार्वती । अग्निपुत्र = कार्त्तिकेय ।

२।१ पा० "जन्मजरान्तगल्य"

२।२ कृताकृत = घटिताघटित = गढ़ा हुआ और नहीं गढ़ा हुआ (चाँदी-सोना) — अमरकोष ।

२।३ पद्म = दक्षिण दिशामें स्थित दिग्गज । मण्डल = राज्य, देश, हस्तिशाला, हाथियोंका घेरा (दे० ५।२३) ।

२।७ ख—पा० "०मण्डितांगः" ।

२।२५ घ—पा० 'वनं न यायादिति' ।

२।३३ घ—'संविबभाज…' = या 'साधुओंकी सेवा की' ।

२।४४ ख—अभिध्या = लोभ । अविवक्षीत्—वह् + सन् + लुङ् ।

२।५१ 'स्वायंभुव सामवेदीय सूक्तका श्रद्धापूर्वक जप किया'—बंगला अनुवाद ।

२।५४ निपात—नि + पा + क्त । दे०—सौ० १८।३१

३।१ गीतैर्निबद्धानि काननानि = संगीतसे गूँजते हुए नगर-उद्यानोंके बारेमें; या उन उद्यानोंके बारेमें जिनके (सम्बन्धमें) गीत गाये जाते थे ।

३।९ क—पा० '०पुष्पळाजं' ।

३।२६ ग—पा० 'प्रयातुं'के स्थानमें 'प्रयान्तं' ।

३।३१ ख—पा० 'बालेन'—बालक होकर धूलमें खेला ।

३।५३ ग—'स्याद् व्यत्यासो विपर्यासो व्यत्ययश्च विपर्यये'—अमरकोष ।

३।५७ घ—पा० 'प्रियः प्रियैस्' ।

३।६० घ—पा० 'निर्ह्रादवता'।

४।१६ सम्भवतः 'काशिसुन्दरी' नाम नहीं, किन्तु विशेषण है; इसका अर्थ होगा 'काशीकी रूपवती (वेश्या)'।

४।३८ घ—धीरलीलया चेष्टितं = गम्भीरताका, स्थिर गति-विधिका।

४ ५६ क—उ + इमाः = विमाः; पा० 'किं न्विमा'?

ग—पा० 'संमत्ता'।

५।८ ख—पा० 'निवर्त्य'।

५।१९ ग—परिग्रह = घर स्वजन साथी सम्पत्ति आदि बन्धन।

५।२२ ग—पा० 'परिवर्त्य जनं'।

५।३२ ख—लक्ष्म = प्रधान, योग्य।

५।४० निदर्शित = उदाहरण और दृष्टान्त देकर समझाये जानेपर।

५।५२ शालभञ्जिका = शालवृक्ष (के काष्ठ)से बनाई गई मूर्ति।

५।५३ पा० 'मणिकुण्डलदष्टगण्डलेखम्'।

५।५५ योक्त्र = मुखका कोई आभूषण।

५।५९ 'स्पष्टं स्फुटं प्रव्यक्तमुल्बणम्'—अमरकोष।

५।६६ तदन्तरं = स्वभाव और बाह्य आभूषणका अन्तर; या सुयोग।

५।७५ पा० 'यथा तत्तुरगश्रेष्ठ'।

५।८४ क—पा० 'विकचपङ्कज०'। विकच = विकसित।
घ—पा० 'पुनरहं'।

५।८६ ग—पा० 'अकुरुत'।

६।३४ ख—पा० 'यशोधर्मभृतां वर'।

६।३७ 'उचितदर्शित्वात्' अन्तःपुर या छन्दकके लिए भी हो सकता है। शुभवस्तुओंको ही देखनेवाले या शुभ संवाद ही सुननेवाले अन्तःपुरमें। अथवा, न्यायोचितको देखनेवाला या उचित कर्म करनेवाला मैं (छन्दक)।

६।५७-५८ एनं और तं मुकुटके लिए प्रयुक्त हुआ है या असिके लिए ! ८।४८ से ज्ञात होता है मुकुटके लिए।

७।४२ ख—पा० 'सङ्कीर्णधर्मे पतितो०'; 'संङ्कीर्णधर्मा पतितो०'।

७।४३ घ—पा० 'बृहस्पतेरप्युदयावहः'।

१० बहुमानमीयुः = (उन तपस्वियोंने मनमें) उनका बड़ा सम्मान किया।

१३ रघुवंश १०।७ की व्याख्यामें मल्लिनाथ द्वारा उद्धृत।

२१ ख—'विषाद-जन्य वाष्पसे अवरुद्ध वाणीमें'। दे० २।६२ ग तथा ८।६० घ।

३९ घ—'श्रियं' = या 'राज्यलक्ष्मीको'।

५७ ग—या 'दान देनेका अभ्यासी था, माँगनेका नहीं'।

६६ ग घ—'भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः।'
—रघुवंश १४।६६।

।२१ घ—पा० 'वित्ताधिपत्यं'। विद् ज्ञाने क्त वित्तम्।

०।२ ख—धृतं च पूतं च = पोषित एवं पवित्रीकृत—बंगला अनुवाद (रथीन्द्र)

१०।२६ घ—'सहीया' यह शब्द केवल बौद्ध-साहित्यमें ही पाया जाता है।

१०।३० पा० 'स्ववंशप्रतिरूपरूपं' = अपने वंशके अनुरूप रूपको।

११।४१ ग—भावाः = पदार्थाः—सिद्धान्त कौमुदी, कृदन्त प्रकरण; और दे० बु० च० १२।२७

११।४५ ग—आसंगकाष्ठ = भारवाही दण्डकाष्ठ—बंगला अनुवाद (रथीन्द्र)

११।४९ ग घ 'मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः'—वैराग्य-शतक।

११।७० 'अव' धातुके अनेक अर्थोंको ध्यानमें रखते हुए तथा 'आर्यः'के स्थानमें 'आर्यान्' पढ़ते हुए, इस श्लोकका अर्थ यह होगा—

इन्द्रके समान रक्षा करें, आकाशके सूर्यके समान सदा प्रज्वलित हों, सद्गुणोंसे शोभित हों, इस संसारमें श्रेयको समझें, पृथ्वीका पालन करें, (दीर्घ) आयु प्राप्त करें, सज्जनों व सत्पुत्रोंको तृप्त करें, ऐश्वर्यकी वृद्धि करें; हे राजन्, अपने धर्मसे लिपटे रहें (या स्वधर्मका आचरण करें)।

१३।६० यही श्लोक परिमार्जित रूपमें भास-प्रणीत प्रतिज्ञायौगन्धरायण नामक नाटकमें आया है।

१३।१४ उत्तरार्धका यह अर्थ भी होगा—

कोई-कोई लौहचंचु पृष्ट कौओं द्वारा, जो लोहेके बने-से लगते हैं, खाये जाते हैं।

परिशिष्ट २

कुछ पारिभाषिक शब्द

(अकारादि क्रमसे)

अर्हत् = जीवन्मुक्त, मुक्त पुरुष, जिसने इस जीवनमें निर्वाण प्राप्त किया है और जो इस जीवनके बाद भी निर्वाणको ही प्राप्त होगा। (दो प्रकारके निर्वाणके लिए देखिए—बु०च० पन्द्रह ४,पा० टि०।)

अष्टाङ्गिक मार्ग = आठ अंगोंवाला मार्ग, आठ अङ्ग ये हैं—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् सङ्कल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। सम्यक् दृष्टि= यथार्थ ज्ञान, दुराचार और सदाचार को पहचान, चार आर्य सत्योंका सम्यक् ज्ञान। सम्यक् सङ्कल्प = काम-वासनासे बचे रहनेका तथा क्रोध और हिंसा न करनेका सङ्कल्प। सम्यक् वाणी = झूठ न बोलना, चुगली न करना, कठोर वचन न कहना और फजूल न बोलना। सम्यक् कर्मान्त = चोरी, व्यभिचार और प्राणि-हिंसा न करना। सम्यक् आजीविका = शस्त्र, जानवर (प्राणि), मांस, मद्य और विषका व्यापार न करना। सम्यक् व्यायाम (प्रयत्न) = अनुत्पन्न अकुशल विचारोंका उत्पादन न करना, उत्पन्न अकुशल विचारोंका नाश करना, अनुत्पन्न कुशल विचारोंका उत्पादन करना, उत्पन्न कुशल विचारोंका बढ़ाना। सम्यक् स्मृति = यथार्थ जागरूकता, कार्य करते समय यह ज्ञान रखना कि मैं अमुक कार्य कर रहा हूँ। सम्यक् समाधि = शुभ कर्मोंके करनेमें चित्तकी एकाग्रता।

आत्मवाद = आत्मदृष्टि, आत्मा नित्य है एसा मानना।

आभास्वर देव = रूपलोकको, जहाँके प्राणियोंका शरीर प्रकाशमय है, एक जाति।

आयतन = स्थान ; चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय और मन—ये आध्यात्मिक (= शरीर में) या आन्तरिक आयतन हैं; रूप, शब्द, गंध, रस, स्पर्श और धर्म—ये बाह्य आयतन हैं।

आर्य = स्रोतआपन्न, सकृदागामी, अनागामी और अर्हत्।

आर्य सत्य = दुःख, दुःख-समुदय, दुःख-निरोध तथा दुःख-निरोधकी ओर ले जानेवाला मार्ग।

आस्रव = मल, दोष; कामास्रव (भोग-सम्बन्धी इच्छारूपी मल), भवास्रव (भिन्न भिन्न लोकोंमें जन्म लेनेका लालचरूपी मल), दृष्टि-आस्रव (गलत धारणारूपी मल), तथा अविद्यास्रव।

ध्यान = चार प्रकारका—प्रथम, द्वितीय, तृतीय, और चतुर्थ। प्रथम ध्यानमें वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता, ये पाँच अङ्ग रहते हैं। दूसरेमें वितर्क और विचार नहीं रहते, शेष तीन रहते, तीसरेमें प्रीति, भी नहीं रहती, केवल अन्तिम दो रहते हैं और चौथे में सुख भी नहीं रहता, केवल उपेक्षा-सहित एकाग्रता रहती है।

नीवरण = विघ्न; नीवरण पाँच हैं—कामछन्द (विषयोंमें अनुराग), व्यापाद (क्रोध), स्त्यानमिद्ध (-आलस्य), (औद्धत्य—कौकृत्य) (उद्धतपन-पछतावा) और विचिकित्सा (संशय)।

पृथग्जन = अज्ञ, संसारी जीव। स्रोतआपन्न, सकृदागामी, अनागामी और अर्हत् ये सब आर्य जन कहलाते हैं, इनके अतिरिक्त दूसरे सब लोग पृथग्जन।

प्रज्ञा = ज्ञान, विद्या, परम ज्ञान, चित्तका सर्वोपरिय विकास।

प्रतीत्य समुत्पाद = कार्य-कारण-सम्बन्धी नियम। प्रतीत्य समुत्पादके निम्नलिखित बारह अङ्ग हैं, जिनमेंसे एकके होनेसे दूसरा होता है और एकका निरोध होनेसे दूसरेका निरोध होता है—
(१) अविद्या, (२) संस्कार, (३) विज्ञान, (४) नामरूप, (५) छः आयतन, (६) स्पर्श, (७) वेदना, (८) तृष्णा, (९) उपादान, (१०) भव, (११) जन्म, और (१२) जरा-मरण। अविद्याके होनेसे

संस्कार, संस्कारोंके होनेसे विज्ञान, विज्ञानके होनेसे नामरूप, नामरूपके होनेसे छः आयतन, छः आयतनोंके होनेसे स्पर्श, स्पर्शके होनेसे वेदना, वेदनाके होनेसे तृष्णा, तृष्णाके होनेसे उपादान, उपादानके होनेसे भव, भवके होनेसे जन्म और जन्मके होनेसे जरा-मरण होता है। अविद्याके निरोधसे संस्कारोंका निरोध, संस्कारोंके निरोधसे विज्ञान-निरोध, विज्ञानके निरोधसे नामरूप-निरोध, नामरूपके निरोधसे छः आयतनोंका निरोध, छः आयतनोंके निरोधसे स्पर्शका निरोध, स्पर्शके निरोधसे वेदनाका निरोध, वेदनाके निरोधसे तृष्णाका निरोध, तृष्णाके निरोधसे उपादानका निरोध, उपादानके निरोधसे भव-निरोध, भवके निरोधसे जन्मका निरोध और जन्मके निरोधसे जरा-मरणका निरोध होता है। प्रतीत्य-समुत्पादकी व्याख्याके लिए देखिये—बुद्धचरित चौदह ५२-८३, अभिधर्म-कोष तीन २०-२५ तथा धर्मदूत वर्ष ४ पृ० ११, वर्ष ६ पृ० २७, वर्ष ८ पृ० ४२।

बोधि-अङ्ग = सात हैं—स्मृति, धर्म-विचय (धर्म-अन्वेषण), वीर्य (उद्योग), प्रीति (हर्ष), प्रश्रब्धि (शान्ति), समाधि, और उपेक्षा।

मध्यम मार्ग = मध्यम प्रतिपद्, अष्टाङ्गिक मार्ग; तप और भोग इन दो अन्तोंको छोड़नेके कारण यह मध्यम मार्ग कहलाया।

शील = सदाचार। हिंसा-विरति, मिथ्या भाषण-विरति, चोरी से विरति, व्यभिचार-विरति और मादक-द्रव्यके सेवनसे विरति—ये पाँच शील गृहस्थ और भिक्षु दोनों के ही लिए हैं; अपराह्न-भोजन-त्याग, नृत्य-गीत-त्याग, माला आदिके शृंगारका त्याग, महार्घ शय्याका त्याग तथा सोने-चाँदीका त्याग—ये पाँच केवल भिक्षुओंके शील हैं।

संज्ञा = इन्द्रिय और विषयके एक साथ मिलने पर, अनुकूल-प्रतिकूल वेदना (= अनुभूति) के बाद "यह अमुक विषय है" इस प्रकारका जो ज्ञान होता है उसे संज्ञा कहते हैं।

समाधि = चित्तकी एकाग्रता; समाधिके दो भेद हैं, लौकिक और अलौकिक, जिन्हें क्रमशः शमथ और विदर्शना भी कहते हैं। पाँच नीवरणों अर्थात् विघ्नोंके शमनसे शमथ अर्थात् चित्तकी एकाग्रता होती है। सब धर्म

अनित्य हैं, दुखमय हैं, तथा अनात्म हैं, ऐसा ज्ञान होनेपर विदर्शना होती है।

समापत्ति = चार ध्यानोंसे ऊपरकी समाधि।

संयोजन = बन्धन। संयोजन दस हैं—(१) सत्कायदृष्टि (कायको सत् समझनेकी दृष्टि, मिथ्या दृष्टि—मृत्युके बाद अस्तित्व नहीं है ऐसा मानना या आत्मा है ऐसा मानना), (२) विचिकित्सा (सन्देह), (३) शीलव्रत-परामर्श (बाह्य आचार और व्रतोंसे कृतकृत्यता मानना), (४) काम-राग (स्थूलशरीर-धारियोंके भोगोंकी तृष्णा), (५) रूप-राग (प्रकाशमय शरीरधारियोंके भोगोंकी तृष्णा), (६) अरूप-राग (रूप-रहित देवताओंके भोगोंकी तृष्णा), (७) प्रतिघ (प्रतिहिंसा) या व्यापाद (क्रोध), (८) मान (अभिमान), (९) औद्धत्य, और (१०) अविद्या।

संवेग = वैराग्य, भय।

स्कन्ध = पाँच हैं—रूप-स्कन्ध, वेदना-स्कन्ध, संज्ञा-स्कन्ध, संस्कार-स्कन्ध, और विज्ञान-स्कन्ध।

स्रोतआपन्न = आध्यात्मिक उन्नतिके पथपर आरूढ़ व्यक्ति, जिसका अपने लक्ष्यतक पहुँचना निश्चित है। *

---

* इस सूचीके शब्दोंकी व्याख्या लिखनेमें कौशाम्बीजी, राहुलजी, आनन्दजी, बोधानन्दजी तथा वियोगी हरिजीकी कृतियोंसे सहायता ली गई है।

नामानुक्रमणी

* ऋषि, देखिये अष्टाध्यायी ८।२।१२

[१]कसया, जिला गोरखपुर, तहसील देवरिया स्टेशन, N. E. Ry.

* बुद्ध=सर्वज्ञ, सुगत, तथागत, भगवान्, जिन, दशबल, विनायक, मुनि, महामुनि, श्रीघन, शास्ता ।

† आधुनिक रुम्मिन देई, नेपाल की तराई में N. E. RY. के नौतनवाँ स्टेशन से लगभग आठ मील पश्चिम।

शब्दानुक्रमणी

शब्दानुक्रमणी

बुद्धचरित-अश्वघोष-कृत

सं॰ एवं अनु॰ सूर्यनारायण चौधरी

यह एक महाकाव्य है, जिसमें बुद्ध के सिद्धान्त और जीवन-वृत्तान्त हैं। यह एक उत्तम काव्य है, कलाकार की कृति है। इसमें विषय का प्रतिपादन सुन्दर और सुव्यवस्थित ढ़ग से हुआ है। दृश्य वर्णन सजीव और प्रभावोत्पादक है। इससे भी बढ़कर इसमें सन्मार्ग से भटके हुए लोगों के लिए कल्याणकारी संदेश है। कवि के शब्दों में ही "मनुष्यों के हित व सुख के लिए, न कि विद्वत्ता या काव्य-कौशल दिखाने के लिए यह काव्य रचा गया"। निस्सन्देह यह ग्रन्थ धन के पीछे उन्मत्त जगत् के लिए औषधि है, विषय-सेवन के चिन्तन से आकुल लोगों के लिए सदुपदेश है और तृष्णा से दग्ध-संसार के लिए संतोष-जल का झरना है। वास्तव में संस्कृत या पालि में बुद्ध की ऐसी सुन्दर जीवनी दूसरी देखने में नहीं आती। किसी भी भारतीय भाषा में बुद्धचरित का यह प्रथम अनुवाद है।

MLBD

E-mail: mlbd@mlbd.in
Website: www.mlbd.in

₹ 350

Buddhism/Literature

ISBN 978-93-90064-19-9